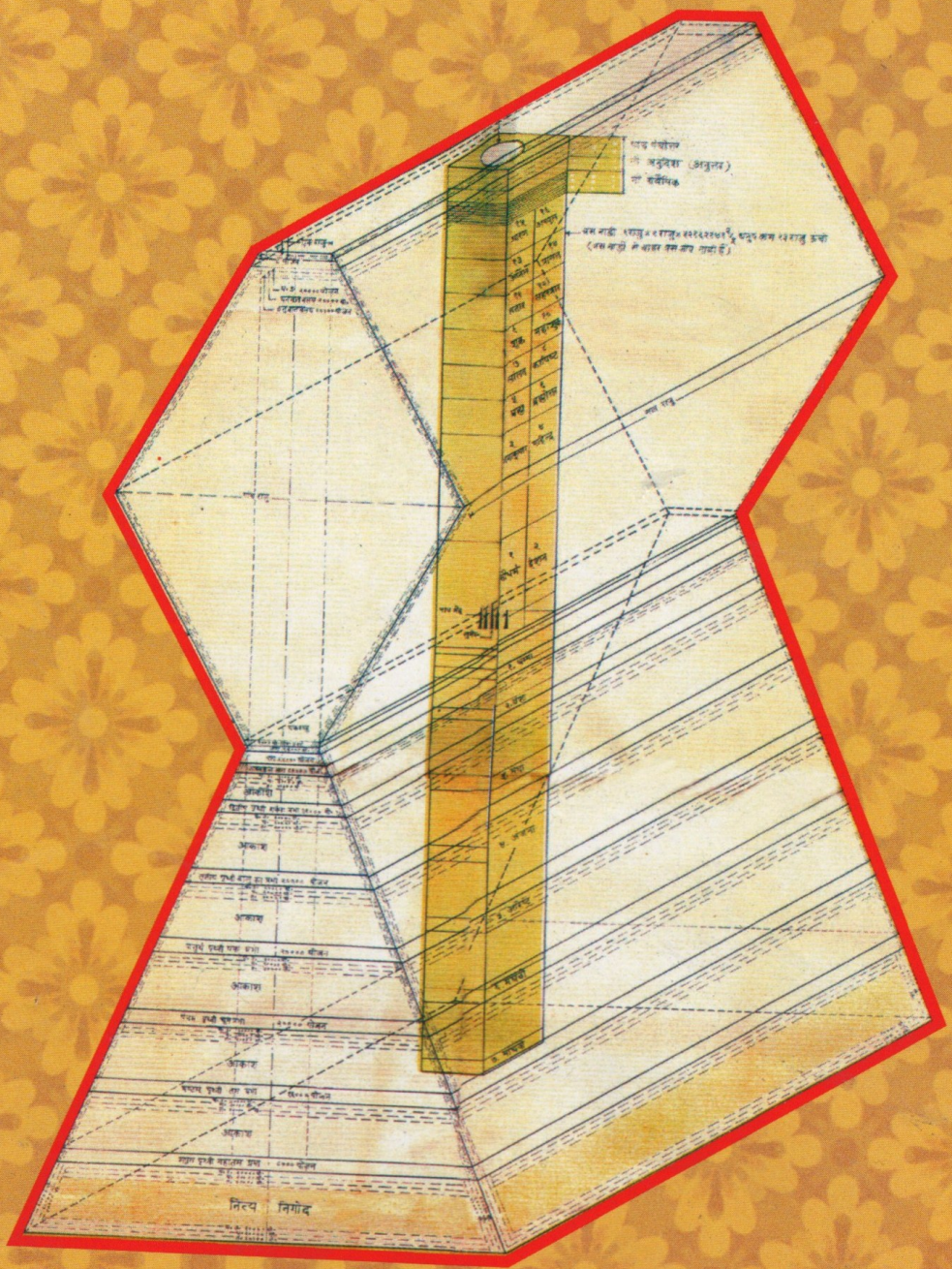
सर्वार्थसिद्धि वचनिका



ग्रन्थकार
पण्डित प्रवर जयचंदजी छाबड़ा

भाषा रूपान्तरकर्त्ता
धन कुमार जैन, सूरत



श्री वीतराग सर्वज्ञ देवाय नमः

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

पण्डित प्रवर जयचन्दजी छाबड़ा कृत

सर्वार्थसिद्धि वचनिका

मंगलाचरण

श्री वृषभादि जिनेश्वर, अंत नाम शुभ वीर ।
मन वच काय विशुद्ध करि वंदौ परमशरीर ।।1।।

करम धराधर भेदि जिन, मरम चराचर पाय ।
धरम वरावर कर नमुं, सुगुरू परापर पाय ।।2।।

शब्द ब्रह्म कूं मैं नमूं, स्यात्पदमुद्रित सोय ।
कहै चराचर वस्तु को, सत्यारथ मल धोय ।।3।।

आप्त मूल आगम तणूं, एकदेश जु अनूप ।
तत्त्वारथ शासन सही, करौ वचनिका रूप ।।4।।

(**अर्थ :–** श्री वृषभ आदि जिनेश्वरों, जिनके अंत में शुभ नाम वाले वीर जिनेश्वर जो परमशरीरी हैं, को मैं मन–वचन–काय की विशुद्धि करके वंदन करता हूँ। उन जिन ने कर्मरूपी पर्वत को भेदा है, और चर एवं अचर समस्त पदार्थों का मरम प्राप्त कर लिया है, मैं पर और अपर सुगुरूओं को प्राप्त होकर धर्म में जो उत्तमों से भी उत्तम हैं, को नमस्कार करता हूँ। मैं शब्दब्रह्म को जो स्यातपद से मुद्रित

है, को नमस्कार क़रता हूँ। जो चर और अचर वस्तुओं के मैल को धोकर सत्यार्थ स्वरूप को कहता है। आगम, जिसका मूल आप्त है, को अनुपम रूप के संक्षेप में सत्यकथन करने वाले तत्त्वार्थ शासन (तत्त्वार्थ सूत्र) की वचनिका बनाता हूँ।)

इस प्रकार आप्त और आगम को नमस्काररूप मंगल करके श्री उमास्वामी नामक आचार्य द्वारा रचित दश अध्याय वाले सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र) की देशभाषा में वचनिका लिखते हैं। यहाँ इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि इस प्रकार है –

अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी का निर्वाण होने के बाद इस पंचमकाल में तीन केवली और पांच श्रुतकेवली हुये। उनमें अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहू स्वामी का देवलोक होने के बाद काल दोष के कारण कई मुनि शिथिलाचारी हुये और उनका संप्रदाय चला। कुछ वर्षों बाद उनमें देवर्षिगण नामक एक साधु हुआ। उसने विचारा की हमारा संप्रदाय तो बहुत बढ गया है, परन्तु हमें शिथिलाचारी कहा जाता है, वह युक्त नहीं है, साथ ही भविष्य में हमसे भी हीन आचरण वाले होंगे। अत: कुछ ऐसा करना चाहिये कि इस शिथिलाचार को कोई भी बुद्धिकल्पित न कहे। अत: उनको साधने (प्रमाणित ठहराने) के लिये सूत्रों की रचना की। चौरासी (84) सूत्र रचे। उनमें श्री वर्धमान स्वामी और गौतम गणधर के बीच प्रश्नोत्तररूप प्रसंग बताकर शिथिलाचार के पोषण के लिये दृष्टान्त, युक्तियाँ आदि बनाकर उनकी प्रवृत्ति की (उनका प्रचार-प्रसार किया)। उन सूत्रों के आचारांग आदि नाम रखे, और उनमें अनेक विपरीत कथन किये, जैसे केवली कवलाहार करते हैं, स्त्रियों को मोक्ष होता है, स्त्रियाँ तीर्थंकर हुई हैं, परिग्रह सहित को मोक्ष होता है, साधु वस्त्र, पात्र आदि चौदह (14) उपकरण रखें एवं जो साधु रोग, ग्लानि आदि से पीडित हों, वे मद्य, मांस, मधु का आहार करें तो कोई दोष नहीं है, इत्यादि (विपरीत कथन) लिखे। तथा इनको पुष्ट करने वाली कल्पित कथायें बनाकर लिखीं। जैसे एक साधु ने मोदक का भोजन कर लिया जाने पर आत्मनिन्दा की, तब केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। एक साधु रोगी गुरु को कंधे पर बैठाकर लड़खड़ाता हुआ चला, तब गुरु ने लाठी दी, साधु ने आत्म निन्दा की, उसे केवलज्ञान हो गया। ऐसा होने पर गुरू उसके पाँव पड़ा। मरूदेवी को हाथी पर बैठे-बैठे केवलज्ञान उपजा – इत्यादि विरूद्ध कथाऐं लिखीं। तथा श्री वर्धमान स्वामी ब्राह्मणी के गर्भ में आये तब इन्द्र ने उन्हें वहाँ से निकालकर सिद्धार्थ राजा की रानी के गर्भ में स्थापित कर दिया, तथा उन्होंने (श्री वर्द्धमान स्वामी ने) केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद गोसाल नामक गरुड़े को दीक्षा दी, उसने बहुत तप किया, उसका ज्ञान बढ़ा, ऋद्धियाँ प्राप्त हुईं, तब उसने भगवान से वाद किया, वाद में वह हार गया, तब कषाय करके भगवान पर तेजोलेश्या चलाई, जिससे भगवान को पेचिश का रोग हो गया। तब भगवान को बहुत पीड़ा हुई, उन्होंने साधकों से कहा

कि राजा की रानी ने बिलाव के लिये कूकड़ा कबूतर मारकर उसे भुना (पकाया) है, वह हमारे लिये लेकर आवो, जिससे यह रोग मिट जावेगा। तब एक साधु वह लेकर आया, भगवान ने उसे खाया, तब रोग मिट गया इत्यादि अनेक कल्पित कथायें लिखीं। ये श्वेतवस्त्र, यात्रादंड आदि भेष धारणकर श्वेताम्बर कहलाये। बाद में इस सम्प्रदाय में कई समझदार हुये, उनने विचार किया कि ऐसे विरूद्ध कथनों को तो लोक प्रामाणिक नहीं मानेगा, तब उन्हें साधने (सच्चा प्रतीत कराने) के लिये प्रमाण और नयों की युक्तियाँ बनाकर जिस तिस प्रकार उन्हें साधा, पर कहाँ तक सधे। तब सम्प्रदाय के कुछ लोगों ने सूत्रों में अत्यन्त विरूद्धता देखकर उन्हें अप्रमाणिक ठहराकर उन्हें गुप्त कर दिये, एवं कम कर दिये। उनमें से कुछ ने (चौरासी सूत्रों के स्थान पर) पैंतालीस (45) रखे, कुछ ने बत्तीस (32) रखे। इस प्रकार परस्पर विरोध बढ़ा, तब अनेक गच्छ हो गये, जो अब तक प्रसिद्ध (प्रवर्त रहे) हैं। इनके आचार विचार का कुछ ठिकाना नहीं। इन ही में ढूंढिया हुये, जिन्होंने अत्यन्त ही निंद्य आचरण धारण किया है। यह काल दोष है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। इस काल में जैनमत की गौणता होनी है, उसके लिये ऐसे ही निमित्त बनेंगे।

भद्रबाहू स्वामी के बाद दिगम्बर सम्प्रदाय में कुछ वर्षों तक तो अंगों के पाठी रहे। बाद में अंगज्ञान की व्युच्छिति हुई, पर आचार यथावत रहता रहा। पर दिगम्बरों का आचार कठिन होने से कालदोष के कारण यथावत् आचरण वाले भी विरले ही रह गये, तब भी सम्प्रदाय में अन्यथा प्ररूपणा तो नहीं हुई। श्री वर्द्धमान स्वामी को निर्वाण होने के बाद छहसौ तिरासी (683) वर्ष बाद दूसरे भद्रबाहु नामक आचार्य हुये। इनके कुछ वर्षों बाद दिगम्बरों के गुरुओं में चार शाखायें हुईं, जिनके नाम (1) नंदी (2) सेन (3) देव (4) सिंह हुये। इनमें से **नंदी** सम्प्रदाय में श्रीकुन्दकुन्द मुनि, श्री उमास्वामी मुनि, नेमीचन्द्र, पूज्यपाद, विद्यानंदी, वसुनंदी आदि बड़े-बड़े आचार्य हुये। इनने विचारा कि शिथिलाचारी श्वेताम्बरों का सम्प्रदाय बहुत बढ़ा है, वह तो काल दोष है। परन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा चलती रहे, ऐसे शास्त्र रचे जावें तो कुछ निकट भव्य हों, वे यथार्थ समझकर श्रद्धा करें, यथाशक्ति ग्रहण करें, यह बड़ा उपकार है। ऐसा विचारकर मोक्षमार्ग की प्ररूपणा के कई ग्रन्थ रचे, जैसे तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, मूलाचार, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि। तथा इनका अविच्छेद अर्थ हो इसलिये इनकी टीकायें की एवं दूसरे **सेन** संप्रदाय में भूतबली, पुष्पदंत, वृषभसेन, सिद्धसेन, समंतभद्र, जिनसेन, गुणभद्र आदि बड़े-बड़े आचार्य हुये, जिनने षट्खंडागम, धवल,जयधवल, महाधवला तथा प्राकृत आदिपुराण आदि ग्रन्थ रचे। उनमें सिद्धसेन, समंतभद्र आदि स्याद्वाद विद्या के अधिकारी हुये। तत्त्वार्थसूत्र का महाभाष्य रचा एवं अन्य बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे। जिनसेन ने संस्कृत में आदिपुराण रचा। गुणभद्र ने संस्कृत में

उत्तरपुराण रचा । इसी संप्रदाय में काष्टासंघ प्रवर्ता ।

देव संप्रदाय में अकलंक देव हुये, जो स्याद्वाद के अधिकारी हुये, उनने प्रमाण प्रकरण रचे । अन्य भी कई आचार्य हुये जिनने बड़े बड़े ग्रन्थ रचे । सोमदेव ने यशस्तिलक काव्य रचा ।

सिंह संप्रदाय में वादिभसिंह आदि मुनि हुये, उनने भी बड़े-बड़े ग्रन्थ बनाये। इस तरह इन चारों संप्रदायों में यथार्थ प्ररूपणा और आचरण चलता रहा । पर अब इस निकृष्ट काल में दिगम्बर संप्रदाय में भी यथावत आचरण का तो अभाव ही है । यदि कहीं है तो दूर क्षेत्र में होगा। पर मोक्षमार्ग की प्ररूपणा तो ग्रन्थों से वर्त रही है । तब मेरे (पं. प्रवर जयचन्दजी छाबडा के) ऐसा विचार हुआ कि उमास्वामी कृत दश अध्यायों वाला तत्त्वार्थसूत्र है, उसकी संस्कृत टीका गंधहस्थिमहाभाष्य है, और लघु टीका सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक है - जिसे राजवार्तिक भी कहते हैं - तथा श्लोक्वार्तिक है, वे तो पंडितों के समझने पढ़ने योग्य हैं, मंदबुद्धि का उनमें प्रवेश नहीं है, अत: इसकी संक्षेप अर्थरूप देशभाषामय वचनिका बना दी जावे तो मंद बुद्धि भी पढ़ सकें, तत्त्वार्थ की श्रद्धा करें, तो बड़ा उपकार है । यह विचारकर वचनिका लिखना आरंभ किया है, उसमें मुख्यरूप से तो सर्वाथसिद्धि नामक संस्कृत टीका का आश्रय है और जहाँ-जहाँ विशेष लिखा है, वहाँ तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक का आश्रय जानना । इसमें कहीं भूल-चूक हो तो विशेष ज्ञानी संशोधन कर लें ।

उसमें सबसे पहले सर्वाथसिद्धि टीकाकार ने मंगल के लिये आप्त का असाधारण विशेषण रूप श्लोक रचा है, जिसे लिखते हैं -

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अर्थ :- मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करने वाले, कर्मरूपी पर्वत को भेदने वाले एवं समस्त तत्त्वों के जानने वालों की मैं उनके गुणों को प्राप्त करने के लिये वंदना करता हूँ ।

भावार्थ :- इस शास्त्र में मोक्षमार्ग का उपदेश है। अत: जो घातिकर्मों का नाश कर सर्वज्ञ-वीतराग हो गया हो वह ही मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराने वाला आप्त है । उसे ही नमस्कार किया है क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रवर्ताया हुआ मोक्षमार्ग ही प्रमाणसिद्ध हो सकता है । क्यों ? क्योंकि सर्वज्ञ नहीं हो वह अज्ञान के कारण अयथार्थ भी कह सकता है, एवं जो रागद्वेष सहित हो वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के कारण अन्यथा भी कह सकता है, जो प्रमाण नहीं (प्रमाणसिद्ध ही हो यह अनिवार्य नहीं है)। अत: जो सर्व को जानता हो और जिसे किसी से भी राग-द्वेष न हो, उस ही के वचन प्रमाण हो सकते हैं। वह ही वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्ररूपण करते हैं। इस ही लिये ऐसे गुणों (विशेषणों) से युक्त को नमस्कार किया है। तीर्थंकर एवं सामान्य केवली अरिहन्त ही ऐसे हैं,

इन्हें ही परमगुरु कहा जाता है। एवं जिनके घातिकर्मों का एकदेश नाश और समस्त तत्त्वों का एकदेश संक्षेप ज्ञान है, तथा जिनके उस सम्बन्धी राग द्वेष भी नहीं हैं, उन्हें अपरगुरू जानना चाहिये। गणधर आदि से लेकर सूत्रकार पर्यन्त को ऐसे आचार्य जानना। तथा जो सर्वथा एकान्त तत्त्व के प्ररूपण करते हैं, वे गुरू नहीं हैं, उनके वचन प्रमाण विरूद्ध हैं, वे अपने तथा पर के घातक हैं, उनको नमस्कार करना युक्त नहीं है।

अथवा यहाँ ऐसा आशय जानना कि जो सर्वज्ञ वीतराग आप्त हों वे ही शास्त्र की उत्पत्ति तथा शास्त्र का यथार्थ ज्ञान होने के लिये कारण हैं। इसलिये शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में ऐसे ही विशेषणों से युक्त को नमस्कार करना योग्य है।

यहाँ कोई कहे – आप्त को नमस्कार करने से पाप का नाश होता है, जिससे विघ्नों का उपशम होता है, तब शास्त्र की समाप्ति निर्विघ्न होती है, अत: उन्हें नमस्कार करना योग्य है ?

उसको कहते हैं – पाप का नाश तो पात्रदान आदि से भी होता है, तब आप्त को नमस्कार का नियम कहाँ रहा ? यदि कहा जावे कि आप्त को नमस्कार ही परममंगल है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि धर्म के अंग हैं, वे सभी मंगल हैं।

यदि कोई कहे – नास्तिकता का परिहार तो आप्त को नमस्कार करने से ही होता है, इसलिये श्रद्धानी पुरुष शास्त्रों का आदर करते हैं। उसको कहते हैं – नास्तिकता का परिहार तो मोक्षमार्ग का समर्थन करने से होता है, आप्त को नमस्कार करने का नियम कैसे रहे ?

यदि कोई कहे – शिष्टाचार के पालन के लिये आप्त को नमस्कार करना ही चाहिये ? वहाँ भी यह ही उत्तर है। **अत: यह ही युक्त है कि शास्त्र की उत्पत्ति तथा उसका ज्ञान होने के लिये आप्त ही कारण हैं, इस ही हेतु से आप्त को नमस्कार करना युक्त है, ऐसा आशय जानना।**

यहाँ कोई कहे – वक्ता का सम्यग्ज्ञान ही शास्त्र की उत्पत्ति तथा ज्ञान होने के लिये कारण है, आप्त का ही नियम कैसे कहते हो ?

वहाँ उत्तर इस प्रकार है – वक्ता का सम्यग्ज्ञान भी उपदेश के अधीन है। गणधरदेवों का सम्यग्ज्ञान भी सर्वज्ञ के वचनों के अनुसार है, अत: आप्त ही का नियम है।

यहाँ कोई पूछे – आप तत्त्वार्थशास्त्र की वचनिका कर रहे हैं, इसका तत्त्वार्थशास्त्र नाम कैसे हुआ ?

उत्तर – इसमें शास्त्र का लक्षण पाया जाता है। कैसे ? वह बताते हैं – अक्षरों के समुदाय को पद कहते हैं। पदों के समुदाय को सूत्र कहते हैं, इसे वाक्य भी कहते हैं, योग भी कहते हैं, लक्षण भी कहते हैं। सूत्र के समूह को प्रकरण कहते हैं। प्रकरण के समुदाय को आह्निक कहते हैं। आह्निक के समूह को अध्याय कहते हैं, अध्याय के समूह को शास्त्र कहते हैं। इस प्रकार शास्त्र का लक्षण इस

में पाया जाता है, अत: शास्त्र कहा जाता है, और इसमें निर्बाध तत्त्वार्थ का प्ररूपण है, अत: तत्त्वार्थशास्त्र कहा जाता है। एवं यदि शास्त्राभास में ऐसा लक्षण हो तो वहाँ तत्त्वार्थ का निरूपण नहीं होने से वे शास्त्र नहीं हैं।

यहाँ कोई पूछे – इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों को शास्त्र संज्ञा कैसे संभव होगी ?

उत्तर – अन्य शास्त्र तत्त्वार्थ का प्ररूपण करने वाले हैं वे सब इसके ही एकदेश हैं, एवं द्वादशांग हैं वह महाशास्त्र है। जैसे अनेक शास्त्र उसमें गर्भित हैं। इस तरह यह तत्त्वार्थशास्त्र सर्वज्ञ वीतराग मोक्षमार्ग के प्रवर्तक पुरुष को सिद्ध होते प्रवर्ता है, अत: इसे पुरुषकृत कहा जाता है। ऐसा पुरुष वंदना के योग्य है।

यहाँ **मीमांसक** मत का आश्रय लेकर अन्यवादी कहता है – शब्द सर्वथानित्य कूटस्थ सर्वदेश में व्यापक एक है, अत: इसमें वर्ण, पद, वाक्य सभी शाश्वत वास करते हैं। पुरुष वक्ता है, वह इसकी व्यक्ति को प्रगट करता है। अत: वेद अनादिनिधन अपौरुषेय आगम है, पुरुषकृत नहीं है।

समाधान – शब्द है, वह तो पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसका स्वयं ही वर्ण पद वाक्य रूप होना संभव नहीं है। पुरुष को अनादि कर्म के संयोग से पुद्गलमय शरीर का सम्बन्ध है, तथा अंगोपांग नामक नाम कर्म के उदय से हृदय, कंठ, मूर्द्ध, जिव्हा, दंत, नासिका, ओष्ठ, तालु आदि हैं, वे अक्षरों का उच्चारण करने के योग्य स्थान बने हैं। इनमें पुरुष की इच्छा से एवं इच्छा के बिना अक्षरात्मक वचन प्रर्वतते हैं। ऐसे शब्द को सर्वथा नित्य कहना प्रमाण के विरुद्ध हैं। पुद्गल द्रव्य द्रव्य अपेक्षा तो नित्य है; पर पर्याय अपेक्षा अनित्य है। अत: शब्द पुरुष के निमित्त से वर्णात्मक होकर परिणमता है, श्रोत्र इन्द्रिय के गोचर होता है। सर्वथा नित्य तो प्रमाणगोचर नहीं होता। अत: पौरुषेय आगम ही प्रमाण सिद्ध है, इसका संवाद (विस्तार सें विवेचन) श्लोकवार्तिकग्रन्थ में है, वहाँ से समझ लेना।

फिर **मीमांसक** कहता है – हमारी आम्नाय अकृत्रिम है, फि र भी जैमिनीय आदि आप्त के कहे सूत्र प्रमाणभूत हैं। अत: तुम्हारे सर्वज्ञ–वीतराग द्वारा प्ररूपित सूत्र बताते हो, वे प्रमाण सिद्ध नहीं हैं।

इसका **समाधान** – यदि सूत्र का व्याख्याता सर्वज्ञ वीतराग नहीं है, तो उसके वचन प्रमाण नहीं हो सकते। अकृत्रिम आम्नाय पुरुष के बिना स्वयं अपने अर्थ को कह नहीं सकती, अत: आम्नाय का कहने वाला यथोक्त पुरुष होना ही चाहिये। तुम भी प्रमाण का विशेषण ऐसा ही करते हो कि प्रमाण निर्दोषकारण से उत्पन्न होता है। अत: क्यों निष्कारण अपौरुषेयपने का पोषण करते हो ?

यहाँ **मीमांसक** पुन: कहता है – तुमने आप्त का विशेषण सर्वज्ञ बताया है, पर सर्वज्ञ को जनाने (बताने) वाला ज्ञापक प्रमाण नहीं है। इन्द्रियों से सर्वज्ञ दिखता नहीं है एवं उसका कोई एकदेश चिन्ह भी दिखता नहीं है, सर्वज्ञ जैसी कोई वस्तु नहीं है, किसी अर्थ का सम्बन्ध नहीं है, वेद में लिखा नहीं

है, इस तरह (सर्वज्ञ) पांचों ही प्रमाण के गोचर नहीं है; अत: उनका अभाव ही सिद्ध होता है ।

उसको कहते हैं – सर्वज्ञ का ज्ञापक प्रमाण है । **सूक्ष्म** जो परमाणु तथा धर्म आदि, तथा अंतरित (काल और क्षेत्र की अपेक्षा दूरवर्ती) राम, रावण आदि, **दूर** जो मेरु पर्वत आदि हैं, उन पदार्थों का उपदेश सत्यार्थ है, जो इनको प्रत्यक्ष देखने वाले सर्वज्ञ हैं । ये इन्द्रिय गोचर नहीं हैं । इनका चिन्ह भी प्रत्यक्ष नहीं है, ये असर्वज्ञ के उपदेश पूर्वक नहीं हैं। साक्षात देखे हैं , उनके कहे हुये सत्यार्थ हैं, जैसे नदी, द्वीप, देश किसी ने साक्षात् देखे हों, उसको कहने से सत्यार्थ माने जाते हैं, वैसे सर्व पदार्थ सर्वज्ञ के कहे होने से सत्यार्थ हैं ।

कोई कहता है – धर्म, अधर्म का भी निर्णय करना चाहिये, सकल वस्तुओं के साक्षात ज्ञाता से क्या प्रयोजन है ?

उसको कहते हैं – सर्वज्ञ के बिना धर्म, अधर्म का भी निर्णय नहीं होता है । धर्म, अधर्म का फल स्वर्ग, मोक्ष, नरक, संसार कहा जाता है, वह जिसने धर्म, अधर्म के फल के और धर्म, अधर्म के साक्षात् सम्बन्ध को देखा हो, उस ही का कहा सत्यार्थ होता है । और सर्व के ज्ञाता (सर्वज्ञ) के बिना यह सम्बन्ध (अन्य को) दिखाई देता नहीं है ।

मीमांसक से प्रश्न करते हैं – आप सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाले ज्ञापक प्रमाण का निषेध करते हो, वह सर्व प्राणियों सम्बन्धी करते हो अथवा अपने सम्बन्धी करते हो ? यदि सर्व प्रणियों सम्बन्धी निषेध करते हो तो सर्व क्षेत्र काल के प्राणियों को तुमने देख लिया, तब तुम ही सर्वज्ञ हुये । सर्वज्ञ का अभाव कैसे कहते हो ? और यदि अपने सम्बन्धी कहते हो तो युक्त नहीं है। आपसे पूछते हैं – इस समुद्र में कितने मटके जल है ? यदि नहीं बता सकते तो सर्वज्ञ का अभाव मत कहो ।

तथा **सांख्यमती** और **नैयायिकमती** कहते हैं – सर्वज्ञ को तो मानना, परन्तु कर्म के नाश से सर्वज्ञ होते हैं, यह बनता नहीं है। ईश्वर तो सर्वथा सदा मुक्त है, सदा ही सर्वज्ञ है ।

उसको कहते हैं – यदि ऐसे सर्वज्ञ ईश्वर को शरीर रहित कहोगे तो मोक्षमार्ग का उपदेशक नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीर के बिना वचन की प्रवृत्ति नहीं होती । और यदि शरीर सहित कहोगे तो शरीर तो कर्म का किया ही होता है । इस सम्बन्धी सुख-दु:ख सब उसके (कर्म के) ठहरेंगे । अत: घातिकर्मों का नाश करने से ही सर्वज्ञ होते हैं। उन्हीं से मोक्षमार्ग का उपदेश प्रवर्तता है, यह (मानना) ही युक्त है । इसका विशेष वर्णन आगे करेंगे ।

एवं **बौद्ध** सर्वज्ञ को तो मानते हैं, परन्तु तत्त्व का स्वरूप सर्वथा क्षणिक कहते हैं । ऐसा होने पर तो उनके मोक्षमार्ग के उपदेश की प्रवृत्ति ही संभव नहीं होगी।

इसप्रकार नास्तिकवादियों के कुछ भी संभव नहीं है । इन सब मतों का संवाद (विस्तार से कथन) श्लोकवार्तिक में किया हुआ है, वहाँ से जान लेना । यहाँ ग्रन्थ का विस्तार बढ़ जाने से संक्षेप में लिखा है ।

ग्रन्थ की पृष्ठभूमि

आगे सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता सूत्र के प्रारंभ होने की पृष्ठभूमि बताते हैं – कोई भव्य, जिसकी सिद्धि निकट है, जो बुद्धिमान और अपने हित का इच्छुक है – वह किसी मुनियों के रहने योग्य परम रमणीक उद्यान में जहाँ सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जीव नहीं थे, और जो भले जीवों के रहने का स्थान था, उसमें मुनियों की सभा में बैठा था। वहां बिना ही वचन अपने शरीर ही की मुद्रा से मानों मोक्षमार्ग का निरूपण करते एवं युक्ति और आगम में प्रवीण एवं पर के हित का कथन करना ही जिनका एकमात्र कार्य था, और जो भले भले बडे पुरुषों द्वारा करने योग्य थे, निर्ग्रन्थ आचार्यों में प्रधान थे, ऐसे मुनिराज को प्राप्त होकर विनय सहित पूछने लगा – हे भगवान ! इस आत्मा का हित कहाँ है ?

आचार्य ने कहा – आत्मा का हित मोक्ष में है। तब शिष्य ने फिर प्रश्न किया – मोक्ष का स्वरूप क्या है ? और इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? आचार्य ने कहा – यह आत्मा जब समस्त कर्म मल कलंक से रहित हो, तब शरीर से भी रहित होता है – तब छद्मस्थ के चिन्तन में न आवे और स्वभाव ही से होने वाले ज्ञान आदि गुण जिसमें पाये जावें, ऐसा निराबाध सुखस्वरूप, अविनश्वर आत्मा ही की इस संसार अवस्था से अन्य जो अवस्था होती है, वह मोक्ष है। यह मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है, अत: अन्यवादि छद्मस्थ जो अपने को तीर्थंकर मानते हैं, वे इसके स्वरूप को न पहुंचने वाली वाणी से इसकी अन्यथा कल्पना (प्ररूपण) करते हैं।

प्रथम तो **सांख्यमती** कहता है – पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। वह स्वरूप ज्ञेयाकार को जानने से पराङ्मुख है, ऐसा मोक्ष बताते हैं। पर यह कहना होते हुये न होने रूप है, क्योंकि निराकार है, वह जड़ के समान है, गधे के सींग के समान कल्पना मात्र है।

वैशेषिकमती कहते हैं – आत्मा में बुद्धि, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, सुख, दु:ख, संस्कार, यत्न गुण हैं, इनका सर्वथा नाश होना ही मोक्ष है। ऐसी कल्पना भी झूठी है, क्योंकि विशेषों से शून्य तो अवस्तु है (वस्तु में कुछ न कुछ विशेष होते ही हैं, विशेष से रहित तो कोई वस्तु हो ही नहीं सकती)।

बौद्धमती कहते हैं – जैसे दीपक बुझ कर प्रकाश रहित हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी ज्ञानादि प्रकाश से रहित हो जावे तब निर्वाण कहा जाता है। यह कहना भी उनके ही वचनों से गधे के सींग जैसा सिद्ध होता है।

आदि शब्द से **वेदांती** ऐसा कहते हैं कि जैसे घट फूट जाता है, तब घट का आकाश प्रगट होता है, वैसे ही देह का अभाव होने पर सब ही प्राणी परमब्रह्म में लय हो जाते हैं। ब्रह्म का रूप आनन्द स्वरूप है, जहाँ अत्यन्त सुख है, ज्ञान से ही ग्राह्य है, इन्द्रिय गोचर नहीं है, वह सुख मोक्ष में पाया

जाता है, ऐसा कथन करते हैं। पर यह कहना भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि प्राणी तो भिन्न-भिन्न अपने स्वभाव में रहते हैं, परमब्रह्म में लीन होना कैसे संभव है ?(ऐसा होने पर तो जीव की स्वतन्त्र सत्ता का ही नाश हो जावेगा और सत्ता का नाश किसी को भी इष्ट नहीं होता)।

उपरोक्त आदि अनेक मत हैं वे अपनी - अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करते हैं। मोक्ष का यथार्थ स्वरूप सूत्रकार आगे कहेंगे, वैसा जानना। एवं इस मोक्ष की प्राप्ति के उपायों के प्रति भी अन्यवादि विसंवाद करते हैं। कुछ कहते हैं चारित्र आदि की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। कुछ कहते हैं ज्ञान चारित्र के बिना श्रद्धान मात्र से ही मोक्ष होता है। कुछ कहते हैं ज्ञान रहित चारित्र मात्र से ही मोक्ष होता है। ऐसे कथन करते हैं, पर ऐसे कथन अयुक्त हैं। जैसे रोगी के रोग को दूर होने के लिये कारण जो औषध का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण है, वे अलग अलग रोग को दूर नहीं कर सकते, उस ही प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के उपायरूप जो ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र हैं, वे अलग अलग मोक्ष को नहीं कर सकते हैं। तीनों की एकता ही मोक्ष का उपाय है। सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य यह ही सूत्र में कहते हैं। यह सूत्र उपयोग रूप आत्मा की सिद्धि होने पर इसके ग्रहण करने, सुनने की इच्छा होने पर प्रवर्तता है।

यहाँ **नास्तिकमती** कहता है - पृथ्वी-अप-तेज-वायु का परिणाम विशेषस्वरूप चेतनात्मक आत्मा है। यह मूर्त्ति सकल लोक में प्रसिद्ध है, इससे भिन्न अलग कोई अन्य आत्मा नहीं होता, अत: किसको सर्वज्ञ वीतरागपना हो ? अथवा किसे मोक्ष कहना, अथवा प्रवर्तना अथवा (मोक्ष) प्राप्ति की इच्छा हो ? एवं जब ये सब हैं ही नहीं, तब मोक्षमार्ग का सूत्र क्यों प्रवर्ते ?

उसको कहते हैं - हे नास्तिक ! स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा देख, प्रत्यक्ष है या नहीं ? यदि आत्मा नहीं है तो 'मैं हूँ' यह स्वसंवेदनज्ञान किसको होता है ?

तब नास्तिक कहता है - यह स्वसंवेदन भ्रमरूप है।

उससे कहते हैं - सदा बाधा से रहित हो, उसे भ्रमरूप कैसे कहा जा सकता है ? तथा भ्रम भी आत्मा के बिना जड़ के होता नहीं है। एवं पृथ्वी आदि जड़ वस्तुओं में यह स्वसंवेदन संभव नहीं है। यदि इस स्वसंवेदन का लोप माना जावे तब किसी के भी अपने इष्ट तत्त्व के साधने की व्यवस्था नहीं ठहरेगी। अत: पृथ्वी आदि स्वरूप देह से चेतन स्वरूप आत्मा भिन्न तत्त्व ही है, ऐसा मानना, क्योंकि चेतन का उपादान कारण चेतन ही होता है, जड़ का उपादान कारण जड ही होता है। यदि ऐसा नहीं माना जावेगा तो तेरे पृथ्वी आदि तत्त्व भी भिन्न नहीं ठहरेंगे। सजातीय-विजातीय तत्त्व की व्यवस्था नहीं ठहरेगी, एक ही तत्त्व ठहरेगा, तो तू नास्तिक चार तत्त्व कहता है, वह (तेरी) प्रतिज्ञा बाधित होगी। एवं नास्तिक कहता है कि चैतन्य तो गर्भ से मरण पर्यन्त ही है, अनादि-अनन्त नहीं है, अत: तत्त्व नहीं है।

उससे कहते हैं - द्रव्य अपेक्षा आत्मा अनादि -अनन्त स्वरूप है, पर्याय अपेक्षा अनित्य भी है। सर्वथा अनित्य ही मानना बाधा सहित है । यदि द्रव्य अपेक्षा भी अनादि - अनन्त न माना जावे तो तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं ठहरेगी ।

बौद्धमती सर्व वस्तुओं को सर्वथा क्षणिक मानते हैं । उनके बंध, मोक्ष आदि नहीं संभवते। करे कोई और फल कोई अन्य ही भोगे, तब बंध-मोक्ष आदि द्रव्य को नित्य माने बिना सर्व व्यवस्था का कथन प्रलाप मात्र है ।

सांख्य पुरुष को सदा शिव कहता है, उसके बंध - मोक्ष की कथनी क्या ? प्रकृति के बंध मोक्ष हैं, तो प्रकृति तो जड़ है, उसको बंध - मोक्ष कहना भी प्रलाप ही है।

नैयायिक वैशेषिक गुण में, गुणी में सर्वथा भेद मानकर समवाय सम्बन्ध से एकता मानते हैं। तब गुण, गुणी और समवाय ये तीन पदार्थ हुये । तब जीव तो गुणी और ज्ञान गुण, समवाय ने जीव को ज्ञानी किया। तब जीव तो जड़ ठहरा, जड़ को बंध - मोक्ष कहना निरर्थक है । तथा समवाय ने गुण-गुणी में एकता की, तब समवाय भी तो जीव से एक होना चाहिये, तब इनको एक कौन करेगा ? यदि दूसरा समवाय माना जावेगा तो अनवस्था दोष आवेगा । अत: ऐसा कहना भी बाधा सहित है ।

एवं अद्वैत ब्रह्म मानकर बंध-मोक्ष बतावे तो (वह भी) कैसे बने (संभव है)। बंध तो अविद्या से उत्पन्न होता है, ब्रह्म को अविद्या लगती नहीं । यदि अलग तत्त्व माना जावेगा तो द्वैतता का प्रसंग आवेगा । अवस्तु मानी जावेगी तो अवस्तु की कथनी क्या ? अत: यह मानना भी बाधा सहित है । जैनमत स्याद्वाद रूप है, वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक कहता है। इसमें सर्वज्ञ वक्ता हैं और गणधर आदि यतियों की परम्परा से यथार्थ कथन है। इसमें बंध - मोक्ष तथा बंध करनेवाला, छूटनेवाला आदि सर्व व्यवस्था संभव है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल - ये छह द्रव्य हैं । इनमें जीव तो अनन्तानन्त हैं, पुद्गल उनसे भी अनन्तानन्त गुणे हैं । धर्म, अधर्म, आकाश ये एक-एक ही द्रव्य हैं, काल असंख्यात द्रव्य है । इन सब अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के तीन काल सम्बन्धी अनन्त अनन्त पर्यायें हैं। इनकी कथनी नय विवक्षा से सद्रूप, असद्रूप, एकरूप, अनेकरूप, भेदरूप, अभेदरूप, नित्यरूप, अनित्यरूप, शुद्धरूप, अशुद्धरूप इत्यादि नय विवक्षा से कथंचित् सब ही संभव हैं। एवं निमित्त-नैमित्तिक भाव से पांचों तत्त्वों - आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष - की प्रवृत्ति होती है। आस्रव बंध के भेद पुण्य-पाप हैं। इस तरह कथंचित् सर्व निर्बाध जैसी वस्तु विद्यमान है, वैसी ही उसकी कथनी (इस तत्त्वार्थसूत्र में) है, कल्पित नहीं है। अत: तत्त्वार्थसूत्र में वस्तु का जो कथन है, वह यथार्थ है। इसका प्रथम सूत्र -

प्रथम अध्याय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।1-1।।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र – ये तीनों मिल कर एक मोक्षमार्ग है ।

यहाँ जो सम्यक् पद है, वह अव्युत्पन्न पक्ष की अपेक्षा तो रूढ है, और व्युत्पन्न पक्ष की अपेक्षा अंच धातु गति के अर्थ में तथा पूजन के अर्थ में प्रवर्तता है। कर्त्ता अर्थ में क्विप प्रत्यय है । अतः यहाँ इसका अर्थ प्रशंसा ग्रहण किया गया है । इस सम्यक् पद को प्रत्येक अर्थात् तीनों के साथ लगा समझना। तब इस तरह कहा जावेगा - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र । इन तीनों ही का स्वरूप, इनके लक्षण एवं प्रकार भेदों का कथन तो सूत्रकार आगे करेंगे । इस सूत्र में केवल नाम बताये हैं ।

टीकाकार व्याख्या करते हैं :- पदार्थ के यथार्थ ज्ञान के लिये तो दर्शन के साथ सम्यक् विशेषण कहा है, एवं जीवादि पदार्थों की जिस-जिस प्रकार व्यवस्था है, निश्चित रूप से उस-उस प्रकार जानना सम्यग्ज्ञान है। इस (ज्ञान) के साथ सम्यक् विशेषण विमोह, संशय, विपर्यय की निवृत्ति के लिये कहा है । एवं संसार के लिये जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग कारण हैं, उनसे होने वाले आस्रव बंध की निवृत्ति के लिये उद्यमी सम्यग्ज्ञानी पुरुष को जिनसे कर्मों का ग्रहण हो ऐसी क्रिया के निमित्त रूप क्रियाओं का त्याग सम्यग्चारित्र है । तथा कर्मों के (आ) ईषत् -अल्प मात्रा में (दान) खडंन के निमित्त रूप क्रियाओं का त्याग, आत्मा के एकदेश कर्मक्षपणा के कारण परिणाम विशेष का भी त्याग, तथा कर्मों के समस्त रूप से क्षय के लिये कारणरूप चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती परिणाम हैं, वे सम्यक् निवृत्तिरूप चारित्र है, ऐसा भी अर्थ है । अज्ञान पूर्वक चारित्र की निवृत्ति (निषेध) के लिये इसके (चारित्र के) सम्यक् विशेषण है। क्योंकि इन तीनों की निरुक्ति इस प्रकार है -(पश्यति) जो श्रद्धान करे वह दर्शन है, वह तो कर्तृसाधन हुआ - यहां करनेवाला आत्मा है, वह ही दर्शन है । एवं (दृश्यते अनेन) जिसके द्वारा श्रद्धान करिये - सो दर्शन, यहां करण साधन हुआ । एवं (दृष्टिमात्रं) श्रद्धापना वह दर्शन, यहां भाव साधन हुआ । दर्शन क्रिया को ही दर्शन कहा। इस ही तरह (जानाति) जो जाने वह ज्ञान, यहां कर्तृसाधन हुआ । जानने वाले आत्मा ही को ज्ञान कहा। एवं (ज्ञायते अनेन ज्ञानं) जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान, यहां करणसाधन हुआ । एवं (ज्ञाप्तिमात्रं ज्ञानं) जानना ही ज्ञान है , यहां भावसाधन हुआ । जानने की क्रिया को ज्ञान कहा । तथा (चरति इति चारित्रं) आचरण करे वह चारित्र है - इस तरह कर्तृसाधन हुआ । इस प्रकार आत्मा ही

चारित्र है। (चर्यते अनेन) यहां जिससे आचरण किया जावे, वह चारित्र है, इस तरह करणसाधन हुआ। तथा (चरणमात्रं चारित्रं) यहां भावसाधन हुआ। इस तरह आचरण करने को ही चारित्र कहा।

यहाँ अन्यमती सर्वथा एकान्ती **तर्क करता है :-** इस प्रकार कहने से तो जो कर्त्ता वही करण हुआ। यह तो विरूद्ध है । विरूद्ध दो भाव एक के होते नहीं ।

उसको कहते हैं :- आपके सर्वथा एकांत पक्ष है, अत: विरोध भासित होता है । स्याद्वाद वालों के परिणाम परिणामी में भेद विवक्षा होने पर विरोध नहीं है । जैसे अग्नि अपने दाह परिणाम के द्वारा इंधन को जलाती है, वैसे ही यहां भी जानना । कर्त्ता, करण, क्रिया रूप जो तीन भाव हैं, वे पर्याय पर्यायी के एकत्व अनेकत्व के प्रति अनेकान्त होने से स्वतन्त्र परतन्त्र की विवक्षा से एक ही वस्तु में अनेक स्वतन्त्र कर्त्ता, परतन्त्र करण आदि भावों में विरोध नहीं है ।

यहाँ **कोई पूछता है :-** ज्ञान को पहले कहना चाहिये था,क्योंकि ज्ञान से पहले जानकर बाद में उसमें श्रद्धान होता है । एवं व्याकरण में ऐसा नियम है कि द्वंद समास में जिसमें अल्प अक्षर हों उसे पहले कहना चाहिये ।

उससे कहते हैं :- यह युक्त नहीं है । दर्शन ज्ञान की उत्पत्ति एक काल में है । जिस समय दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से आत्मा के सम्यग्दर्शन भाव होते हैं, उसी समय मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान का अभाव होकर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होता है । जैसे बादल के दूर होने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश दोनों एक काल में प्रगट होते हैं । वैसे ही यहाँ जानना । एवं व्याकरण में यह नियम है कि जिसमें अल्प अक्षर हों, उससे भी जो पूज्य प्रधान हो वह पहले आता है । ज्ञान को सम्यग्दर्शन सम्यक् रूप करता है, तब यह सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त करता है । अत: सम्यग्दर्शन पूज्य प्रधान है, इसलिये पहले सम्यग्दर्शन ही होना (कहा जाना) चाहिये । तथा चारित्र सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् होता है, अत: चारित्र के पहले ज्ञान कहा । तथा मोक्ष सर्वकर्म का अत्यन्त अभाव हो उसे कहते हैं, और उसकी प्राप्ति के उपाय को मार्ग कहते हैं । मोक्षमार्ग शब्द का ऐसा अर्थ जानना ।

यहाँ मार्ग शब्द एकवचनरूप कहा है , यहां सम्यग्दर्शन आदि तीन होते हुये भी उनकी एकता हो वह साक्षात् मोक्षमार्ग है, ऐसा ज्ञान कराने के लिये कहा है । (ये तीनों) अलग-अलग हों तब मार्ग नहीं हैं। यहाँ साक्षात् पद यह बताता है कि इन तीनों का एकदेश परंपरा मोक्षमार्ग का कारण है, और पूर्णता साक्षात् मोक्ष का कारण है। मोक्षमार्ग के इस स्वरूप को विशेषरूप असाधारण जानना। सामान्य रूप से काल, क्षेत्र आदि भी मोक्ष के कारण हैं । इसलिये सम्यग्दर्शन आदि ही मोक्षमार्ग हैं, यह नियम जानना । पर ऐसा नियम न कहना (जानना) कि ये मोक्षमार्ग ही हैं । ऐसा कहने पर तो ये स्वर्ग आदि अभ्युदय के मार्ग नहीं ठहरेंगे। अत: पूर्वोक्त ही कथन करना ।

यदि कोई कहे कि तप भी मोक्षमार्ग है, उसे क्यों नहीं कहा ? तो उत्तर है कि तप है वह चारित्र स्वरूप है, अत: चारित्र में समाहित है ।

यदि कोई कहे कि सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के कारण हैं तो केवलज्ञान उत्पन्न होते ही उस ही समय मोक्ष हो जाना चाहिये ? उसको कहते हैं कि अघातिकर्मों के नाश करने की शक्ति आत्मा की सम्यग्दर्शन आदि की सहकारिणी है, तथा आयुकर्म की स्थिति शेष रहती है तब तक केवली का अवस्थान (मौजूदगी) रहती है । उस शक्ति को सहकारी कारण मिलने पर मोक्ष होता है ।

तथा इस सूत्र की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध होता है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार के कारण हैं ।

आगे प्रारम्भ में कहे सम्यग्दर्शन के लक्षणनिर्देश के लिये सूत्र कहते हैं –

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ।।1–2।।

अर्थ :– तत्त्व (अपने-अपने स्वरूप) के अनुसार निश्चय किये गये अर्थ (पदार्थ) का जो श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन है ।

तत् शब्द सर्वनाम पद है, अत: सामान्य वाचक है । त्व प्रत्यय उसके भाव के अर्थ में होता है तब तत्त्व बनता है। इसका यह अर्थ है कि जिस वस्तु का जो भाव होता है उसके वैसा ही होने को तत्त्व कहते हैं । तथा अर्यते इति अर्थ– जो प्रमाण नय के द्वारा निश्चिय किया जावे, उसे अर्थ कहते हैं। अत: तत्त्व अर्थात् यथावस्थितस्वरूप से निश्चित निर्बाध हो वह तत्त्वार्थ है। ऐसा अनेकान्तस्वरूप प्रमाण नय से सिद्ध (अर्थ) है, उसे तत्त्वार्थ कहते हैं । अथवा तत्त्व अर्थात् यथावस्थित वस्तु का अर्थ अर्थात् निश्चय करना ही तत्त्वार्थ है, अभेदविवक्षा से ऐसा भी अर्थ होता है। इसके श्रद्धान अर्थात् प्रतीति रूचि को तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। जीवादि तत्त्वार्थ हैं, उनका कथन आगे करेंगे ।

प्रश्न :– दृशि धातु देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अत: इसका अर्थ श्रद्धान कैसे हुआ ?

उत्तर :– धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अत: यह दोष नहीं है ।

पुन: वह कहता है – प्रसिद्ध अर्थ तो देखना ही है, उसे क्यों छोड़ा जावे ?

उससे कहते हैं – यहां मोक्षमार्ग का प्रकरण है, और इसमें मोक्ष का कारण आत्मा का परिणाम ही है, अत: वही ग्रहण करना युक्त है । यदि देखना अर्थ ग्रहण किया जावे तो देखना तो चक्षु आदि के निमित्त से अभव्य आदि सर्व जीवों को होता है, तब सब ही को मोक्ष का कारणपना प्राप्त होगा, अत: यह अर्थ ग्रहण नहीं किया है ।

प्रश्न :– अर्थ श्रद्धान ही क्यों नहीं कहा (तत्वार्थ श्रद्धान क्यों कहा) ?

उत्तर :– यदि ऐसा कहें तो सब ही अर्थों के ग्रहण का प्रसंग आवेगा । धन को भी अर्थ कहते

हैं, प्रयोजन का नाम भी अर्थ है, सामान्य वस्तु को भी अर्थ कहा जाता है, उनका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन ठहरेगा । इसलिये उससे भिन्न बताने के लिये अर्थ के साथ तत्त्व विशेषण लगाया है ।

प्रश्न :– तो फिर तत्त्वश्रद्धान ही क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :– ऐसा कहने पर अनर्थ अर्थात् सर्वथा एकान्तवादियों द्वारा कल्पित अर्थ का भी प्रसंग आवेगा, तथा भावमात्र का भी प्रसंग आवेगा। कोई वादी सत्ता, गुणत्त्व और कर्मत्त्व को ही तत्त्व कहते हैं, अथवा तत्त्व (एक ही वस्तु जिसमें किसी का मिश्रण न हो) को भी तत्त्व कहते हैं, उसका भी प्रसंग आवेगा । कई ऐसा भी कहते हैं कि पुरुष ही सर्व वस्तु है, अत: उन सबसे भिन्न जो अनेकान्तात्मक वस्तु का स्वरूप है, उसको जनाने (ज्ञान कराने) के लिये तत्त्वार्थ का ग्रहण किया है।

ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है । एक सरागसम्यक्त्व, दूसरा वीतराग सम्यक्त्व । इनमें जो प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य – इन चार भावों द्वारा प्रगट हो, वह तो सराग सम्यक्त्व है । अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी संबंधी रागद्वेष आदि का तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का जहाँ उदय न हो उसे **प्रशम** कहते हैं । पंच परिवर्तन रूप संसार से भय उत्पन्न होने को संवेग कहते हैं। त्रस स्थावर प्राणियों के प्रति दया होने को **अनुकंपा** कहते हैं । जीवादि तत्त्वों को युक्ति आगम द्वारा (परीक्षा कर) जैसा का तैसा अंगीकार करना, मानना **आस्तिक्य** कहलाता है। ये चारों चिह्न सम्यग्दर्शन का ज्ञान कराते हैं एवं सम्यग्दर्शन के कार्य हैं, क्योंकि कार्य से कारण का अनुमान होता है। ये सम्यग्दर्शन स्वयं के तो स्वसंवेदन से जाना जाता है और पर (अन्य) के क्रियाविशेष से जाना जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यादृष्टि के ऐसे (लक्षण) होते नहीं ।

यहाँ कोई कहे – क्रोध का उपशम तो मिथ्यादृष्टि को भी होता है, उसके भी प्रशम ठहरेगा।

उसको **उत्तर** देते हैं – मिथ्यादृष्टियों के अनन्तानुबंधी मान का उदय है। सर्वथा एकान्त तत्त्व मिथ्या है, उसमें सत्यार्थ का अभिमान है । (उसके) अनेकान्तात्मक तत्व में द्वेष का अवश्य सद्भाव है, और (वह) स्थावर जीवों का घात भी निशंकपने करता है, अत: प्रशम भी नहीं है, और संवेग अनुकंपा भी नहीं है।

यहाँ **कोई कहता है** – स्थावर जीवों का घात तो अज्ञान में सम्यग्दृष्टि के भी होता है, तब उसको अनुकंपा कैसे कही जा सकती है ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को जीवतत्त्व का ज्ञान है, अत: अज्ञान से तो घात में प्रवृत्ति है नहीं। चारित्रमोह के उदय में अविरति, प्रमाद से घात होता है, पर उसे यह अपना अपराध मानता है। ऐसा तो है नहीं कि ये जीव ही नहीं (जीव को जीव ही न मानता हो), तथा जीवों के घात से क्या बिगाड है ? यदि ऐसा माने तो मिथ्यात्व का ही (उसको) सद्भाव है।

यदि कहा जावे कि उसको अपने माने हुये तत्त्वों में आस्तिक्य है।

तो उत्तर यह है – मिथ्यादृष्टि तत्त्व की सर्वथा एकान्त श्रद्धा करता है, वहाँ आस्तिक्य है तो मिथ्यात्व अति दृढ हुआ, क्योंकि सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है, तथा प्रत्यक्ष और प्रमाण से बाधित है। अत: जो सर्वथा एकान्त का श्रद्धान करते हैं, वे अरिहन्त के मत के बाहर हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, नास्तिक हैं।

पुन: **प्रश्न** – सम्यग्दर्शन के जो प्रशम आदि चिन्ह कहे, उनको स्वयं के स्वसंवेदन गोचर कहे, उनसे सम्यक्त्व का अनुमान होना कहा, तो तत्त्वार्थश्रद्धान ही को स्वसंवेदन गोचर क्यों न कहा।

उत्तर – तत्त्वार्थश्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन है वह दर्शनमोह के उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय से जो आत्मस्वरूप का लाभ होता है, उसको कहते हैं। यह छद्मस्थ के स्वसंवेदनगोचर नहीं है और प्रशमादि स्वसंवेदन गोचर है, इसलिए इनसे ही सम्यग्दर्शन का अनुमान करना। ये अभेदविवक्षा में सम्यग्दर्शन से अभिन्न है, तथापि भेद विवक्षा से भिन्न है, क्योंकि ये सम्यग्दर्शन के कार्य हैं, और कारणों से कार्य का अनुमान होता है। कुछ वादि सम्यग्ज्ञान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, उन्हें ज्ञान से भिन्न जनाने के लिये सम्यग्दर्शन के कार्य जो प्रशम आदि हैं, उन्हें अलग कहा। इन (चिन्हों) से उसे (ज्ञान को) भिन्न जान लेना।

कोई कहे – प्रशम आदि में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की शरीर आदि की क्रियाओं का व्यवहार समान दिखाई देता है, वहां निर्णय कैसे करें ?

उत्तर – स्वयं को जैसे दिखे वैसे अन्य का भी परीक्षण करके निर्णय करना। तथा वीतराग के सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के विशुद्ध परिणाम से ही गम्य (जाना जाता) है। वहां प्रशम आदि का अधिकार नहीं है।

इस तरह तत्त्वार्थश्रद्धान दर्शनमोह रहित आत्मा का परिणाम ही सम्यग्दर्शन है। इससे कुछ अन्यवादि जो इच्छा आदि कर्म के परिणाम को सम्यग्दर्शन कहते हैं, उनका निराकरण हुआ, क्योंकि कर्म का परिणाम, कर्म के अभावरूप जो मोक्ष है, उसका कारण नहीं हो सकता।

आगे जीवादि तत्त्वार्थगोचर सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर सूत्र से कहते हैं –

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।1–3।।

अर्थ :– (तत्) वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से उत्पन्न होता है।

निसर्ग स्वभाव को कहते हैं। अधिगम अर्थ (वस्तु) के ज्ञान को कहते हैं। इन दोनों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति रूप क्रिया के लिये कारण कहा है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दोनों से उत्पन्न होता है, ऐसा समझना।

प्रश्न :– निसर्गज सम्यग्दर्शन में अर्थ का ज्ञान है या नहीं ? यदि है तो यह भी अधिगमज हुआ, और यदि अर्थावबोध नहीं है तो बिना जाने तत्त्वार्थ में श्रद्धान कैसे हुआ ?

उत्तर :– दोनों ही सम्यग्दर्शनों में अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय तो तीनों ही समान है। इनके होने पर जो बाह्य पर के उपदेश के बिना हो उसे तो निसर्गज कहते हैं और जो पर के उपदेशपूर्वक हो उसे **अधिगमज** कहते हैं, इनमें यह भेद है। इस सूत्र में तत् शब्द का ग्रहण पहले सूत्र में सम्यग्दर्शन कहा उसके ग्रहण के लिये कहा है।

कोई कहे संलग्न सूत्र में कहा है, अत: उसका ग्रहण तो तत् शब्द के बिना ही हो जाता है।

उसको कहते हैं :– यहां मोक्षमार्ग का प्रकरण है, और मोक्षमार्ग प्रधान है, अत: तत् शब्द के न होने पर उसके ग्रहण का प्रसंग आता है, अत: इसके प्रसंग को दूर करने के लिये तत् शब्द है, क्योंकि ज्ञान और चारित्र में दो हेतु नहीं बनते हैं। कैसे ? केवलज्ञान तो श्रुतज्ञान पूर्वक होता है, अत: निसर्गजपना संभव नहीं है। एवं श्रुतज्ञान परोपदेशपूर्वक ही है। स्वयंबुद्ध को श्रुतज्ञान होता है, वह भी जन्मान्तर उपदेशपूर्वक है। अत: इसको भी निसर्गजपना संभव नहीं है। तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान निसर्गज ही हैं, इनके अधिगमजपना है नहीं।

कोई कहे :– ज्ञान सामान्य तो दोनों हेतुओं से उत्पन्न होता है, ऐसा सिद्ध हुआ।

उत्तर :– यहाँ सामान्य की अपेक्षा नहीं है, विशेष की अपेक्षा है। तीनों प्रकार के दर्शन के भेदों में दोनों हेतु संभव हैं, उस प्रकार ज्ञान के भेदों में अलग अलग में दोनों हेतु होते नहीं। और चारित्र है वह अधिगमज ही है, क्योंकि श्रुतज्ञान पूर्वक है। अत: मोक्षमार्ग से संबंध न लिया जावे इसके लिये तत् शब्द कहा है।

प्रश्न :– निसर्ग भी ज्ञान का नाम है, अधिगम भी ज्ञान ही का नाम है, इनमें केवल उपदेश के बिना और उपदेश से होने मात्र का ही भेद है। ऐसा होने से ज्ञान ही से सम्यक्त्व का उत्पन्न होना निश्चित हुआ। ज्ञान ही कारण सिद्ध हुआ। तथा सिद्धान्त ऐसा है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान युगपत होते हैं, तब यह कैसे (ऐसा कैसे हो सकता है) ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने योग्य ज्ञान, ज्ञानावरणी के विशेष से बाह्य परोपदेश से पहले होता है, उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त करता है, अत: यह अपेक्षा जानना।

इसकी उत्पत्ति का विशेष ऐसा है – अन्तरंग में तो दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, क्षय हो, और बाहर में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि समस्त कारण मिलें तब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है।

यहां कोई पूछता है – दर्शनमोह के उपशम आदि कारण हैं, तब (सम्यग्दर्शन) सब ही प्राणियों

को सदा ही क्यों नहीं होता ?

उत्तर :– दर्शनमोह का उपशम आदि करने वाले भी प्रतिपक्षी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं।

वे कौन हैं, ये बतावें ?

जिनेन्द्र के बिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवशरण आदि क्षेत्र हैं, अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन आदि काल हैं, अध:प्रवृत्तिकरण आदि भाव हैं । इनके होने पर दर्शनमोह आदि के उपशम आदि होते हैं । पर इनका निमित्त होना भव्य जीव के ही होता है । अभव्य के नहीं होता, ऐसा वस्तु स्वभाव है । इस तरह निकट भव्य के दर्शनमोह का उपशम आदि अंतरंग कारण होने पर तथा बाह्य निसर्ग अथवा अधिगम ज्ञान होने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है ।

तत्त्व क्या हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर तत्त्वों को बताते हैं :–

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।1–4।।

अर्थ :– (1) जीव (2) अजीव (3) आश्रव (4) बंध (5) संवर (6) निर्जरा (7) मोक्ष – ये सात हैं, वे तत्त्व हैं। उनमें **जीव** तो चेतन लक्षणवाला है । यह चेतना ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना इस प्रकार अनेक रूप है । इससे उल्टा चेतनरहित हो वह **अजीव** है । शुभ अशुभ के आगमन के द्वार रूप **आस्रव** है । जीव और कर्म प्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह रूप संबंध **बंध** है । आस्रव का रुकना **संवर** है । एकदेश कर्मों का क्षय होना **निर्जरा** है । समस्त कर्मों का वियोग (क्षय) हो जाना **मोक्ष** है । इनका विस्तृत व्याख्यान आगे किया गया है । इनमें सर्वफ ल का आश्रय आत्मा है, अत: सूत्र के आदि में जीव को कहा । इसको उपकारी अजीव है, अत: उसके तुरन्त बाद ही अजीव कहा। जीव अजीव दोनों के संबंध से आस्रव होता है, अत: उसके अनन्तर आस्रव कहा । आस्रव पूर्वक बंध होता है, अत: उसके बाद बंध कहा । संवर होने पर बंध का अभाव होता है, अत: उसके बाद संवर कहा । संवर पूर्वक निर्जरा होती है, अत: उसके तुरन्त बाद निर्जरा को कहा । अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत: अन्त में मोक्ष को कहा । इस तरह इसके पाठ का क्रम है ।

कोई कहे – इन में पुण्य पाप का भी ग्रहण करना योग्य था, अन्य आचार्यों ने भी नव पदार्थ कहे हैं ।

उससे कहते हैं – पुण्य – पाप, आस्रव – बंध में गर्भित हैं, अत: इनका ग्रहण नहीं किया ।

पुन: वह कहता है – यदि ऐसा है तो आस्रव आदि भी जीव – अजीव में गर्भित हैं, दो ही तत्त्व कहने थे ।

समाधान :– यहां विशेष प्रयोजन है वह बताते हैं । यहां प्रकरण मोक्ष का है , अत: मोक्ष को तो अवश्य कहना ही था । तथा मोक्ष है वह संसारपूर्वक है । संसार के लिये प्रधान कारण आस्रव बंध हैं, अत: उन्हें कहना ही चाहिये, और मोक्ष के प्रधान कारण संवर निर्जरा है, उन्हें भी कहना ही ।

अत: प्रधान कारण कार्य की अपेक्षा इन्हें अलग कहा है । इनके सामान्य में अन्तर्भूत होते हुये भी विशेष का कथन प्रयोजन के आश्रय है । जैसे सेना में क्षत्रिय एकत्रित हों तब कहें – सब आये हैं तथा बडे सुभट हैं वे भी आये हैं – ऐसा ही यहाँ जानना ।

तथा कोई **तर्क** करे – सूत्र में तत्त्व शब्द तो भाववाची एकवचन नपुंसक लिंग है, एवं जीवादि द्रव्यवाचक, बहुवचन, पुरुषलिंग कहे हैं, वह कैसे ?

उत्तर :– द्रव्य और भाव तो अभेदरूप हैं, अत: दोष नहीं है । तथा लिंग, संख्या, तत्त्व शब्द भाववाची हैं, वहां एकवचन ही होता है, तथा नपुंसकलिंगी है, अत: अपनी लिंग संख्या को छोडते नहीं, अत: दोष नहीं हैं । ऐसा ही सूत्र में जानना ।

यहां विशेष कथन करते हैं – मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रद्धान के विषय सात तत्त्व ही हैं । कई अन्यवादी एक ही तत्त्व कहते हैं । कई प्रकृति और पुरुष दो (तत्त्व) कहकर इनके पच्चीस (25) भेद कहते हैं । कई द्रव्यगुण आदि सात पदार्थ कहते हैं। कई पृथ्वी आदि पांच तत्त्व कहते हैं । कई प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ कहते हैं। तथा एक द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक होता है। इस प्रकार द्रव्य अनन्त हैं । ऐसे में आचार्य मध्यम मार्ग ग्रहण कर कथन करते हैं । संक्षेप में कहें तो विशेष ज्ञानी ही समझ पावें । विस्तार से कहें तो कहां तक कहें । अत: आवश्यक रूप से जो श्रद्धान के विषय थे उनका ही कथन किया है । कई कहते हैं कि एक जीव ही तत्त्वार्थ है, जो अयुक्त है । अन्य के जीव की सिद्धि वचन से कराई गयी है । वचन तो अजीव है । यदि वचन को भी जीव कहा जावेगा तो उसको स्वसंवेदन होना चाहिये, जो है नहीं ।

वह कहता है कि दूसरा जीव हो तो उसको स्वसंवेदन अर्थात् (भी वही) एक ही परमात्मा है। वही अविद्या से बहुत दिखता है ।

उससे कहते हैं जीव तो बहुत हैं, उसको अविद्या से एक ही दिखता है । यदि तुम कहोगे – मेरे से अन्य दूसरा कोई नहीं है – तो दूसरा भी कहता है – मेरे से अन्य कोई नहीं है । ऐसा कहने से तो सर्वशून्यता का प्रसंग प्राप्त होगा । यदि कहो – मेरे से अन्य दूसरा है या नहीं है ? ऐसा संशय है, तब अद्वैत का भी निर्णय नहीं होगा । यदि कहोगे – आगम से एक पुरुष की सिद्धि है – तो उसको कहते हैं कि हमारे आगम से नाना पुरुष की सिद्धि है । प्रत्यक्ष प्रमाण से हमारा आगम तो सिद्ध होता है, पर एक पुरुष कहनेवाला आगम प्रत्यक्ष प्रमाण से मेल नहीं खाता । जिस प्रकार वचन अजीव हैं, वैसे अजीव भी पृथ्वी आदि बहुत हैं । तथा जीव को काय आदि की क्रियारूप आस्रव बंध है वह पुरुष का भी धर्म है । क्योंकि यदि जड़ का ही धर्म हो तो पुरुष बंध का फल क्यों पावे । तथा संवर निर्जरा मोक्ष हैं, वे भी जीव के धर्म हैं । इस प्रकार पांचों ही तत्त्व जीव अजीव इन दोनों के धर्म हैं । वे श्रद्धान के,

ज्ञान के, चारित्र के विषय हैं। अन्य सर्व विषय इनमें अंतर्भूत हैं।

आगे कहते हैं कि इस प्रकार कहे गये जो सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि तत्त्व हैं, उनका लोकव्यवहार में व्यभिचार आता है। नाम मात्र को भी जीव कहते हैं। स्थापनामात्र को भी जीव कहते हैं। द्रव्य को भी जीव कहते हैं। भाव को भी जीव कहते हैं। अत: इनका यथार्थ स्वरूप समझे बिना अन्यथापना आता (अन्यथा प्रकार समझ लेना संभव) है। इसके निराकरण के लिये सूत्र कहते हैं –

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यास: ।। 1–5 ।।

अर्थ :– नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चारों से उन जीवादि पदार्थों का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है। जिस वस्तु में जो गुण नहीं पाये जावें उनमें लोकव्यवहार की प्रवृत्ति के लिये अपने उपयोग से नाम रख लेना, उसको नाम कहते हैं। यहां गुण शब्द से द्रव्य, कर्म, जाति आदि सब को ग्रहण कर लेना। जैसे जाति अपेक्षा नाम तो गऊ, अश्व, घट हैं। गुण अपेक्षा जैसे किसी को धवल गुण के कारण धवल कहना। कर्म अपेक्षा जैसे चलते को चलता कहना। द्रव्य अपेक्षा जैसे जो कुण्डल द्रव्य पहने हो उसे कुण्डली कहना अथवा दंड लिये हो उसे दंडी कहना। इनके बिना वक्ता अपनी इच्छा से वस्तु का नाम रखले, उसे **नाम निक्षेप** कहते हैं। जैसे किसी पुरुष का नाम हाथीसिंह ऐसा रख लिया, उसमें हाथी के अथवा सिंह के द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति कुछ भी नहीं पाये जाते, वक्ता की इच्छा ही प्रधान (इस प्रकार कहने – नाम रखने में तो वक्ता की इच्छा मात्र ही कारण) है।

यहां कोई **प्रश्न** करे – नाम का व्यवहार अनादिरूढ है, जैसे जाति यह जाति का नाम, गुण यह गुण का नाम, कर्म यह कर्म का नाम, इत्यादि ये नाम किस प्रकार हैं ?

उत्तर :– अनादि से ही वक्ता है, अनादि से ही नाम हैं। प्रधान गुणपने का विशेष है, वहां वक्ता वस्तु के गुण आदि को प्रधान करके किसी का नाम कहे, वहां तो उस हेतु से नाम जानना। एवं जहां अपनी इच्छा ही को प्रधान करे, गुण आदि का आश्रय न ले, वहां नाम निक्षेप जानना।

यहां **बौद्धमती** कहता है – नाम में वक्ता की इच्छा ही कारण है, गुण आदि तो वस्तु के निजस्वभाव नहीं हैं, कल्पित हैं।

उत्तर – यह अयुक्त है। गुण आदि तो प्रतीति से सिद्ध हैं, प्रतीति का लोप करना प्रमाण नहीं है। वस्तुओं में अन्य वस्तु से समान परिणाम हैं, उसे जाति कहते हैं। जैसे गऊ जाति अपेक्षा सभी गऊ समान हैं। एवं गुण पर्याय का जो आश्रय है, उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे पीत आदि गुणों और कुण्डल आदि पर्यायों का आश्रय स्वर्ण है। पीतता आदि को गुण कहा जाता है। क्रिया को कर्म कहा जाता है, जैसे चलते हुये को चलता कहना। इस तरह ये (गुण आदि) प्रतीति से सिद्ध हैं। इनकी विशेष चर्चा श्लोकवार्तिक से जान लेना।

काष्ट कर्म, पुस्त कर्म, चित्र कर्म और अक्ष निक्षेप आदि में यह वह है – ऐसी स्थापना कर लेने को **स्थापना निक्षेप** कहते हैं। यहां प्रयोजन ऐसा है कि पहले नाम लेकर फिरअन्य वस्तु में अन्य की प्रतिष्ठा करना। इसके दो भेद हैं –(1) सद्भाव स्थापना (2) असद्भाव स्थापना। भावरूप वस्तु की उसके समान प्रतिमा, जिसमें मुख्य आकार इस प्रकार का हो कि देखने वाले के भावरूप (वस्तु) की बुद्धि ऊत्पन्न हो जावे, उसे सद्भाव स्थापना कहते हैं। तथा मुख्य आकार से शून्य वस्तुमात्र हो, उसे असद्भावस्थापना कहते हैं। इसमें अन्य के उपदेश (कथन) ही से – यह भावरूप वस्तु है – ऐसा जाना जाता है। यहां ऐसा जानना कि नाम निक्षेप में तो लोक द्वारा आदर तथा उपकार की वांछा नहीं होती और स्थापना निक्षेप में आदर उपकार की वांछा देखी जाती है। कोई स्थापना तो ऐसी है, जो बहुत काल तक रहती है, तथा कुछ (स्थापना) ऐसी की जाती हैं, जो अल्प काल ही रहती हैं।

प्रश्न :– अरिहन्त आदि की असद्भाव स्थापना अन्य वस्तु में की जावे या नहीं ?

उत्तर :– इस हुंडावसर्पिणी काल में नहीं करना, क्योंकि अन्यमती अनेक देवों की अतदाकार मूर्ति स्थापित करते हैं, वहां यह निश्चय नहीं होता कि यह मूर्ति किस की है। अन्य मुख्य आकार जिसे देखते ही वीतराग मुद्रा की बुद्धि उत्पन्न हो जावे, अरिहन्त आदि की ऐसी ही स्थापना युक्त है। वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि का ऐसा ही कथन है, उनने ही (ऐसी स्थापना का) निषेध किया है। मुख्य आकार में भी काष्ठ आदि में स्थापना से संघभेद हो गया है , तो अतदाकार (स्थापना) की तो बात ही क्या ?

तथा गुण जिसे परिणमावे अथवा जो गुणरूप परिणमे उसे **द्रव्य** कहते हैं। यहां अर्थ ऐसा जानना – जो वस्तु अगली पर्याय की प्राप्ति के लिये स्वयं ही सन्मुख हो उसे द्रव्य कहते हैं। उसके दो भेद हैं –(1) आगम द्रव्य निक्षेप (2) नो आगम द्रव्य निक्षेप। जिसका निक्षेप करो उस वस्तु का कथन करने वाले शास्त्र को जानने वाला आत्मा जिस काल में उस शास्त्र में उपयोग रहित हो, उस आत्मा को उस वस्तु का आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं। एवं नो आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं –(1) ज्ञायक शरीर – इसके अतीत, अनागत, वर्तमानरूप तीन भेद हैं। (2) भावि नोआगमद्रव्य निक्षेप (3) इन दोनों से भिन्न, जिसे तद्व्यतिरिक्त कहते हैं – इसके भी कर्म, नोकर्म ये दो भेद हैं। जिस वस्तु का निक्षेप किया जावे उसके व्याख्यान के शास्त्र को जानने वाले पुरुष के वर्तमान शरीर को भी उसका निक्षेप कहा जाता है, आगामी जितने काल रहेगा उसे भी कहा जाता है, तथा जीव के पर्याय छोडने के बाद मृत शरीर को भी कहा जाता है, क्योंकि लोक में ऐसा व्यवहार है कि मृतशरीर के लिये भी कहा जाता है कि यह अमुक व्यक्ति है। तथा जिस वस्तु का निक्षेप किया जावे, उस ही को अगली पर्याय की अपेक्षा लेकर पहले ही कहना कि यह अमुक वस्तु है, उसे भावी नोआगम द्रव्य निक्षेप

कहते हैं। तथा जिसका निक्षेप किया जावे उसके कारणरूप ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म को तद्व्यतिरिक्त कर्म द्रव्य निक्षेप कहते हैं। आहार आदि पुद्गल के स्कंध जो शरीररूप परिणमने के लिये बाह्य कारण हैं, उन्हें तद्व्यतिरिक्त नो कर्म द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

वर्तमान जिस पर्याय से रहित जो द्रव्य हो उसे भावनिक्षेप कहते हैं। इसके दो भेद हैं –(1) आगम भाव (2) नो आगम भाव। जिस वस्तु का निक्षेप किया जावे उसके कथन के शास्त्र को जानने वाले पुरुष का जिस काल उस शास्त्र में उपयोग हो, उस काल में उस वस्तु का आगम भाव निक्षेप उस पुरुष को कहते हैं। एवं जो वस्तु जिस पर्याय में वर्तमान काल में है, उसे नो अगम भाव निक्षेप कहते हैं।

यहां उदाहरण बताते हैं :– जैसे जीव शब्द का अर्थ (वस्तु) लो, वहां जीवन गुण आदि की अपेक्षा लिये बिना किसी अजीव को ही जीव नाम से पुकारा जावे, उसे जीव का नाम निक्षेप कहते हैं।(इस प्रकार अजीव को जीव कहना नामनिक्षेप है) तथा जीव को पर्याय विशेष से देखा जावे तब मनुष्य आदि जीव निक्षेप कहे जाते हैं। तथा काष्ट, चित्राम आदि की मूर्तियों में जीव की तथा मनुष्य आदि जीव की स्थापना करना स्थापना जीव है। एवं द्रव्य जीव दो प्रकार का है। वहां जीव के कथन के शास्त्र को जानने वाला पुरुष उस शास्त्र में उपयोग रहित हो उसे आगम जीव द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

नो आगम द्रव्य जीव तीन प्रकार का है। जीव के कथन के शास्त्र को जानने वाले पुरुष के भूत, भविष्य, वर्तमान तीन प्रकार के शरीर को नो आगम द्रव्य का पहला भेद ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य जीव कहते हैं। मनुष्य जीव आदि का भी (निक्षेप) ऐसे ही जानना। सामान्य जीव नो आगम भावि द्रव्य तो है ही नहीं, क्योंकि जीवन भाव से सदा विद्यमान है। तथा विशेष अपेक्षा मनुष्य आदि भावि नो आगम द्रव्य जीव अपेक्षा लगाया जावे, तहां किसी जीव ने मनुष्य पर्याय में देव आयु कर्म का बंध किया, वह अवश्य देव होगा, अत: मनुष्य पर्याय में ही उसे देव कहने को भावि नोआगम देव जीव कहा जाता है। तद्व्यतिरिक्त के दो भेद हैं। वहां सामान्य जीव अपेक्षा तो किसी कर्म के उदय से जीव होता नहीं और विशेष जीव अपेक्षा मनुष्य नामक नाम कर्म के द्रव्य को मनुष्य नाम तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य मनुष्य जीव कहना तद्व्यतिरिक्त का भेद है। तथा मनुष्य आहार आदि करता है, जिससे शरीर की वृद्धि होती है, यह नो कर्म है, अत: आहार आदि को तद्व्यतिरिक्त का दूसरा भेद नोकर्मद्रव्य जीव कहा जाता है।

तथा भावजीव दो प्रकार का है। वहां जीव के कथन के शास्त्र को जानने वाला पुरुष जिस काल उस शास्त्र में उपयोग सहित हो उसे आगम जीव कहके हैं। विशेषे अपेक्षा में मनुष्य जीव का कथन करने वाले शास्त्र के जानने वाला उसमें उपयोग सहित हो तब मनुष्य आगम भाव जीव निक्षेप कहा जाता है। तथा जीव पर्याय से सदा विद्यमान है वह नोआगमजीव है। विशेष अपेक्षा से मनुष्य जीव पर्याय विद्यमान हो तब मनुष्य नो आगम भाव जीव है। इस ही प्रकार अन्य जीवादि पदार्थों के

निक्षेपविधि लागू करना । यहां प्रयोजन ऐसा है कि लोकव्यवहार में कोई नाम को भाव समझ जावे तथा स्थापना को भाव आदि जान ले तो उसे यर्थाथ समझाने के लिये यह निक्षेप विधि है, ऐसा जानना। तथा सूत्र में तत् शब्द है वह सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सब ही पदार्थों के ग्रहण के लिये है, सभी पर निक्षेप लगाना । द्रव्यार्थिक नय से नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप हैं और पर्यायार्थिक नय से भावनिक्षेप है ।

आगे नाम आदि निक्षेपविधि से कहे आकाररूप सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों का यथार्थ अधिगम कैसे होता है ? यह प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं :-

प्रमाणनयैरधिगमः ।। 1-6 ।।

अर्थ :- प्रमाण और नय से जीव आदि पदार्थों का अधिगम होता है ।

नाम आदि निक्षेप विधि से ग्रहण किये गये जीवादि के यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से तथा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों से होता है । वहां प्रमाण और नयों के लक्षण तथा भेद आगे बतावेंगे । प्रमाण दो प्रकार का होता है -(1) स्वार्थ (2) परार्थ । स्वार्थ प्रमाण तो ज्ञान स्वरूप है और परार्थ वचनरूप है । वहां चार ज्ञान तो स्वार्थरूप है और श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी है । अत: स्वार्थ परार्थ दोनों प्रकार का है । तथा श्रुतप्रमाण के भेद विकल्प हैं, उन्हें नय कहते हैं ।

यहां **प्रश्न :-** नय शब्द में अक्षर कम हैं; अत: द्वंद समास में पहले कहा जाना चाहिये ।

उत्तर :- प्रमाण प्रधान है , पूज्य है । सभी नय प्रमाण के अंग हैं, इसलिये इस प्रकार कहा है। वस्तु को प्रमाण से ग्रहण करके फि र सत्त्व, असत्त्व, नित्य, अनित्य इत्यादि परिणाम के विशेष से अर्थ का (पदार्थ का) निश्चय करना नय है । तथा प्रमाण सकल धर्म और धर्मी को विषय करता है। अत: कहा है कि सकलादेश तो प्रमाण के अधीन है और विकलादेश नय के अधीन है । अत: प्रमाण को ही पहले कहना युक्त है ।

नय के दो भेद कहे थे । पर्यायार्थिक नय से तो भावतत्व को ग्रहण करना और नाम, स्थापना, द्रव्य इन तीनों को द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करना, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय तो सामान्य को ग्रहण करता है । द्रव्य जिसका प्रयोजन है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । ये सब (द्रव्य और पर्याय) मिलकर प्रमाण के विषय हैं (जाने जाते हैं) ।

यहां प्रश्न :- जीवादि का अधिगम (ज्ञान) तो प्रमाण और नय से करें, तब प्रमाण नय का अधिगम किससे करें ? यदि अन्य प्रमाण नय से (अधिगम) किया जाना है तो अनवस्था दोष होगा, और यदि स्वयं ही करें तो सब ही पदार्थों का अधिगम स्वयं ही होगा, प्रमाण नय निष्फल सिद्ध होंगे।

उत्तर :- प्रमाण नय का अधिगम अभ्यास की अपेक्षा तो स्वयं से ही कहा है । अभ्यास की

अपेक्षा के बिना (अधिगम) पर से कहा है। अत: दोष नहीं है।

पुन: प्रश्न :– प्रमाण तो अंशी को ग्रहण करता है और नय अंशों को ग्रहण करते हैं, तथा अंशों से भिन्न कोई अंशी पदार्थ तो भाषित नहीं होता। अंशों के समुदाय में अंशी की कल्पना है, और यह कल्पना असत्यार्थ है।

उत्तर :– प्रथम तो प्रत्यक्षबुद्धि में अंशी स्थूल स्थिर एक साक्षात् प्रतिभासित होता है, उसे कल्पना कैसे कहा जा सकता है ? यदि कल्पना हो तो एक कल्पना से दूसरी कल्पना होने पर उसका सद्भाव इंद्रिय गोचर कैसे रहे ? एवं कल्पित के लिये क्रियाशक्ति कैसे हो ? तथा कल्पित प्रत्यक्ष ज्ञान में स्पष्ट कैसे भासित हो ? अत: अंशों के समुदायरूप अंशी सत्यार्थ है, कल्पित नहीं है। अंश अंशी में कथंचित भेद है, कथंचित अभेद है। यदि सर्वथा भेद ही अथवा अभेद ही मानते हैं, उनके ऐसा मानने में दूषण आता है। स्याद्वादियों के दूषण नहीं आता।

यहां उदाहरण :– जैसे एक मनुष्य जीव नामक वस्तु है, उसके शरीर में मस्तक, ललाट, कान, नांक, नेत्र, मुख, होठ, गला, कंधे, भुजा, हाथ, अंगुलियां, छाति, पेट, नाभी, नितम्ब, लिंग, जांघें, घुटने, पिंडी, टकूंण्या, पांव, पगथली, अंगुलियां आदि अंग और उपांग हैं। इन्हें अवयव भी कहा जाता है, अंश भी कहा जाता है, धर्म भी कहा जाता है। तथा गोरा, सांवला आदि वर्ण हैं, जिन्हें गुण कहा जाता है। बालक, कुमार, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। इन सबका समुदाय कथंचित् भेदाभेद वस्तु है, उसे अवयवी कहते हैं, अंगी कहते हैं, अंशी कहते हैं, धर्मी कहते हैं। ऐसे अंशी को कल्पित कैसे कहा जा सकता है ? कल्पित होगा तो प्रत्यक्ष बुद्धि में स्पष्ट कैसे भासित होगा ? एवं उसमें अनेक कार्य करने की शक्तिरूप अर्थक्रिया की शक्ति कैसे होगी ? सर्वथा भेदरूप अंशों ही में पुरुष के करने योग्य कार्यों की शक्ति नहीं है। तथा इस मनुष्य नाम वाले अंशी की कल्पना छूट कर अन्य वस्तु की कल्पना होने पर वह मनुष्य नामधारी वस्तु उत्तरकाल में जैसे की तैसे कैसे रहती ? अत: अंशी सत्यार्थ है, वह ही प्रमाणगोचर भेदाभेद रूप में भासित होता है। तथा नय अंशों को ग्रहण करते हैं, वहां मनुष्य गौण हो जाता है।

जब केवल एक अभेद मात्र अंशी कहे जाने वाले को ग्रहण किया जाता है, तब तो द्रव्यार्थिक नय है, यहां अभेदपक्ष मुख्य है, भेदपक्ष गौण है। एवं जब भेदरूप अंशों को अलग – अलग ग्रहण किया जाता है, वहां पर्यायार्थिक नय है, यहां अभेदपक्ष गौण है, भेदपक्ष मुख्य है। वहां भी किसी एक अंश को मुख्य करने पर दूसरे अंश गौण हो जाते है। इस तरह सर्व ही जीवादि पदार्थ प्रमाण नय से सत्यार्थ प्रतिभासते (ज्ञान में जाने जाते) हैं। जो सर्वथा एकान्त का पक्ष है, वह कल्पना (मान्यता) मिथ्या है, क्योंकि कल्पना मात्र ही है। यह मिथ्यात्व कर्म के उदय में उत्पन्न होती है। वस्तु स्वरूप तो

कल्पित है नहीं । तथा नय हैं वे श्रुतज्ञान का अंश हैं । ये (नय) भी मति, अवधि, मन:पर्यय ज्ञान के अंश नहीं हैं, क्योंकि वचन के निमित्त से उत्पन्न हुये परोक्ष श्रुतज्ञान में ही विशेष होना संभव है, प्रत्यक्ष में विशेष होना संभव नहीं है । तथा प्रमाण नय से (निश्चित) हुऐ अपने स्वरूप के आकार तथा अन्य पदार्थों के आकार सहित निश्चय को अधिगम कहा जाता है । यह (अधिगम) प्रमाण का कथंचित अभेदरूप फल है ।

कोई **वेदांतवादी** तथा **विज्ञानाद्वैतवादी** अपने स्वरूप के निश्चय को ही अधिगम कहते हैं । कई पर के निश्चय को ही (अधिगम) कहते हैं । उनके कथन बाधासहित हैं । कई ज्ञान को अर्थ (वस्तु) के आकार के समान होने को प्रमाण कहते हैं । उसके अभेदरूप अधिगम को फल कहते हैं । ऐसा भी सर्वथा एकान्तवादियों का कथन बनता (संभवता) नहीं है । ज्ञान अर्थ (वस्तु) के समान होता नहीं, ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है । अपनी स्वच्छता के कारण अन्य अर्थ को जानता है, तब तदाकार भी कहा जाता है । तथा कई नेत्र आदि इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं, वे भी बिना समझे कहते हैं । अचेतन इन्द्रियां प्रमाण कैसे हो सकती हैं । एवं भाव इन्द्रियां ज्ञानरूप हैं, वे प्रमाण के भेदों में आ ही गयी हैं।

तथा प्रमाण और नय से अधिगम होना कहा है वह भी ज्ञानात्मक और शब्दात्मक के भेद से दो प्रकार का है। उनमें ज्ञानात्मक तो पांच प्रकार का ज्ञान है, जिसे आगे कहेंगे। एवं शब्दात्मक (अधिगम) है वह विधि – निषेध स्वरूप है । उनमें कोई शब्द तो प्रश्न के वश विधि में ही प्रवर्तता है, जैसे समस्त वस्तुयें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिस्वरूप ही हैं । तथा कोई शब्द निषेध में प्रवर्तते है, जैसे समस्त वस्तुयें पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तिस्वरूप ही हैं । तथा कोई शब्द विधि निषेध दोनों में प्रवर्तता है, जैसे समस्त वस्तुयें अपने तथा पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा क्रम से अस्ति नास्ति स्वरूप हैं । तथा कोई शब्द विधि निषेध दोनों को अवक्तव्य कहता है, जैसे समस्त वस्तुयें अपने व पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा एक काल में अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप है, परन्तु एक काल में दोनों को कहा नहीं जा सकता, अत: अवक्तव्य स्वरूप है । तथा कोई शब्द विधि निषेध दोनों को क्रम से कहता है । एक काल में दोनों कहे नहीं जा सकते; अत: विधि अवक्तव्य, निषेध अवक्तव्य, तथा विधि निषेध अवक्तव्य में प्रवर्तता है । जैसे समस्त वस्तुयें अपने चतुष्टय से अस्तिस्वरूप है, वक्तव्य है, एक काल में स्वपरचतुष्टय अपेक्षा अवक्तव्य स्वरूप है, अत: अस्तिअवक्तव्य ऐसा कहा जाता है। तथा इसी प्रकार पर के चतुष्टय अपेक्षा नास्तिस्वरूप वक्तव्य है, एक काल में स्वपर चतुष्टय अपेक्षा अवक्तव्य है, अत: नास्ति अवक्तव्य ऐसा कहा जाता है । तथा इसी तरह क्रम से अस्तिनास्ति स्वरूप अपेक्षा वक्तव्य है, एक काल में दोनों अपेक्षा

अवक्तव्य है, इस कारण अस्तिनास्तिअवक्तव्य ऐसा कहा जाता है। इस तरह विधि-निषेध के सात भंगों से शब्द वस्तु को साधते हैं।

कोई **बौद्धमती** ऐसा कहते हैं कि वस्तु का निजस्वरूप तो वचन गोचर नहीं (वचनों से कहा नहीं जा सकता), प्रत्यक्ष गोचर है, अत: अवक्तव्य ही है। यह सर्वथा एकान्त युक्त नहीं है। सभी वस्तुयें समान परिणाम, असमान परिणाम रूप हैं। वहां जो समान परिणाम हैं वे तो वचनगोचर हैं, एवं सर्वथा असमान परिणाम शुद्ध द्रव्य, शुद्ध पर्याय, और अगुरुलघु गुण के अविभागी प्रतिच्छेदरूप पर्याय हैं, वे किसी भी द्रव्य के समान नहीं हैं, अत: वचनगोचर नहीं हैं, क्योंकि वचन के परिणाम तो संख्यात ही हैं और ये असमान परिणाम अनन्तानन्त हैं, इसलिये वचन में इनकी संज्ञा आ नहीं सकती, अत: अवक्तव्य ही है। इस तरह वस्तु का स्वरूप वक्तव्यावक्तव्यरूप है। तथा वाक्य में ऐसे ही है ऐसा नियम वचन भी चाहिये, क्योंकि नियम के कहे बिना वचन कहा हुआ भी न कहे के समान है। और नियम कहने पर अन्य का निषेध होता है, अत: अपने अर्थ का नियम कहने के लिये अन्य शब्द की सहायता चाहिये। एवं अनेकान्त के प्रकाशन के लिये स्यात् शब्द का प्रयोग भी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि सर्वथा एकान्त का निराकरण कथंचित् वचन से ही होता है, अत: इसका वाचक स्यात् ऐसा निपात शब्द है, जिसे सभी नय तथा प्रमाण के वाक्य के आरम्भ में कहना चाहिये।

यहां उदाहरण :- स्यादस्त्येव जीवादि: स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात्। स्यान्नास्त्येव जीवादि: परद्रव्यक्षेत्रकालभावात्। स्यादास्तिनास्त्येव जीवादि: क्रमेण स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावात्। स्यादवक्तव्य एव जीवादि: युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावात्। स्यादस्त्यवक्तव्य एव जीवादि: स्वचतुष्टयाद्युगपद्स्वपरचतुष्टयाच्च। स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव जीवादि: परचतुष्टयात् युगपत्स्वपरचतुष्टयाच्च। स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव जीवादि: क्रमेण स्वपरचतुष्टयात् युगपत्स्वपरचतुष्टयाच्च। इत्यादि सर्व पदार्थों के वाक्य जानना।

तथा प्रमाण वाक्य तो सकलादेशी है, और नय वाक्य विकलादेशी है। सकलादेश तो प्रमाण के अधीन है, और विकलादेश नय के अधीन है। ऐसा कैसे है ? यह बताते हैं - सकलादेश अशेष धर्मात्मक वस्तु है उसे युगपत् कालादि से, अभेदवृत्ति से अथवा अभेद उपचार से कहता है, इसलिये यह प्रमाण के अधीन है। और विकलादेश क्रम से, भेदोपचार से अथवा भेद को प्रधान करके कहता है, इसलिये वह नयाधीन है। यदि अस्तित्व आदि धर्मों को काल आदि की अपेक्षा से भेद विवक्षा करें तब एक ही शब्द के अनेक अर्थों की प्रतीति उपजाने में असमर्थता है, अत: क्रम से कहते हैं। तथा यदि अस्तित्व आदि धर्म काल आदि अपेक्षा अभेदवृत्ति से कहे जावें तो एक ही शब्द से अनेक धर्मों की प्रतीति उपजाने की मुख्यता से कहें वहां यौगपद्य है।

वे काल आदि कौन हैं ?

(1) काल (2) आत्मरूप (3) अर्थ (4) सम्बन्ध (5) उपकार (6) गुणिदेश (7) संसर्ग (8) शब्द - ये आठ हैं । उदाहरण -'स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव' ऐसा वाक्य है । इसका अर्थ :- कथंचित जीवादि वस्तु अस्तिरूप ही है । यहां जो काल अस्तित्व का है वही काल एक वस्तु में अवशेष अनन्त धर्मों का है । इस प्रकार काल से अभेदवृत्ति है । एवं जो अस्तित्व से तद्गुणत्व आत्मरूप है वही अनन्त गुणों का है । इस तरह आत्मरूप से अभेदवृत्ति है । तथा जो द्रव्य नाम आधार अस्तित्व का है वह ही अन्य पर्यायों का है । इस तरह अर्थ से अभेदवृत्ति है । तथा जो ही कथंचित तादात्म्य स्वरूप अभेदभावसंबंध अस्तित्व का है, वह ही समस्त विशेषों का है । इस प्रकार संबंध से अभेदवृत्ति है । एवं जो ही स्वयं में अनुरक्त करना अस्तित्व का उपकार है, वह ही समस्त अन्य गुणों का है । इस प्रकार उपकार से अभेदवृत्ति है तथा जो गुणी देश अस्तित्व का है वही अन्य गुणों का है । इस प्रकार गुणिदेश से अभेदवृत्ति है । एवं ही एक वस्तुत्व स्वरूप से अस्तित्व का संसर्ग है वह ही अन्य समस्त धर्मों का है । इस तरह संसर्ग से अभेदवृत्ति है । एवं जो अस्ति शब्द अस्तित्वधर्म स्वरूप वस्तु का वाचक है, वह ही शेष रहे अशेष धर्मस्वरूप वस्तु का वाचक है । इस प्रकार शब्द अपेक्षा अभेदवृत्ति है।

इस प्रकार पर्यायार्थिक (नय) के गौण होने पर द्रव्यार्थिक नय को प्रधानता प्राप्त होती है । एवं द्रव्यार्थिक (नय) को गौण कर पर्यायार्थिक (नय) के प्रधान होने पर गुणों की काल आदि (उपरोक्त) अष्ट प्रकार की अभेदवृत्ति संभव नहीं है । वह ही बताते हैं - प्रतिक्षण अन्य अन्यपने की प्राप्ति है, क्योंकि सब का काल भिन्न भिन्न है । एक वस्तु में एक काल में नाना गुण संभव होते नहीं । यदि ऐसा हो तो आधाररूप वस्तु के भी उतने ही भेद हो जावेंगे, अत: काल अपेक्षा भेदवृत्ति है । एवं उन गुणों का आत्मरूप भी भिन्न है, अभिन्न हों तो भेद कैसे कहा जा सकता है ? इसमें विरोध है। अत: आत्मरूप अपेक्षा भेदवृत्ति है । तथा उनका आश्रय भी अलग अलग है । यदि अलग अलग न हो तो नाना गुण का आश्रय वस्तु नहीं टहरे । इस तरह आश्रय अपेक्षा भेदवृत्ति है । एवं संबंधी के भेद अपेक्षा भेद देखा जाता है, क्योंकि अनेक संबंधियों से एक वस्तु के संबंध बनता नहीं । अत: संबंध अपेक्षा भेदवृत्ति है । तथा उन गुणों द्वारा किया गया उपकार भी प्रतिनियत होकर अलग अलग है, तथा अनेक है । इस ही कारण उपकार अपेक्षा भेदवृत्ति है । तथा गुणी का देश है वह भी प्रत्येक गुण की अपेक्षा भेदरूप है । यदि अभेदरूप कहा जावेगा तो भिन्न पदार्थ के गुण से भी अभेद का प्रसंग आवेगा। अत: गुणीदेश अपेक्षा भी भेदवृत्ति है । एवं संसर्ग का संसर्गी से भेद है । यदि अभेद ही कहा जाता है तो संसर्गी के भेद का विरोध होता है । अत: संसर्ग अपेक्षा भी भेदवृत्ति है । तथा विषय अपेक्षा शब्द

के भी नानापना है । यदि सभी गुणों का वाचक एक ही शब्द हो तो सभी पदार्थों का वाचक एक शब्द ठहरेगा, तब अन्य शब्द निरर्थक होंगे । इस तरह परमार्थ से एक वस्तु में अस्तित्व आदि गुणों का अभेद असंभव होने पर भी काल आदि अपेक्षा अभेदोपचार किया जाता है । इस तरह अभेदवृत्ति अभेदोपचार भेदवृत्ति भेदोपचार इन दोनों से एक शब्द अनन्तधर्मात्मक एक जीवादि वस्तु का यह स्यात् शब्द है वह द्योतक है ।

प्रश्न :– शास्त्रों में प्रत्येक वाक्य में तो स्यात् शब्द लगा सुना नहीं । आप कैसे कहते हैं कि सर्व वस्तुओं को स्यात् शब्द से साधना चाहिये ?

उत्तर :– शास्त्रों में जहां इसका प्रयोग नहीं है, वहां स्याद्वादी अर्थ अपेक्षा सर्व शब्दों पर लगा लेते हैं, क्योंकि वस्तु स्वरूप अनेकान्तात्मक ही है, अत: वस्तु को जानने वाले स्यात् शब्द को जान लेते हैं । ऐसा श्लेकवार्तिक में कहा है । फिर भी यहां अन्य उदाहरण बताते हैं –

जैसे कोई एक मनुष्य नामक वस्तु है, वह गुण पर्यायों के समुदायरूप तो द्रव्य है । एवं देह प्रमाण संकोच विस्तार लिये इसका क्षेत्र है । गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त इसका काल है । एवं इसके गुण पर्यायों की जितनी अवस्थायें हैं वे भाव हैं । इस तरह इसमें द्रव्य आदि चतुष्टय पाया जाता है । इसमें काल आदि की अपेक्षा अभेदवृत्ति से कथन करते हैं – तब इसका जितने काल आयुबलपर्यन्त मनुष्यपना नामक गुण है, उतने ही काल इसके अन्य सभी धर्म हैं, इस तरह काल अपेक्षा अभेदवृत्ति है। तथा जो ही मनुष्यत्व गुण का मनुष्यरूप करना आत्मरूप है, वह ही अन्य अनेक गुणों के है । इस प्रकार आत्मरूप अपेक्षा अभेदवृत्ति है । तथा जो ही मनुष्यपने का आधार द्रव्य नामक अर्थ (वस्तु) है वह ही अनेक पर्यायों का है। इस प्रकार अर्थ अपेक्षा अभेदवृत्ति है। तथा जो ही अभेदभावरूप तादात्म्य लक्षण संबंध मनुष्यपने का है वह ही अन्य सब गुणों का है। इस प्रकार संबंध अपेक्षा अभेदवृत्ति है । तथा जो ही उपकार मनुष्यपने से अपने स्वरूप को करना है, वह ही अन्य शेष गुणों द्वारा किया जाता है । इस तरह उपकार अपेक्षा अभेदवृत्ति है । तथा जो ही गुणों के देश मनुष्यपने के हैं, वे ही अन्य गुणों के हैं । इस तरह गुणीदेश अपेक्षा अभेदवृत्ति है । तथा जो ही एक वस्तुस्वरूप से मनुष्यपने का संसर्ग है, वह ही अन्य शेष धर्मों का है, अत: संसर्ग अपेक्षा अभेदवृत्ति है । तथा जो ही मनुष्य शब्द मनुष्यस्वरूप का वाचक है, वह ही अन्य शेष धर्मों का है। इस तरह शब्द अपेक्षा अभेदवृत्ति है । इस तरह पर्यायार्थिक नय के गौण होने पर द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से अभेदवृत्ति बन जाती है । एवं द्रव्यार्थिक नय के गौण होने पर पर्यायार्थिक नय की प्रधानता करते काल आदि की अपेक्षा अभेदवृत्ति आठों ही प्रकार से संभव नहीं है ।

उसका भी कथन करते हैं – प्रतिक्षण मनुष्यपना अन्य–अन्य गुण पर्यायों रूप है, अत: सर्व गुण

पर्यायों का काल भिन्न है । एककाल में एक मनुष्यपने में अनेक गुण संभव नहीं हैं । यदि संभव हो तो गुणों के आश्रयरूप जो मनुष्य नामक वस्तु है वह जितने गुण पर्याय हैं, उतने ठहरें। अत: काल अपेक्षा भेदवृत्ति है । तथा अनेक गुण पर्यायों द्वारा किया गया उपकार भी भिन्न भिन्न है। यदि एक ही माना जावे तो एक मनुष्यपना ही उपकार निश्चित होगा। इस तरह उपकार अपेक्षा भी भेदवृत्ति है। तथा गुणी के देश हैं वे प्रत्येक गुण के भेदरूप ही कहे जाते हैं, यदि एक ही कहे जावें तो मनुष्यपने का ही देश ठहरे, अन्य के न ठहरे। अत: गुणीदेश अपेक्षा भी भेदवृत्ति है। तथा संसर्ग का भी प्रति संसर्ग गुणपर्यायों से भेद ही है, यदि एक ही हों तो अन्य का संसर्ग नहीं ठहरेगा । अत: संसर्ग अपेक्षा भी भेदवृत्ति है । तथा सर्व गुणपर्यायों के वाचक शब्द भी भिन्न भिन्न हैं । एक मनुष्यपना ही वचन हो तो सभी का एक शब्द वाच्यपना प्राप्त होगा (एक शब्द से सब ही को कहा जा सकना निश्चित होगा)। इस तरह मनुष्यपने से लेकर सभी गुणपर्यायों के एक मनुष्य नामक वस्तु में अभेदवृत्ति के असंभव होने पर भिन्न भिन्न स्वरूपों में भेदवृत्ति भेद का उपचार किया जाता है । इस तरह भेदवृत्ति भेदोपचार, अभेदवृत्ति अभेदापचार इन दोनों से एक शब्द के द्वारा एक मनुष्य आदि वस्तु अनेक धर्मात्मकपने को स्यात्कार है वह प्रगट करने वाला है ।

इसका सात भंग हैं, वे कैसे उत्पन्न होते हैं ? उसका उदाहरण देते हैं – जैसे एक घट नामक वस्तु है वह कथंचित् घट है, कथंचित् अघट है, कथंचित् घट अघट है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् घट अवक्तव्य है, कथंचित् अघट अवक्तव्य है, कथंचित् घट अघट अवक्तव्य है । इस तरह विधि निषेध की मुख्य गौण विवक्षा करके निरूपण करना चाहिये । इनकी अपेक्षायें प्रकट करते हैं – यहां अपने स्वरूप से कथंचित् घट है । पर के स्वरूप से कथंचित् अघट है । यहां घट का ज्ञान तथा घट का अभिधान अर्थात् संज्ञा की प्रवृत्ति के लिये जो कारण घटाकार चिन्ह, वह तो घट का स्वात्मा अर्थात् स्वरूप है । तथा जहां घट के ज्ञान तथा घट के नाम की प्रवृत्ति के लिये कारण नहीं है ऐसे पट आदि, ये परात्मा अर्थात् पर के स्वरूप हैं । अत: अपने स्वरूप का ग्रहण एवं पर स्वरूप के त्याग की व्यवस्थारूप ही वस्तु का वस्तुपना है। यदि स्वयं में पर से भिन्न रहने का परिणाम न हो तो सब ही अन्य वस्तुयें घटस्वरूप हो जावेंगी । अथवा पर (अन्य) से भिन्न होने पर भी अपना स्वरूप के ग्रहण का परिणाम न हो तो गधे के सींग के समान अवस्तु हो । इस तरह ये विधि निषेध रूप दो भंग हुये, इनके सात भंग बना लेना ।। 1 ।।

तथा नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव में जिसकी विवक्षा की जावे, वह तो घट का स्वात्म है। जिसकी विवक्षा न की जावे वह परात्मा है । वहां यह विवक्षित स्वरूप अपेक्षा घट है, अविवक्षित स्वरूप अपेक्षा अघट है । यदि अन्य स्वरूप अपेक्षा भी घट हो विवक्षित स्वरूप अपेक्षा न हो तो नाम

आदि के व्यवहार का लोप हो जावेगा । इस तरह इन चारों के दो दो भंग हो जाते हैं ।।2।।

अथवा विवक्षित घट शब्द से वाच्य समान आकार जो घट उनका सामान्य का जो विशेषाकार घट उनमें से किसी एक विशेष को ग्रहण करें, तब उसमें जो भिन्न प्रकार का आकार है, वह तो घट का स्वात्म है, अन्य सब परात्म हैं । यह अपने भिन्नरूप से घट है, अन्य रूप से अघट है । यदि अन्य रूप से भी घट हो तो सब घट एक घट मात्र हो जावें, तब सामान्य आश्रय व्यवहार का लोप होगा। इस तरह ये दो भंग हुये। वहां जितने विशेष घटाकार होगे उतने ही विधिनिषेध के भंग होंगे ।।3।।

अथवा उस ही घट विशेष में कालान्तर स्थायी होते पूर्व और उत्तर कपाल आदि कुशूलान्त अवस्थाओं का समूह वे घट के परात्मा हैं । एवं उनके मध्यवर्ती घट है वह स्वात्मा, यह उस स्वात्मा अपेक्षा घट है, क्योंकि उसके कर्म और गुण दिखते हैं, तथा अन्य स्वरूप से अघट है। जो कपाल से लेकर कुशूल तक के स्वरूप अपेक्षा भी घट हो तो घट अवस्था में भी उनकी प्राप्ति होनी चाहिये, तब बनाने के निमित्त तथा विनाश का निमित्त पुरुष के उद्यम निष्फ ल होंगे । तथा अंतरालवर्ती पर्याय घटस्वरूप से भी घट न हो तो उसे घट के आकार करने योग्य फ ल न होगा । इस तरह ये दो भंग हुये ।।4।।

अथवा प्रतिक्षण द्रव्य के परिणाम के उपचय अपचय भेद से अर्थान्तरपना होता है । अत: ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा वर्तमान स्वभाव से घट है, अतीत अनागत स्वभाव अपेक्षा अघट है । यदि ऐसा न हो तब सर्व स्वभाव एक समय मात्र हो । तथा अतीत अनागत की तरह वर्तमान स्वभाव भी हो तो वर्तमान घट स्वभाव का अभाव होने पर घट के आश्रयरूप व्यवहार का भी अभाव होगा । जैसे विनाश हुये तथा नहीं उत्पन्न हुये घट में घट के व्यवहार का अभाव है, वैसे ही यह भी होगा । इस तरह दो भंग ये हुये ।।5।।

अथवा उस वर्तमान घट में रूप आदि का समुदाय परस्पर उपकार करने वाला है । उसमें पृथुबुध्नोदर आदि आकार है वह घट का स्वात्मा है, अन्य सब परात्मा हैं । उस आकार तो घट है, अन्य आकार अपेक्षा अघट हैं । उस ही आकार के कारण घट का व्यवहार है, उसके (व्यवहार के) बिना अभाव है। यदि पृथुबुध्नोदर आदि आकार से भी घट न हो तो घट कैसा ? एवं यदि अन्य आकारों से भी घट हो तो आकार शून्य में भी घट का व्यवहार प्राप्त होगा । इसतरह ये दो भंग हुये ।।6।।

अथवा रूप आदि का संनिवेष अर्थात् रचना विशेष आकार वहां नेत्रों से घट का ग्रहण होता है। उस व्यवहार में रूप को प्रधान करके घट का ग्रहण किया जावे, वहां रूप घट का स्वात्मा है, और उसमें रस (स्वाद) आदि हैं वे परात्मा हैं । तब घटरूप से तो वह घट है, रस आदि अपेक्षा अघट है, क्योंकि वे रस आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य हैं । यदि जैसे नेत्र से घट ग्रहण किया जाता है, वैसे ही रस आदि भी (नेत्र से) ग्रहण हों तो सब के रूपपने का प्रसंग आवेगा, तब अन्य इन्द्रियों की कल्पना

(का होना) निरर्थक होगा । एवं रस आदि की तरह रूप अपेक्षा भी नेत्र उसे घट ग्रहण न करें तो इस घट में नेत्रगोचरता नहीं होगी । इस तरह ये दो भंग हुये ।।7।।

अथवा शब्द के भेद से अर्थ में भेद अवश्य होता है । इस नियम से घट कुट आदि शब्दों में अर्थभेद है । इसलिये घटने से तो घट नाम है और कुटिलता से कुट नाम है । अत: उस क्रियारूप परिणति के समय ही उस शब्द की प्रवृति होती है । इस न्याय से घटन क्रिया में कर्तापना है यह ही घट का स्वात्मा है, कुटिलता आदि परात्मा हैं । यहां घट क्रिया परिणति के क्षण में घट है, अन्य क्रिया में अघट है । यदि घटन क्रिया परिणति की मुख्यता से भी घट न हो तो घट व्यवहार की निवृत्ति होगी, और यदि अन्य क्रिया अपेक्षा भी घट हो तो उस क्रिया से रहित जो पट आदि हैं, उनमें भी घट शब्द की वृत्ति होगी । इस प्रकार दो भंग ये हुये ।।8।।

अथवा घट शब्द का उच्चारण उत्पन्न होते घट के आकार उपयोग ज्ञान वह तो घट का स्वात्मा है, और बाह्य में घटाकार है वह परात्मा है। बाह्य घट का अभाव होने पर भी घट का व्यवहार है, यह घट उपयोगाकार अपेक्षा घट है। बाह्याकार अपेक्षा अघट है । यदि उपयोग आकार घटस्वरूप से भी अघट हो तो वक्ता श्रोता के हेतुफलभूत जो उपयोगाकार घट के अभाव से उसके अधीन व्यवहार का अभाव होगा । यदि उपयोग से दूरवर्ती जो बाह्य, घट भी घट हो तो पट आदि को भी घट का प्रसंग आवेगा । इस तरह दो भंग ये हुये ।।9।।

अथवा चैतन्य शक्ति के दो प्रकार हैं - (1) ज्ञानाकार (2) ज्ञेयाकार । वहां ज्ञेय से जुड़ा नहीं, पर दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब के आकार के समान तो ज्ञानाकार है , और ज्ञेय से जुडे प्रतिबिम्ब सहित दर्पण के आकार समान ज्ञेयाकार है । यहां घट के ज्ञेयाकार रूप ज्ञान तो घट का स्वात्मा है, घट का व्यवहार इस ही से चलता है । एवं घट के बिना ज्ञान है वह परात्मा है, क्योंकि सर्व ज्ञेयों अपेक्षा साधारण है । घट ज्ञेयाकार अपेक्षा तो घट है, और बिना घटाकार ज्ञान अपेक्षा अघट है । यदि ज्ञेयाकार अपेक्षा भी घट न हो तो उसके आश्रय जो करने योग्य कार्य हैं उनका निरास होगा, तथा यदि ज्ञानाकार अपेक्षा भी घट हो तो पटाकार रूप भी ज्ञान का आकार है वह भी घट ठहरेगा । इस तरह दो भंग ये हुये ।।10।। (भंग नं.1 व 2)

इस ही प्रकार इनके पांच-पांच भंग और कहे जावें तब सात-सात भंग होते हैं, यह भी बताते हैं- घट तथा अघट दो कहे ये परस्पर भिन्न नहीं हैं । यदि भिन्न हों तो एक आधारपने से दोनों के नाम की तथा दोनों के ज्ञान की एक घट वस्तु में वृत्ति नहीं होगी, घटपट के समान। अत: परस्पर अविनाभाव होने से एक का अभाव होने पर दोनों का अभाव होगा । तब इनके आश्रय जो व्यवहार है, उसका लोप होगा । अत: यह घट है वह घट अघट दोनों स्वरूप है, जो अनुक्रम से वचनगोचर हैं ।।3।। तथा यदि

घट अघट दोनों स्वरूप वस्तु को घट ही कहा जावे तो अघट का ग्रहण नहीं होगा तथा यदि अघट ही कहा जावे तो घट का ग्रहण नहीं होगा। एक ही शब्द से एक काल में दोनों कहे नहीं जा सकते, अत: अवक्तव्य है ।।4।। तथा घटस्वरूप की मुख्यता से कहा वह वक्तव्य तथा युगपत नहीं कहा जा सकता उसकी मुख्यता से घट अवक्तव्य है ।।5।। तैसें कहे प्रकार से अघट अवक्तव्य है ।।6।। एवं वैसे क्रम से दोनों कहे जावें युगपत न कहे जावें उस प्रकार घट अघट अवक्तव्य है ।।7।। इस तरह यह सप्तभंगी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों में द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों को मुख्य गौण भेद अपेक्षा लगाया जावे तब अनन्त वस्तु तथा अनन्त धर्म के परस्पर विधि – निषेध से अनन्त सप्तभंगी होती हैं। इन ही का सर्वथा एकान्त अभिप्राय हो तब मिथ्यावाद होता है।

तथा प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी वचनरूप होती है। यहां प्रमाण में तो अनंतधर्मात्मक वस्तु है। यहां एक ही वस्तु के वचन के सर्व धर्मों की अभेदवृत्ति अपेक्षा तथा अन्यवस्तु के अभेद उपचार से प्रमाण सप्तभंगी होती है। और नय का विषय एक धर्म है, अत: उस धर्म की भेदवृत्ति से तथा अन्य नय के विषय जो अन्य धर्म हैं, उनके भेद के उपचार से नय सप्तभंगी होती है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है :- अनेकान्त ही है, ऐसे में भी एकान्त होता है। तब अनेकान्त कैसे रहा ?

उत्तर :– यह सत्य है कि अनेकान्त है, वह भी अनेकान्तरूप है, क्योंकि प्रमाण वचन अपेक्षा तो अनेकान्त ही है। नय वचन अपेक्षा एकान्त ही है। ऐसा एकान्त ही सम्यक् है, जिसमें प्रमाण की सापेक्षा हुई। तथा जो निरपेक्ष एकान्त है वह मिथ्या है।

शंका – अनेकान्त तो छलमात्र है, प्रतिपक्षी की युक्ति में बाधा पहुंचाने के लिये अवलम्बन है।

समाधान :– छल का लक्षण तो अर्थ (वस्तु) का विकल्प उपजाकर प्रतिपक्षी के वचन का खंडन करना है। पर अनेकान्त ऐसा नहीं है, क्योंकि दो धर्मों को प्रधान गौण की अपेक्षा से वस्तु जैसी है वैसी कहता है, उसमें छल कहां है ?

यदि **कोई कहे :–** दो पक्षों को साधना (सिद्ध करना) तो संशय का कारण है।

उसको कहते हैं :– संशय का स्वरूप तो दोनों पक्षों का निर्णय (निश्चय) न हो वहां है। अनेकान्त में तो दोनों पक्षों के विषय प्रत्यक्ष निश्चित हैं, अत: संशय का कारण नहीं है। तथा विरोध भी नहीं है, क्योंकि नय से ग्रहण किये गये विरुद्ध धर्मों का मुख्य गौण कथन के भेद से सर्वथा भेद नहीं है। जैसे एक ही पुरुष में पितापना, पुत्रपना इत्यादि विरुद्ध धर्म हैं, उनके कहने की मुऐसे ही यहां भी जानना।

आगे नय प्रमाण से जाने हुये जो जीव आदि पदार्थ हैं, उनके अधिगम के अन्य उपाय दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं :-

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थिति विधानत: ।।1–7।।

अर्थ :– निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान – इन छह अनुयोगों से भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों का अधिगम होता है । स्वरूप का कथन तो निर्देश है । स्वामित्व अर्थात् अधिपतिपना, साधन अर्थात् उत्पत्ति का कारण । अधिकरण अर्थात् अधिष्ठान, आधार। स्थिति अर्थात् काल का प्रमाण । विधान अर्थात् प्रकार । इस तरह इनके द्वंद समास से बहुवचनरूप करण अर्थ प्रमाण नय की तरह ही जानना । संक्षेप में तो अधिगम का उपाय प्रमाण और नय बतावे । तथा मध्यम रूप से शिष्य के आशय के अनुसार इन निर्देश आदि अनुयोगों से कथन करना । वहां क्या वस्तु है ? किसकी है ? काहे से है ? किसमें है ? कितने काल है ? कितने प्रकार है ?– ऐसे छह प्रश्न होने पर इनका उत्तर कहना, निर्देश आदि हैं ।

उदाहरण – सम्यग्दर्शन क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है । अथवा इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव कहना, वह निर्देश है । तथा सम्यग्दर्शन किसको (हो सकता) है ? ऐसा प्रश्न होने पर ऐसे कहना कि सामान्यरूप से तो जीव के है ।

तथा विशेष रूप से कहना – तब **गति** के अनुवाद (मार्गणा) से नरकगति में, सब ही पृथ्वियों में नारकी जीवों के पर्याप्तकों के औपशमिक, क्षयोपशमिक (सम्यग्दर्शन हो सकता)) है । तथा पहली पृथ्वी में पर्याप्तक, अपर्याप्तक जीवों के क्षायिक अथवा क्षयोपशमिक (सम्यग्दर्शन हो सकता) है । तथा तिर्यंच गति में तिर्यंच पर्याप्तक को औपशमिक (सम्यग्दर्शन हो सकता) है । तथा क्षायिक और क्षयोपशमिक पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों को हो सकता है, तिर्यचणियों को क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है । औपशमिक क्षायोपशमिक पर्याप्तक को ही होता है। अपर्याप्तक को नहीं होता है । इस ही प्रकार मनुष्यगति में पर्याप्तक अपर्याप्तक को क्षायिक, क्षायोपमिक (हो सकता) है । तथा औपशमिक पर्याप्तक को ही होता हैं । मनुष्यणियों को तीनों ही हैं, जो पर्याप्तक को ही है, अपर्याप्तक को नहीं है । इनके क्षायिक सम्यक्त्व भाववेद अपेक्षा ही है । देवगति में देव पर्याप्तक अपर्याप्तक को तीनों ही हो सकते हैं । तथा औपशमिक अपर्याप्तक के चारित्रमोह के उपशम से उपशमश्रेणी में मरण हो उनको द्वितीयोपशम होता है । यहां प्रथमोपशम अपर्याप्त में किसी के नहीं होता है। तथा भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों के और इनकी देवांगनाओं के और सौधर्म–ईशान की कल्पवासिनी देवांगनाओं के क्षायिक तो होता ही नहीं है। और इनके पर्याप्तकों के औपशमिक, क्षायोपशमिक (होता) है ।

तथा **इन्द्रिय मार्गणा** अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, अन्य के नहीं । काय मार्गणा अपेक्षा त्रस कायिक जीवों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, अन्य के नहीं । योग मार्गणा अपेक्षा मन, वचन, काय तीनों ही योग वालों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं ।

-अयोगियों को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । वेद मार्गणा अपेक्षा तीनों ही प्रकार के वेदों वालों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । वेद रहित के औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। कषाय मार्गणा अपेक्षा क्रोध, मान, माया, लोभ चारों ही प्रकार के कषाय वालों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । कषाय रहित को औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है । ज्ञान मार्गणा अपेक्षा मति आदि पांचों ही ज्ञान वालों को सामान्यरूप से तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । केवलज्ञानियों को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। संयम मार्गणा अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना संयमियों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । परिहारविशुद्धि संयम वालों को औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, अन्य दो हो सकते हैं। सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात संयमियों को औपशमिक, क्षायिक ही हो सकते हैं। संयतासंयत को और असंयत को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । दर्शन मार्गणा की अपेक्षा चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शन वालों के तीनों ही हैं, केवलदर्शन वालों को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । लेश्या मार्गणा अपेक्षा छहों लेश्यावालों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । लेश्या रहित को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । भव्य मार्गणा अपेक्षा भव्य को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, अभव्य को कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । सम्यक्त्व मार्गणा अपेक्षा जहां जो सम्यग्दर्शन वहां वही जानना । संज्ञी मार्गणा अपेक्षा संज्ञी को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, असंज्ञी को सम्यग्दर्शन नहीं होता । दोनों से रहित को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । आहारक मार्गणा अपेक्षा आहारकों को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । अनाहारक छद्मस्थ को तीनों ही सम्यग्दर्शन हो सकते हैं । समुद्घात केवली को क्षायिक सम्यग्दर्शन ही है । इस तरह चौदह मार्गणाओं के भेदों से सम्यक्त्व का स्वामित्व कहा ।[1]

सम्यग्दर्शन किस से उत्पन्न होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर इसका समाधान बताते हैं :- साधन दो प्रकार के हैं - (1) अभ्यंतर (2) बाह्य । वहां अभ्यंतर साधन तो दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन तीनों में से कोई एक कारण (साधन) है । तथा बाह्य साधन नारकी जीवों के तीसरी पृथ्वी तक तो कई जीवों को जातिस्मरण है, कई को धर्म श्रवण है, कई को वहां (नरक) संबंधी वेदना है । तथा चौथी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक जातिस्मरण और वेदना का अनुभव, ये दो ही कारण हैं । तिर्यंचों के किसी को जातिस्मरण, किसी को धर्म श्रवण, किसी को जिनबिंब

---

1. इस प्रकरण में अनेक स्थानों पर **हो सकता है** शब्द का प्रयोग किया गया है । यहाँ 'हो सकता है' का अर्थ ऐसा समझना कि उस मार्गणा में उस प्रकार के जीवों में से किसी को उन सम्यक्त्वों में से कोई भी एक प्रकार का सम्यक्त्व हो सकता है । सभी को सम्यक्त्व है अथवा सभी प्रकार का सम्यक्त्व एक जीव को है, ऐसा नहीं समझना चाहिये । एक जीव को एक समय में एक ही प्रकार का सम्यक्त्व होता है । अथवा किसी मार्गणा में सभी जीवों को सम्यक्त्व हो ऐसा भी नहीं है ।

दर्शन कारण है । मनुष्यों में भी इस ही प्रकार है । देवों में किसी को जातिस्मरण, किसी को धर्मश्रवण कारण है । किसी को तीर्थंकर केवलियों के कल्याणक आदि की महिमा का दर्शन कारण है । किसी को देवों की ऋद्धि का देखना कारण है, जो आनत स्वर्ग के पहले सहस्रार स्वर्ग तक है । तथा आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग के देवों को देवऋद्धि के दर्शन को छोड कर शेष तीन कारण हैं। नवग्रैवियक वासियों को किसी को जातिस्मरण, किसी को धर्मश्रवण कारण है । तथा अनुदिश, अनुत्तर वालों को यह कल्पना नहीं है, क्योंकि यहां सम्यग्दर्शन वाले ही उत्पन्न होते हैं ।

सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं - अधिकरण दो प्रकार के होते हैं - (1) अभ्यन्तर (2) बाह्य । वहां अभ्यन्तर अधिकरण तो स्वस्वामी संबंध के योग्य आत्मा है, क्योंकि कारकों की प्रवृत्ति विवक्षा के अनुसार होती है । बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी, चौदह राजू ऊंची लोकनाडी है । सम्यग्दर्शन त्रसनाडी में ही पाया जाता है ।

सम्यग्दर्शन की स्थिति कितनी है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं - औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसारी जीव की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त की है, उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम दो करोड पूर्व अधिक की है। मुक्त जीवों के सादि अनन्त है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरोपम की है ।

सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं - सामान्यरूप से तो सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है । निसर्गज, अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक भेद से तीन प्रकार का है । इस प्रकार शब्द अपेक्षा तो संख्यातभेद हैं, तथा अर्थ अपेक्षा असंख्यात तथा अनन्त भेद हैं । उन्हें श्रद्धाता के श्रद्धान करने योग्य वस्तु के भेद के कारण जानना । इस प्रकार विधान का कथन किया । इसी प्रकार निर्देश आदि की विधि ज्ञान चारित्र के साथ तथा जीव आदि पदार्थों के साथ आगम के अनुसार जान लेना ।

यहां विशेष कथन करते हैं - ये श्रुतप्रमाण के विशेष निर्देशादि व्यवहार अथवा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कहे गये हैं, जो शब्दात्मक तथा ज्ञानात्मक दोनों ही प्रकार के हैं । इनसे जीव आदि का अधिगम होता है ।

यहां कोई **अन्यमती** कहता है - वस्तु का स्वरूप तो वचनगोचर है नहीं, निर्देश किसका करें ?

उसको कहते हैं - आपका यह कहना सत्य है या नहीं, यदि कहोगे कि सत्य है तो वस्तु का कथन भी सत्य है । यदि कहोगे कि मेरा कहना भी असत्य है, तो क्यों कहते हो ? असत्य को कौन अंगीकार करेगा ?

तथा यदि **कोई वादी** कहे – किसी का किसी से कोई संबंध नहीं है, अत: किसी का स्वामी भी कोई नहीं है, अत: स्वामित्व का कथन भी अयुक्त है ?

उसको कहते हैं :– यदि संबंध न हो तो सर्व व्यवहार का लोप हो जावेगा, अत: कथंचित् संबंध प्रमाणसिद्ध है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रत्यासत्ति अर्थात् निकटता का विशेष है, वह संबंध है। किसी पर्याय की किसी पर्याय से समवाय द्वारा निकटता है, उसे द्रव्य प्रत्यासत्ति कहते हैं, जैसे स्मरण के और अनुभव के एक आत्मा में समवाय है । ऐसा न हो तो जिसका अनुभव पहले हुआ हो, उस ही का स्मरण कैसे हो ? तथा बगुले की पंक्ति के और जल के क्षेत्र प्रत्यासत्ति है । सहचर जो सम्यग्दर्शन ज्ञान सामान्य तथा शरीर में जीव और स्पर्श विशेष तथा पहले बाद में उदय होने वाले भरणी, कृतिका नक्षत्र तथा कृतिका – रोहिणी नक्षत्रों के काल प्रत्यासत्ति है । तथा गऊ – गवय का एकरूप तथा केवलिसिद्ध के केवलज्ञान का एक स्वरूपपना – ऐसे भाव प्रत्यासत्ति है – इस प्रकार यही प्रत्यासत्ति है, – ये ही संबंध है । इनमें कोई बाधा नहीं है । अत: संबंध ही स्वामीपने की सिद्धि करता है । तथा ये ही संबंध कार्य कारण भाव की सिद्धि करते हैं । यदि ऐसा न हो तो मोक्ष के उपाय आदि सर्व व्यवहार का लोप होगा । अत: साधन भी प्रमाणसिद्ध है ।

तथा द्रव्य, गुण आदि का आधार आधेय भाव प्रसिद्ध ही है । स्थिति है वह भी प्रमाणसिद्ध है। तत्व को सर्वथा क्षणस्थायी ही मानने पर सर्व व्यवहार का लोप होगा। इस ही प्रकार विधान प्रमाणसिद्ध है । यदि वस्तु को एक प्रकार ही माना जावे तो प्रत्यक्ष जो अनेक वस्तुयें हैं उनका लोप कैसे किया जा सकता है ? तथा यदि प्रत्यक्ष को असत्य माना जावेगा तो शून्यता का प्रसंग आवेगा। अत: निर्देश आदि के द्वारा जीव आदि पदार्थों का अधिगम करना ।

यहां उदाहरण – निश्चय नय, व्यवहार नय और दोनों युगपत् प्रमाण– इनसे (अधिगम) करना। यहां एवंभूत (नय) को निश्चय नय कहा है । और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय को यहां व्यवहार नय कहा है । यहां निश्चय नय से तो अनादि पारिणामिक जो चैतन्यरूप जीवतत्त्व है, उस द्वारा परिणमता हो उसे जीव कहते हैं । और व्यवहार नय से जीव को औपशमिक आदि चार भावस्वरूप कहा है। निश्चय से तो (जीव) अपने चैतन्य परिणाम का स्वामी है और यवहार नय से चारों भावों का स्वामी है । निश्चय से तो जीवत्व परिणाम का साधन है, व्यवहार नय से चारों ही भावों का साधन है। निश्चय से अपने प्रदेशों के आधार है, व्यवहार नय से शरीर का आधार है । निश्चय से जीवन समय स्थिति है, व्यवहार नय से दो समय आदि स्थिति है, तथा अनादि सांत स्थिति है। निश्चय से अनन्त विधान है, व्यवहार नय से नारक आदि से संख्यात, असंख्यात, अनन्त विधान है। तथा प्रमाण से दोनों नयों के समुदायरूप स्वभाव वाला है । इत्यादि जीव आदि पदार्थों में आगम से अविरूद्ध निर्देश आदि के

उदाहरण जानना।

ऊपर कहे इन (निर्देश आदि) से ही जीव आदि का अधिगम होता है , अथवा अधिगम के अन्य भी कुछ उपाय हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि अन्य भी (उपाय) हैं, ऐसा सूत्र कहते हैं –

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।।1–8।।

अर्थ :– सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व – इन आठ अनुयोगों द्वारा भी जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है ।

'सत्' तो अस्तित्व का निर्देश है (का द्योतक) है । 'सत्' शब्द प्रशंसावाचक भी होता है, पर यहां (इसे इस अर्थ में) न लेना। 'संख्या' भेदों की गणना है । क्षेत्र निवास को कहते हैं, पर यहां वर्तमान काल का निवास ही समझना । स्पर्शन त्रिकाल गोचर है । काल निश्चय–व्यवहार से दो प्रकार है, उसका निर्णय आगे कहेंगे। अन्तर विरह काल को कहते हैं । भाव औपशमिक आदि स्वरूप है। अल्पबहुत्व परस्पर सापेक्ष कम अथवा अधिक विशेष की प्रतिपत्ति करना है । इन आठ अनुयोगों से सम्यग्दर्शन आदि एवं जीव आदि पदार्थों का अधिगम जानना ।

प्रश्न :– पिछले सूत्र में निर्देश का ग्रहण है, उस से ही सत् का ग्रहण सिद्ध हुआ । तथा विधान के ग्रहण से संख्या की प्राप्ति हो जाती है । अधिकरण के ग्रहण से क्षेत्र और स्पर्शन का ज्ञान होता है। स्थिति के ग्रहण से काल का ग्रहण हुआ । भाव का ग्रहण नाम आदि निक्षेपों में है ही । फि र किस प्रयोजन से इस सूत्र में इनका ग्रहण किया ?

आचार्य इसका **समाधान** करते हैं :– यह तो सत्य है, पिछले सूत्र से सिद्ध तो होता है । परन्तु तत्त्वार्थ का उपदेश शिष्य के आशय अनुसार भेद से किया जाता है, क्योंकि कुछ शिष्य तो संक्षेपरुचि वाले होते हैं, थोडे में ही समझ जाते हैं । कुछ विस्तार रुचि वाले होते हैं, बहुत कहने पर ही समझते हैं । तथा कुछ शिष्य मध्यम रुचि वाले होते हैं, बहुत संक्षेप हो तो भी नहीं समझते और बहुत विस्तार करने पर भी नहीं समझते । तथा सत्पुरुषों का कहने का प्रयास सब ही प्राणियों के लिये है, अत: अधिगम के उपाय भेद पूर्वक कहते हैं । यदि इस प्रकार कथन न किया जावे तो प्रमाण नय से ही अधिगम की सिद्धि हो जावेगी । अन्य कथन निष्प्रयोजन ठहरेगा । अत: भेद करके कहना युक्त है ।

यहां जीव द्रव्य को आश्रय करके सत् आदि अनुयोगों द्वारा निरूपण करते हैं :–

जीव हैं वे चौदह गुणस्थानों में स्थित हैं :– उन (गुणस्थानों) के नाम (1) मिथ्यादृष्टि (2) सासादन सम्यग्दृष्टि (3) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (4) असंयत सम्यग्दृष्टि (5) संयतासंयत (6) प्रमत्तसंयत (7) अप्रमत्तसंयत (8) अपूर्वकरण गुणस्थान में उपशमक/क्षपक (9) अनिवृत्तिबादर सांपरायस्थान उपशमक/क्षपक (10) सूक्ष्मसांपरायस्थान में उपशमक/क्षपक (11) उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ

(12) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ (13) सयोग केवली (14) अयोग केवली – ये चौदह गुणस्थान जानने। इनका जीवसमास नाम भी कहा है । तथा इनके निरूपण के लिये चौदह मार्गणा स्थान जानना । उनके नाम – (1) गति – 4 (2) इन्द्रियाँ – 5 (3) काय – 6 (4) योग – 15 (5) वेद – 3 (6) कषाय – 25 (7) ज्ञान – 8 (8) संयम – 7 (9) दर्शन – 4 (10) लेश्या – 6 (11) भव्य – 2 (12) सम्यक्त्व – 6 (13) संज्ञी – 2 (14) आहारक – 2 ।

सत्प्ररुपणा दो प्रकार की है –(1) सामान्य रूप से (2) विशेष रूप से । वहां सामान्य से तो गुणस्थान में कथन करना और विशेष से मार्गणा में कथन करना । वहां प्रथम ही सामान्य से तो मिथ्यादृष्टि सत्रूप है । सासादन सम्यग्दृष्टि सत्स्वरूप है । इस तरह चौदह ही गुणस्थान सत्स्वरूप हैं। तथा विशेष कथन में गति की अपेक्षा नरक गति में सभी पृथ्वियों में शुरु के चार गुणस्थान (वाले जीव) हैं । तिर्यंचगति में शुरु के चार और संयतासंयत ऐसे पांच गुणस्थान हैं । मनुष्य गति में सभी चौदहों ही गुणस्थान हैं । देवगति में नरक के समान ही चार गुणस्थान हैं ।

इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के (जीवों के) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है । पंचेन्द्रिय के चौदह गुणस्थान हैं।

काय अपेक्षा पृथ्विकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त स्थावर काय में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है । त्रस काय में सभी चौदह गुणस्थान हैं ।

योग अपेक्षा मन, वचन, काय तीनों ही योगों में तेरह गुणस्थान हैं। आगे चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में योग नहीं है।

वेद अपेक्षा तीनों ही वेदों में मिथ्यादृष्टि सें लेकर अनिवृत्तिबादर तक नव गुणस्थान हैं। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक छह गुणस्थानवेद रहित के हैं । यहां अनिवृत्तिबादर संपराय के छह भाग में, उनमें से शुरु के तीन भागों में वेद है, अन्त के तीन भाग वेद रहित हैं । अत: (इस गुणस्थान को) दोनों जगह गिना है ।

कषाय अपेक्षा क्रोध, मान, माया कषायों में तो मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादर सांपराय तक के नव गुणस्थान हैं । लोभ कषाय में उन (नव गुणस्थानों) के साथ सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान सहित दश गुणस्थान हैं । तथा उपशांतकषाय गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली तक चार गुणस्थान कषाय रहित हैं ।

ज्ञान अपेक्षा मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान, विभंग इन तीनों में मिथ्यादृष्टि, सासादन–सम्यग्दृष्टि (इस तरह दो गुणस्थान) हैं । मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों में असंयत–सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक नव गुणस्थान हैं । मन:पर्यय ज्ञान में प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय तक के सात

गुणस्थान हैं । केवलज्ञान में सयोगकेवली, अयोगकेवली दो गुणस्थान हैं ।

संयम (मार्गणा) की अपेक्षा संयम तो प्रमत्त गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक है । सामायिक, छेदोपस्थापन शुद्धि संयमी को तो प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय तक चार गुणस्थान हैं। परिहारविशुद्धि संयमी अप्रमत्त है, प्रमत्तसंयत भी है । सूक्ष्मसांपरायसंयमी एक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में ही हैं । यथाख्यातविहार शुद्धि संयमी के उपशान्तकषाय आदि अयोगकेवली तक के चार गुणस्थान हैं । संयतासंयत एक संयतासंयत गुणस्थान के ही हैं । असंयत्त मिथ्यादृष्टि आदि शुरु के चार गुणस्थान में ही हैं ।

दर्शन (मार्गणा) की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु दर्शन के मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं । अवधिदर्शन के असंयत सम्यग्दृष्टि आदि क्षीण कषाय तक नव गुणस्थान हैं। केवलदर्शन में सयोगकेवली, अयोगकेवली (दो गुणस्थान) हैं ।

लेश्या (मार्गणा) की अपेक्षा कृष्ण, नील, कपोत लेश्या में मिथ्यादृष्टि आदि असंयत सम्यग्दृष्टि तक (के गुणस्थान) हैं। तेज, पद्म लेश्या के मिथ्यादृष्टि आदि अप्रमत्त तक सात गुणस्थान हैं । शुक्ल लेश्या में मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान हैं । अयोगकेवली लेश्या रहित हैं ।

भव्य (मार्गणा) की अपेक्षा भव्य के चौदह ही गुणस्थान हैं । अभव्य को तो एक (मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान ही है ।

सम्यक्त्व (मार्गणा) की अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अयोगकेवली तक ग्यारह गुणस्थान हैं । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्तसंयत तक के चार गुणस्थान हैं । औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि आदि उपशांतकषाय तक के आठ गुणस्थान हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादृष्टि अपने अपने गुणस्थानों में हैं ।

संज्ञी (मार्गणा) की अपेक्षा संज्ञी के शुरु (मिथ्यादृष्टि) से लेकर बारह गुणस्थान है । असंज्ञी में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है। सयोगकेवली, अयोगकेवली (संज्ञी, असंज्ञी) दोनों (मार्गणा) रहित हैं।

आहारक (मार्गणा) की अपेक्षा आहारक में मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यंत तेरह गुणस्थान हैं । अनाहारक में विग्रहगति में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि में तीन गुणस्थान हैं । समुद्घात सहित सयोगकेवली हैं और अयोगकेवली हैं । सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं ।

इस तरह सत् की प्ररूपणा बताई ।

अब संख्या प्ररूपणा बताते हैं – भेदों की गणना को संख्या कहते हैं । जो दो प्रकार से है – सामान्य कथन में गुणस्थान में और विशेष कथन में मार्गणा में ।

सामान्य कथन में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । प्रमत्तसंयत पृथक्त्व कोडी संख्या में हैं । 'पृथक्त्व' शब्द का अर्थ आगम में तीन करोड से ऊपर नव करोड से नीचे होता है – ऐसा जानना । ये 59398206 (पांच करोड तिरानवे लाख अठानवे हजार दौ सौ छह) है। अप्रमत्तसंयतों की संख्या प्रमत्तसंयतों से आधी है, जो 29699103 (दो करोड छयानवे लाख निनानवे हजार एक सौ तीन) है । चारों उपशामक गुणस्थान वाले जीव प्रवेश की अपेक्षा तो एक, दो या तीन है, उत्कृष्ट रूप से चौवन तक है। एवं ये सर्वकाल के एकत्रित हों तब संख्यात हैं। प्रत्येक गुणस्थान के 299 (दौ सौ निन्यानवे) हैं, चारों को जोडें तो 1196 (एक हजार एक सौ छयानवे) होते हैं । चारों क्षपक और अयोगकेवली प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन आदि और उत्कृष्ट रूप से एक सौ आठ तक होते हैं। और अपने-अपने काल के एकत्रित हों तो संख्यात हैं। एक गुणस्थान में 598 (पांच सौ अठानवे) हैं। पांचों गुणस्थान वालों को जोडें तब 2990 (दो हजार नव सौ नब्बे) होते हैं। सयोगकेवली जीव प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन आदि उत्कृष्ट रूप से एक सौ आठ तक हैं । इस गुणस्थान के सब एकत्रित हो, तब पृथक्त्व लाख होते हैं, जो 898502 (आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो) होते हैं। इस तरह प्रमत्त से लेकर अयोगकेवली तक के सब संयमी जीव कुल मिलाकर नव करोड से तीन कम अर्थात् 89999997 (आठ करोड निनानवे लाख निनानवे हजार नव सौ सितानवे) हैं ।

तथा **विशेष अपेक्षा** गति मार्गणा में **नरक गति** में पहली पृथ्वी में नारकी जीव मिथ्यादृष्टि असंख्यात जगतश्रेणी प्रमाण हैं जो जगतप्रतर के असंख्यातवें भाग हैं । तथा दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक के मिथ्यादृष्टि श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यह असंख्यातवां भाग असंख्यात करोड योजन के जितने प्रदेश होते हैं, उतने जानना । एवं सभी पृथ्वियों में सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्ट, असंयत सम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। तथा **तिर्यंचगति** में मिथ्यादृष्टि तिर्यंच जीव अनन्तानन्त हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत तक पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। **मनुष्यगति** में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं। यह असंख्यातवां भाग असंख्यात करोड योजन के प्रदेशों जितना जानना । सासादन सम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत तक संख्यात हैं, जो सासादन गुणस्थान में बावन करोड हैं । मिश्र गुणस्थान में एक सौ चार करोड और असंयत सात सौ करोड हैं, संयतासंयत तेरह करोड हैं । एवं प्रमत्तसंयत आदि की

संख्या उपर सामान्य अपेक्षा में गुणस्थानों में जो-जो कही है, वह ही संख्या जानना। **देवगति** में मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेंद्रिय मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं। पंचेन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि आदि अयोगकेवली तक संख्या गुणस्थानों के समान जानना।

काय मार्गणा में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक - असंख्यात् लोक प्रमाण हैं। तथा वनस्पतिकायिक अनंतानंत है। त्रस कायिकों की संख्या पंचेन्द्रियवत् जानना। योग मार्गणा में मनोयोगी, वचनयोगी मिथ्यादृष्टि असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग है। क़ाययोग में मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं। तीनों योग वाले सासादन सम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत तक तो पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। प्रमत्तसंयत आदि सयोगकेवली तक संख्यात हैं। अयोगकेवलियों की संख्या गुणस्थान में कहे के समान है।

वेद मार्गणा में स्त्रीवेद, पुरुषवेद वाले मिथ्यादृष्टि असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं। नपुंसक वेदी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं। स्त्रीवेदी, नपुंसकवेदी सासादन सम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत तक की संख्या गुणस्थान में कही के समान है। प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय तक संख्यात हैं। पुरुषवेदी सासादन सम्यग्दृष्टि संयतासंयत तक की संख्या गुणस्थान में कही के समान है। प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय तक संख्या गुणस्थान में कही के समान है। वेद रहित अनिवृत्तिबादरसांपराय आदि अयोगकेवली तक सामान्य में कही अर्थात् गुणस्थान में कही संख्या जितने हैं।

कषाय मार्गणा में क्रोध-मान-माया में मिथ्यादृष्टि आदि संयतासंयत तक की संख्या गुणस्थानों में कही संख्या के समान है। प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय तक संख्यात है। लोभ कषाय वालों की पहले कही जितनी ही संख्या है। विशेष यह कि सूक्ष्मसांपरायसंयत की गुणस्थान में कही जितनी ही संख्या है। कषाय रहित उपशांतकषाय आदि अयोगकेवली तक की संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही संख्या है।

ज्ञान मार्गणा में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान वाले मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि आदि की संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही है। विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सासादन सम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। मति-श्रुत

ज्ञानी असंयतसम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय तक की संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही है। अवधिज्ञानी असंयतसम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत तक की संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही है। प्रमत्तसंयत आदि क्षीणकषाय तक संख्यात हैं। मन:पर्यय ज्ञानी प्रमत्तसंयत आदि क्षीणकषाय तक संख्यात हैं। केवलज्ञानी सयोगी अयोगी की संख्या गुणस्थान में कही संख्या जितनी ही है।

संयम मार्गणा में सामायिक छेदोपस्थापन शुद्धि संयत प्रमत्त आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय तक में संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही है। परिहार विशुद्धि संयत प्रमत्त-अप्रमत संख्यात हैं। सूक्ष्मसांपराय शुद्धि संयत, यथाख्यात विहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत, असंयत की संख्या गुणस्थान में कही जितनी ही है।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं। अचक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं। दोनों ही सासादन सम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय तक सामान्य कथन में ऊपर गुणस्थान में कही संख्या जितने हैं। अवधिदर्शन वाले अवधिज्ञान में कहे जितने ही हैं। केवलदर्शन वाले केवलज्ञान में कहे जितने ही हैं।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण-नील-कपोत लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि आदि असंयतसम्यग्दृष्टि तक गुणस्थानों में कही संख्या जितने ही हैं। पीत-पद्म लेश्यावाले मिथ्यादृष्टि आदि संयतासंयत तक (संख्या में) स्त्रीवेद के समान हैं। प्रमत्त अप्रमत्त संयत संख्यात हैं। शुक्ल लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि आदि संयतासंयत तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं। प्रमत्त-अप्रमत्त संयत संख्यात हैं। अपूर्वकरण आदि सयोगकेवली तक गुणस्थान में कही जितनी संख्या में हैं। अलेश्या वाले भी गुणस्थान में कही जितनी संख्या में हैं।

भव्य मार्गणा में भव्यों में मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक के जीवों की संख्या गुणस्थान वत है। अभव्य अनन्त हैं।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिक सम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि जीव पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। संयतासंयत आदि उपशांतकषायतक जीव (मनुष्य) संख्यात हैं। चारों क्षपकश्रेणी वाले, सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानवत हैं। क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि में असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत तक गुणस्थान में कही जितनी संख्या में हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं। प्रमत्त-अप्रमत संयत संख्यात हैं। चारों उपशमक गुणस्थान में कही संख्या जितने ही हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या गुणस्थानवत है।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञी में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय तक के जीवों की संख्या चक्षुदर्शन के

जीवों के समान है । असंज्ञी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं । दोनों से रहित की संख्या गुणस्थानवत है ।

आहारक मार्गणा में आहारकों में मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली तक जीवों की संख्या गुणस्थानवत है । अनाहारक में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवत संख्या में हैं । सयोगकेवली संख्यात हैं । अयोगकेवली जीवों की संख्या गुणस्थानवत है ।

इस प्रकार संख्या का निर्णय किया ।

अब क्षेत्र प्ररुपणा का कथन करते हैं :– क्षेत्र दो प्रकार से है । सामान्य से गुणस्थानों का, विशेष से मार्गणा का ।

सामान्य अपेक्षा मिथ्यादृष्टियों का क्षेत्र सर्वलोक है । सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक लोक का असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । सयोगकेवलियों के क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग अथवा समुद्घात के प्रतर की अपेक्षा लोक का असंख्यातवां बहुभाग और लोकपूर्ण अपेक्षा क्षेत्र सर्वलोक है ।

विशेष अपेक्षा गति मार्गणा में नरकगति में सब पृथ्वियों में नारकियों का चार गुणस्थानों में लोक का असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । तिर्यंचगति में तिर्यंचों का मिथ्यादृष्टि आदि संयतासंयत तक का क्षेत्र गुणस्थानवत है । मनुष्यों में मनुष्यों का मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली तक क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है । अयोगकेवलियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है । देवगति में देवों का चारों गुणस्थानों में लोक के असंख्यातवें भाग है ।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय का क्षेत्र सर्वलोक है । विकलत्रय का लोक का असंख्यातवां भाग है। पंचेन्द्रियों का मनुष्यों के समान क्षेत्र है ।

प्रश्न :– मनुष्य तो अढाई द्वीप में ही उपजते हैं । पंचेन्द्रिय त्रसनाडी में उपजते हैं । तब उन (पंचेन्द्रियों) का क्षेत्र मनुष्यवत कैसे कहा ?

समाधान :– कितने ही पंचेन्द्रिय उनके उपजने के स्थान पर ही उपजते हैं । त्रसनाडी में सर्वत्र नहीं उपजते । अत: लोक के असंख्यातवें भाग ही क्षेत्र है ।

काय मार्गणा में पृथ्वीकायिक आदि वनस्पतिकायिक तक का क्षेत्र सर्वलोक है । त्रसकायिक का पंचेन्द्रियवत क्षेत्र है ।

योग मार्गणा में वचनयोग, मनोयोग वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक के जीवों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है । काययोगी मिथ्यादृष्टियों से लेकर सयोगकेवली तक के तथा अयोगकेवलियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है ।

वेद मार्गणा में स्त्री, पुरुष वेदी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादर तक के जीवों का क्षेत्र लोक

के असंख्यातवें भाग है । नपुंसक वेदी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादर तक के और वेदरहित जीवों का क्षेत्र गुणस्थानवत है ।

कषाय मार्गणा में क्रोध-मान-माया कषायवाले और लोभ कषाय वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादर तक के तथा सूक्ष्मसांपराय वाले और कषाय रहित जीवों का क्षेत्र गुणस्थानवत है ।

ज्ञान मार्गणा में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र गुणस्थानवत है । विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है । मति, श्रुत, अवधिज्ञानी का असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक के तथा मन:पर्ययज्ञानीयों का प्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय तक का तथा केवलज्ञानी अयोगियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है ।

संयम मार्गणा में सामायिक छेदोपस्थापन शुद्धि संयत चार गुणस्थान वाले जीवों का परिहारविशुद्धि संयत प्रमत्त और अप्रमत्तों का तथा सूक्ष्मसांपराय शुद्धि संयतों का और यथाख्यात विहारशुद्ध संयत चार गुणस्थानों का और संयतासंयत और असंयत के चार गुणस्थानवर्तियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक के जीव का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है । अचक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक के जीवों का क्षेत्र गुणस्थानवत है । अवधिदर्शन वालों का अवधिज्ञानियों के और केवलदर्शन वाले का केवलज्ञानियों का समान क्षेत्र है ।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण-नील-कपोत लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र गुणस्थानवत है। पीत-पद्म लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक का लोक के असंख्यातवें भाग है । शुक्ललेश्या वाले मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय तक का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है । सयोगकेवलियों और लेश्या रहित अयोगकेवलियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है।

भव्य मार्गणा में चौदह ही गुणस्थान वाले भव्यों का क्षेत्र सामान्य में कहे अनुसार अर्थात् गुणस्थानवत है । अभव्यों का क्षेत्र सर्वलोक है ।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिकसम्यग्दृष्टियों का असंयतसम्यग्दृष्टि से आदि लेकर अयोगकेवली तक का और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्तसंयत तक का और औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का असंयत सम्यग्दृष्टि आदि उपशांत कषाय तक के जीवों का और सासादन सम्यग्दृष्टियों का और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का और मिथ्यादृष्टियों का गुणस्थानवत क्षेत्र है ।

संज्ञी मार्गणा संज्ञी जीवों का क्षेत्र चक्षुदर्शनवत है, और असंज्ञियों का क्षेत्र सर्वलोक है । उन दोनों से रहितों का क्षेत्र गुणस्थानवत है ।

आहारक मार्गणा में आहारकों का मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय तक का क्षेत्र गुणस्थानवत है। सयोगकेवलियों के लोक के असंख्यातवें भाग है। अनाहारकों का मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि अयोगकेवलियों का क्षेत्र गुणस्थानवत है। सयोगकेवलियों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है, और प्रतर अपेक्षा और पूर्ण अपेक्षा सर्वलोक है।

इस प्रकार क्षेत्र का निर्णय किया।

आगे स्पर्शन का कथन करते हैं :- यहाँ लोक के एक एक राजू घनरूप खण्ड करें तो तीन सौ तियालीस (343) होते हैं। उनमें जीव स्पर्शन करता है, जो चार प्रकार का है -(1) स्वस्थान विहार अपेक्षा (2) परस्थान विहार अपेक्षा (3) मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा (4) उत्पाद अपेक्षा। इनका कथन करते हैं - यह प्ररूपणा दो प्रकार से है (1) सामान्य रूप से गुणस्थान में (2) विशेष रूप से मार्गणा में।

यहां प्रथम ही **सामान्य अपेक्षा** मिथ्यादृष्टियों ने सर्वलोक को स्पर्श किया है। सासादन सम्यग्दृष्टियों ने स्वस्थानविहार अपेक्षा लोक का असंख्यातवां भाग स्पर्श किया है। तथा परस्थान अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि देव तीसरी पृथ्वी तक विहार करते हैं। अत: दो राजू तो ये और ऊपर अच्युत स्वर्ग तक विहार करते हैं, अत: छह राजू ये, इस प्रकार आठ राजू का स्पर्श करते हैं। इस तरह इनका स्पर्श चौदह में से आठ भाग कहा, क्योंकि त्रसनाली चौदह राजू की है। वहां तीन सौ तियालीस में से चौदह भाग लिये, उनमें से आठ भाग, तथा जहां बारह भाग कहे हों वहां उतने ही राजू समझना। यहां सासादन गुणस्थान में बारह भाग भी कहे हैं, उन्हें मारणांतिक समुद्घात अपेक्षा कहा समझना। ये सासादन गुणस्थान वाला सातवीं पृथ्वी को छोड छठी पृथ्वी से मारणांतिक समुद्घात को मध्य लोक में आवे, तब पांच राजू तो ये, और सासादन गुणस्थान वाला मध्यलोक से मरणांतिक समुद्घात कर बादर पृथ्वीकायिक आदि में उत्पन्न हो तब लोक के अन्त तक स्पर्श करे, तब सात राजू ये, इस तरह बारह राजू को स्पर्श करता है, जो देशोन अर्थात् इससे कुछ कम स्पर्श करता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है। अथवा चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग का स्पर्श किया है, जो अच्युत देव के परस्थान विहार की अपेक्षा है। संयतासंयत का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है, अथवा चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग है, यह अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हो वह मरणांतिक समुद्घात करे, उस अपेक्षा है। तथा प्रमत्तसंयत आदि से अयोग केवलियों तक का स्पर्श क्षेत्रवत है।

विशेष अपेक्षा से गति मार्गणा में प्रथम पृथ्वी में चारों गुणस्थान वाले नारकियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है। दूसरी से लेकर छठी पृथ्वी तक के नारकी मिथ्यादृष्टियों के सासादन

सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है और चौदह भागों में से एक भाग, दो भाग, तीन भाग, चार भाग, पांच भाग कुछ कम है, जो मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है। सातवीं पृथ्वी वाले मिथ्यादृष्टि नारकियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है, और चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग है जो मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा है। तथा तीन गुणस्थानवालों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है। तिर्यंचगति में तिर्यंचमिथ्यादृष्टियों का स्पर्श सर्वलोक है। सासादन सम्यग्दृष्टि का लोक का असंख्यातवां भाग है। असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत तिर्यंच का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है, और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा चौदह भाग में से कुछ कम छह भाग है। मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्श करते हैं, और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा सर्वलोक को स्पर्श करते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवे भाग को स्पर्शते हैं। और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा चौदह भागों में से कुछ कम सात भाग का स्पर्श करते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक का स्पर्श क्षेत्रवत है। देवगति में देव मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है। और चौदह भाग में से आठ भाग कुछ कम नव भाग परस्थानविहार अपेक्षा तीसरी पृथ्वी तक गमन मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा लोक के अग्रभाग में उत्पन्न हों तब स्पर्श करते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि देव लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं। परस्थान विहार अपेक्षा चौदह भाग में से कुछ कम आठ भाग का स्पर्श करते हैं।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि सर्वलोक को स्पर्शते हैं। विकलत्रय लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं। मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा सर्वलोक को स्पर्शते हैं। पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं। परस्थान विहार अपेक्षा चौदह भाग में से कुछ कम आठ भाग और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा सर्वलोक को स्पर्शते हैं। तथा सासादन से लेकर सभी गुणस्थानवर्ती पंचेन्द्रिय जीवों का स्पर्श गुणस्थानवत है।

काय मार्गणा में स्थावरकायिक जीव तो सर्वलोक को स्पर्शते हैं, त्रसकायिकों का स्पर्श पंचेन्द्रियवत ही है।

योग मार्गणा में वचन, मनोयोगी मिथ्यादृष्टियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवां भाग है, और चौदह भाग में से कुछ कम आठ भाग है, तथा सर्वलोक भी है। सासादन सम्यग्दृष्टियों से लेकर क्षीणकषाय तक के जीवों का स्पर्श गुणस्थानवत है। सयोगकेवलियों का स्पर्श लोक के असंख्यातवें भाग है। काययोगी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक के तथा अयोगकेवलियों के गुणस्थानवत स्पर्शन है।

वेद मार्गणा में स्त्री, पुरुष वेदी मिथ्यादृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं, और चौदह

भागों में से कुछ कम आठ भाग नव भाग को स्पर्शते हैं, अथवा सर्वलोक को भी स्पर्शते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं, और चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग, नौ भाग को स्पर्शते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसांपराय तक का स्पर्शन गुणस्थानवत है। नपुंसकवेदियों में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टियों के गुणस्थानवत स्पर्शन है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का स्पर्शन लोक के असंख्यातवें भाग है। असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं। और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा चौदह भागों में से कुछ कम छह भागों को स्पर्शते हैं। प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसांपराय तक का और वेदरहित का स्पर्शन गुणस्थानवत है।

कषाय मार्गणा में चार कषाय वालों का और कषाय रहित का स्पर्शन गुणस्थानवत है।

ज्ञान मार्गणा में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि के गुणस्थानवत स्पर्शन है। विभंगज्ञानी के मिथ्यादृष्टियों के लोक के असंख्यातवें भाग स्पर्शन है, और चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग है, और सर्वलोक भी है। सासादन सम्यग्दृष्टियों के गुणस्थानवत स्पर्शन है। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञानियों के गुणस्थानवत स्पर्शन है।

संयम मार्गणा में सभी संयतों के, संयतासंयतों का और असंयतों के गुणस्थानवत स्पर्शन है।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक के पंचेन्द्रिय के समान ही स्पर्शन है। अचक्षुदर्शन वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक के जीवों का तथा अवधिदर्शन, केवलदर्शन वालों का गुणस्थानवत स्पर्शन है।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण-नील-कपोत लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि सर्वलोक को स्पर्श करते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं, तथा चौदह भागों में से कुछ कम पांच भाग, कुछ कम चार भाग का स्पर्श करते हैं।

कोई प्रश्न करे :- बारह भाग क्यों नहीं कहे ?

समाधान :- नरक में अवस्थित लेश्या है। छठी पृथ्वी वाला मरणांतिक समुद्घात करे, वह मध्य लोक में आवे तब पांच राजू स्पर्श है। एवं जिनके मत (मान्यता) में सासादन गुणस्थान वाला एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता, उनके मत की अपेक्षा बारह भाग नहीं कहे हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं। पीतलेश्या वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग और चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग और कुछ कम नव भाग को स्पर्शते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग और चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागों का स्पर्श करते हैं। संयतासंयत लोक के असंख्यातवें भाग और मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा प्रथम स्वर्ग के डेढ राजू तक को स्पर्शते हैं,

अत: अर्द्धदेशोन चौदह भाग में से कहा है । प्रमत्त अप्रमत्तसंयत लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं । पद्म लेश्या वाला मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्शते हैं और चौदह राजू में से कुछ कम आठ भाग को स्पर्शते हैं । संयतासंयत लोक के असंख्यातवें भाग और चौदह भागों में से कुछ कम पांच भागों का स्पर्शन करते हैं । प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्श करते हैं । शुक्ल लेश्या वाला मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक लोक के असंख्यातवें भाग और चौदह भागों में से कुछ कम छह भागों का स्पर्श करते हैं । प्रमत्त आदि सयोगकेवली तक के (शुक्ल लेश्या वाले) और लेश्या रहित के गुणस्थानवत स्पर्शन है ।

भव्य मार्गणा में भव्य मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक के जीवों का स्पर्शन गुणस्थानवत है । अभव्य सर्वलोक को स्पर्शते हैं ।

सम्यक्त्व मार्गणा में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक के क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श गुणस्थानवत है । विशेष यह है कि संयतासंयतों का स्पर्श लोक के असंख्यातवें भाग ही है। क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का स्पर्शन गुणस्थानवत है । औपशमिक सम्यक्त्व वाले असंयत सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श गुणस्थानवत है । अन्य का स्पर्श लोक के असंख्यातवें भाग है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का स्पर्श गुणस्थानवत है ।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञियों का स्पर्श चक्षुदर्शनवत है । असंज्ञी सर्वलोक को स्पर्शते हैं । इन दोनों से रहित का स्पर्श गुणस्थानवत है ।

आहारक मार्गणा में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक में आहारकों का स्पर्श गुणस्थानवत है । सयोगकेवलियों का स्पर्श लोक के असंख्यातवें भाग है । अनाहारकों में मिथ्यादृष्टि सर्वलोक का स्पर्श करते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग का और चौदह भागों में से ग्यारह भागों से कुछ कम को स्पर्श करते हैं, जो छठी पृथ्वी से मध्यलोक में उत्पन्न हो उसके उपपाद अपेक्षा तो पांच राजू और अच्युत स्वर्ग से मध्यलोक में आ उत्पन्न हो, उसको उपपाद अपेक्षा छह राजू , इस तरह ग्यारह राजू कहे हैं। मरणांतिक समुद्घात अपेक्षा बारह राजू होते हैं, परन्तु मरणांतिक समुद्घात में अनाहारक होते नहीं है । अत: उपपाद अपेक्षा ग्यारह राजू कहे हैं । असंयत सम्यग्दृष्टि (अनाहारक) लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं, और चौदह भागों में से कुछ कम छह भागों का स्पर्श करते हैं । सयोगकेवली लोक के असंख्यातवें भाग और सर्वलोक को स्पर्शते हैं । अयोगियों का स्पर्श लोक के असंख्यातवें भाग है । इस तरह स्पर्शन का कथन किया ।

अब काल का निरुपण करते हैं :– काल का कथन दो प्रकार से है । सामान्य अपेक्षा गुणस्थानों में और विशेष अपेक्षा मार्गणा स्थानों में ।

सामान्य अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है । एक जीव अपेक्षा तीन भंग हैं। अभव्य का काल तो अनादि अनन्त है । भव्यजीव का काल अनादि सांत और सादि-सान्त है । सादि-सान्त जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त है । उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से कुछ कम है । तथा सासादन सम्यग्दृष्टि का नाना जीव अपेक्षा जघन्य तो एक समय है, उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। एक जीव अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है । असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर से कुछ अधिक है। संयतासंयत का नाना जीव अपेक्षा काल सर्व काल है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कोडीपूर्व से कुछ कम है । प्रमत्त और अप्रमत्त संयत का नाना जीव अपेक्षा काल सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थानों का काल नाना जीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा जघन्य तो एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । क्षपक श्रेणी वाले चार अर्थात् अठवां, नवमां, दशमा, बारहमां गुणस्थान का काल और अयोगकेवली का नानाजीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा जघन्य काल भी और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त है । सयोगकेवलियों का नानाजीव अपेक्षा तो सर्वकाल है और एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कोडिपूर्व से कुछ कम है ।

विशेष अपेक्षा – गति मार्गणा में नरक गति में नारकियों का सातों ही पृथ्वियों में मिथ्यादृष्टि का काल नानाजीव अपेक्षा तो सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर अनुक्रम से आयु प्रमाण काल है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का काल गुणस्थानवत है । असंयत सम्यग्दृष्टि का काल नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आयु प्रमाण से कुछ कम है ।

तिर्यन्च गति में तिर्यन्च मिथ्यादृष्टि का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल अनन्त काल है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत तिर्यन्च का गुणस्थानवत काल है । असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा काल सर्वकाल है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल तीन पल्य है ।

मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य का नानाजीव अपेक्षा काल सर्वकाल है । एक जीव अपेक्षा

जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल तीन पल्य से पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक है । सासादन सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल छह आंवली है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा तथा एक जीव अपेक्षा काल जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्य से कुछ अधिक है । शेष सभी गुणस्थानों का काल गुणस्थानवत है ।

देवगति में मिथ्यादृष्टि देव का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल इकतीस सागर है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का काल गुणस्थानवत है । असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा काल सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है ।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय का नानाजीव अपेक्षा काल सर्वकाल है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव और उत्कृष्ट काल अनन्त है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । विकल त्रय का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव और उत्कृष्ट काल संख्यात हजार वर्ष है । पंचेन्द्रियों में मिथ्यादृष्टि का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट हजार सागर अधिक पृथक्त्व कोडी पूर्व है । सासादन आदि गुणस्थानों का काल गुणस्थानवत है ।

काय मार्गणा में पृथ्वी, अप, तेज, वायु कायिक नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव और उत्कृष्ट काल असंख्यात लोक प्रमाण है । वनस्पतिकायिक का काल एकेन्द्रियवत है । त्रसकायिकों में मिथ्यादृष्टि का नाना जीव अपेक्षा काल सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट दो हजार सागर से पृथ्क्त्व कोडी पूर्व अधिक है। शेष गुणस्थानों का पंचेन्द्रियवत काल है ।

योग मार्गणा में वचन, मनोयोगी मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त संयत, सयोगकेवलियों का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । सासादन सम्यग्दृष्टि का काल गुणस्थानवत है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवां भाग है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चार गुणस्थान वाले उपशमक और चार गुणस्थान वाले क्षपकों का नानाजीव अपेक्षा तथा एक जीव अपेक्षा भी जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। काययोगियों में मिथ्यादृष्टियों का नानाजीव

अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अनन्त है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। शेष गुणस्थानों में काययोगियों का काल मनोयोगियों के समान है। अयोगियों का काल गुणस्थानवत है।

वेद मार्गणा में स्त्रीवेद में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पृथक्त्व सौ पल्य है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदि अनिवृत्तिबादरसांपराय वालों का काल गुणस्थानवत है। यहां विशेष यह जानना कि असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पचपन (55) पल्य से कुछ कम है। पुरुष वेद में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पृथक्त्व सौ सागर है। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति बादरसांपराय तक का काल गुणस्थानवत है। नपुसंक वेद में मिथ्यादृष्टि का काल नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल अनन्त है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसांपराय तक काल गुणस्थानवत है। विशेष यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर से कुछ कम है। वेद रहित का काल गुणस्थानवत है।

कषाय मार्गणा में चार कषायों में मिथ्यादृष्टि आदि अप्रमत्त गुणस्थान तक का काल मनोयोगवत है। दोनों उपशमक और दोनों क्षपक गुणस्थान वालों का तथा केवल लोभ वालों का और कषाय रहितों का काल गुणस्थानवत है।

ज्ञान मार्गणा में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि का काल गुणस्थानवत है। विभंग ज्ञानियों में मिथ्यादृष्टि का काल नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल तेतीस सागर से कुछ कम है। सासादन सम्यग्दृष्टि का काल गुणस्थानवत है। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञानियों का और केवलियों का काल गुणस्थानवत है।

संयम मार्गणा में सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यातशुद्धि संयम वालों का तथा संयतासंयतों का और असंयत चार गुणस्थानवालों का काल गुणस्थानवत है।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वालों में मिथ्यादृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल दो हजार सागर है। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक वालों का काल गुणस्थानवत है। अचक्षुदर्शन वालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक वालों का काल गुणस्थानवत है। अवधिदर्शन और केवलदर्शन वालों का काल अवधिज्ञान और केवलज्ञानवत है।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण, नील, कपोत लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल तेतीस सागर, सतरह सागर, सात सागर से कुछ अधिक है, जो नारकियों की अपेक्षा है। सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का काल गुणस्थानवत है। असंयत सम्यग्दृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागर अथवा सतरह सागर अथवा सात सागर है। पीत, पद्म लेश्याओं में मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक दो सागर, अठारह सागर है, जो स्वर्ग की अपेक्षा है। सासादन सम्यग्दृष्टि का काल गुणस्थानवत है। संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त संयतों का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। शुक्ल लेश्या में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट काल इकतीस (31) सागर से कुछ अधिक है। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक का और लेश्या रहितों का काल गुणस्थानवत है। विशेष यह है कि संयतासंयतों का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

भव्य मार्गणा में भव्यों में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा दो भंग हैं - (1) अनादि सांत (2) सादि सांत। उनमें सादि सांत जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन से कुछ कम है। सासादन से लेकर केवली पर्यन्त का काल गुणस्थानवत है। अभव्यों का काल अनादि अनन्त है।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक का काल गुणस्थानवत है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में चारों गुणस्थान वालों का काल गुणस्थानवत है। औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन दोनों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। एक जीव अपेक्षा जघन्य भी और उत्कृष्ट भी काल अन्तर्मुहूर्त है। प्रमत्त, अप्रमत्त संयत का और चारों गुणस्थान वाले उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा तथा एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का काल गुणस्थानवत है।

संज्ञी मार्गणा में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसांपराय तक का काल पुरुष वेद के समान है। शेष रहे गुणस्थान वालों का काल गुणस्थानवत है। असंज्ञियों में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो क्षुद्रभव है, जो स्वांस का अठारहवां भाग है, और

उत्कृष्ट काल अनन्त है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । दोनों से रहित का काल गुणस्थानवत है।

आहारक मार्गणा में आहारक में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट काल अंगुल के असंख्यातवें भाग है, जो असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी प्रमाण है । अंगुल के प्रदेश और इनके समय समान हैं । अवशेषों का काल गुणस्थानवत है । अनाहार में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा सर्वकाल है, एक जीव अपेक्षा जघन्य तो एक समय है और उत्कृष्ट काल तीन समय है । सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल एक समय है, उत्कृष्ट काल आंवली के असंख्यातवें भाग है । एक जीव अपेक्षा जघन्य काल तो एक समय है, उत्कृष्ट दो समय है । सयोगकेवली का नानाजीव अपेक्षा जघन्य काल तो तीन समय है, और उत्कृष्ट असंख्यात समय है । एक जीव अपेक्षा काल जघन्य भी और उत्कृष्ट भी तीन समय है। अयोगकेवली का काल गुणस्थानवत है ।

इस प्रकार काल का कथन किया ।

आगे अन्तर का निरुपण करते हैं :– तहां विवक्षित गुण के अन्य गुण रूप बदल कर पुन: उस (विवक्षित) गुण की प्राप्ति होने के बीच का काल अन्तर कहलाता है, जो दो प्रकार से कहा जाता है । सामान्य रूप से तो गुणस्थानों में और विशेष रूप से मार्गणाओं में ।

सामान्य अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस (132) सागर से कुछ कम है। सासादन सम्यग्दृष्टि का अन्तर नानाजीव अपेक्षा जघन्य तो एक समय, और उत्कृष्ट अन्तर पल्य का असंख्यातवां भाग है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्य का असंख्यातवांभाग है, और उत्कृष्ट अन्तर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से कुछ कम है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि का अन्तर नानाजीव अपेक्षा सासादन के समान ही है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन है । असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत तक का नानाजीव अपेक्षा तो अन्तर है नहीं, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन है । उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थान वालों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व वर्ष है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन है । क्षपक श्रेणी वाले चारों गुणस्थान वालों एवं अयोगकेवलियों का नानाजीव अपेक्षाजघन्य अन्तर तो एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महिने है । एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । सयोगकेवलियों का नानाजीव अपेक्षा एवं एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

विशेष अपेक्षा में गति मार्गणा में नरक गति में नारकियों का सात पृथ्वियों में मिथ्यादृष्टि, असंयत

सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट अन्तर एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सतरह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर से कुछ कम है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर पल्य का असंख्यातवां भाग है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्य का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट कुछ कम एक अथवा तीन अथवा सात अथवा दश अथवा सतरह अथवा बाईस अथवा तेतीस सागर है। तिर्यंच गति में तिर्यंच मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर है नहीं, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तीन पल्य है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदि चारों गुणस्थान वाले तिर्यंचों का अन्तर गुणस्थानवत है। मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के अन्तर तिर्यंच के समान है। सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तीन पल्य से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है। असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तीन पल्य से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व कोडिपूर्व है। उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थान वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, और एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व कोडिपूर्व है। शेष गुणस्थान वालों का अन्तर गुणस्थानवत है। देवगति में देव मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम 31 सागर है।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो क्षुद्रभव है और उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है। विकलत्रय के नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव अपेक्षा अन्तर क्षुद्रभव है, उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। इस प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तर कहा है, गुणस्थान की अपेक्षा इन सबके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है, अतः अन्तर नहीं है। पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है। सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्य का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है। असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त

गुणस्थान तक नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है । उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है । शेष का अन्तर गुणस्थानवत है ।

काय मार्गणा में पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायिकों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभव और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । वनस्पतिकायिकों के नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभव है और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात लोक है । यहां असंख्यात लोक के जितने प्रदेश हो हैं, उतने काल के समय अन्तर समझना । इसप्रकार काय की अपेक्षा अंतर कहा है, गुणस्थान की अपेक्षा विचार करने पर अन्तर नहीं है । त्रसकायिकों में मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्य का असंख्यातवां भाग है और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है । असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक वालों के नाना जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है । उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक है। अवशेषों का अन्तर पंचेन्द्रियवत है ।

योग मार्गणा में काय, वचन, मनयोगी मिथ्यादृष्टि आदि असंयत सम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्तसंयत, सयोगकेवलियों का नाना जीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का नाना जीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थान वालों का नाना जीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । क्षपक श्रेणी के चारों गुणस्थान वालों का और अयोगकेवलियों का अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

वेद मार्गणा में स्त्रीवेद में मिथ्यादृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पचपन (55) पल्य से कुछ कम है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्य का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ पल्य है। असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमतसंयत तक का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर

अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ पल्य है । दो उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ पल्य है । दो क्षपकश्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर जघन्य तो एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व वर्ष है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । पुरुषवेदियों में मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यगमिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ सागर है । असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पृथकत्व सौ सागर है । दो उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ सागर है । दो क्षपक श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। नपुंसक वेद में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर से कुछ कम है। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति उपशम तक का अन्तर गुणस्थानवत है। दो क्षपक श्रेणी वालों का स्त्री वेदवत है । वेदरहित अनिवृत्तिबादरसांपराय उपशमक सूक्ष्मसांपराय उपशमक का नानाजीव अपेक्षा गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है। उपशांतकषाय का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। अवशेषों का अन्तर गुणस्थानवत है ।

कषाय मार्गणा में क्रोध, मान, माया, लोभ वाले मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिउपशम श्रेणी वालों तक का अन्तर मनोयोगियों के समान है। और दो क्षपकश्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक है । केवल लोभ सूक्ष्मसांपराय उपशमक का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है । एक जीव की अपेक्षा अंतर नहीं है । सूक्ष्म सांपराय क्षपकश्रेणी वाले के गुणस्थानवत है । कषाय रहित चारों गुणस्थानों में उपशांतकषाय का नानाजीव अपेक्षा गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । अवशेष तीन गुणस्थानों का अन्तर गुणस्थानवत है ।

ज्ञान मार्गणा में मतिअज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान वाले मिथ्यादृष्टियों में नानाजीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा भी अन्तर नहीं है । सासादन सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । मति, श्रुत, अवधि ज्ञानवाले असंयतसम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम

कोडिपूर्व है । संयतासंयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट अन्तर छयासठ (66) सागरोपम से कुछ अधिक है । प्रमत्त, अप्रमत्तसंयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर से कुछ अधिक है । चारों उपशम श्रेणीवाले गुणस्थानों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर छयासठ सागर से कुछ अधिक है। क्षपक श्रेणी के चारों गुणस्थानों का अन्तर गुणस्थानवत है । यहां विशेष यह है कि अवधिज्ञानियों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व वर्ष है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। मन:पर्यय ज्ञानी प्रमत्त और अप्रमत्त संयतों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । चारों उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कोडिपूर्व से कुछ कम है । चारों क्षपक श्रेणी वालों का अन्तर अवधिज्ञान के समान है । दोनों केवलज्ञानियों का अन्तर गुणस्थानवत है ।

संयम मार्गणा में सामायिक, छेदोपस्थापन शुद्ध संयमियों में प्रमत्त, अप्रमत्त संयमियों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । दोनों उपशम श्रेणीवालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कोडिपूर्व से कुछ कम है । दोनों क्षपकश्रेणी वालों का अन्तर गुणस्थानवत है । परिहारविशुद्धि संयमी प्रमत्त, अप्रमत्तों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । सूक्ष्मसांपराय संयम में उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । क्षपकश्रेणी वालों का अन्तर गुणस्थानवत है । यथाख्यात संयमियों का अन्तर अकषायवत जानना । संयतासंयतों का नानाजीव अपेक्षा भी और एक जीव अपेक्षा भी अन्तर नहीं है । असंयतों में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर से कुछ कम है । शेष तीनों गुणस्थानों का अन्तर गुणस्थानवत है ।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वालों में मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथयरदृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से कुछ कम है । असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकरअप्रमत्त संयत तक का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से कुछ कम है । चारों उपशम श्रेणी वालों का

नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो हजार सागर से कुछ कम है। चारों क्षपकश्रेणी वालों का अन्तर गुणस्थानवत है । अचक्षुदर्शन में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक का अन्तर गुणस्थानवत है । अवधि दर्शन वालों का अन्तर अवधिज्ञानवत है । केवलदर्शन वालों का अन्तर केवलज्ञानवत है ।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण-नील-कपोत लेश्या वालों में मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर, सतरह सागर, सात सागरों से कुछ कम है, जो नारकियों की अपेक्षा है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर सामान्य (अर्थात गुणस्थानवत) है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवां भाग है, अन्तर्मुहूर्त भी अन्तर है, उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर, सतरह सागर, सात सागर है । पीत-पद्म लेश्या में मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो सागर, अठारह सागर से कुछ अधिक है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्य का असंख्यातवां भाग है और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर दो सागर, अठारह सागर से कुछ अधिक है संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त संयतों का नानाजीव अपेक्षा भी और एक जीव अपेक्षा भीअन्तर नहीं है । शुक्ल का लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर इकतीस (31)सागर से कुछ कम है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्य को असंख्यातवें भाग है और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर इकतीस सागर से कुछ कम है । संयतासंयत और प्रमत्त संयत का अन्तर पीतलेश्यावत है । अप्रमतसंयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशमश्रेणी वालें का नानाजीव अपेक्षा गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । उपशांत कषाय का नानाजीव अपेक्षा गुणस्थानवत है, एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों क्षपकश्रेणी वालों का और सयोगकेवलियों और लेश्या रहित का अन्तर गुणस्थानवत है ।

भव्य मार्गणा में भव्य मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक का अन्तर गुणस्थानवत है । अभव्यों का नानाजीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा भी अन्तर नहीं है ।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर

नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम कोडिपूर्व है । संयतासंयत, प्रमत्त और अप्रमत्त संयतों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर से कुछ अधिक है । चारों उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर सें कुछ अधिक है । अवशेषों का अन्तर गुणस्थानवत है । क्षयोपशम सम्यग्दृष्टियों में असंयत सम्यग्दृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम कोडिपूर्व है । संयतासंयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर छयासठ (66) सागरोपम से कुछ कम है। प्रमत्त और अप्रमत्त संयत का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर तेतीस सागर से कुछ अधिक है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में असंयत सम्यग्दृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर सात रातदिन का है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । संयतासंयत का नानाजीव अपेक्षाजघन्य अन्तर तो एक समय है, और उत्कृष्ट अन्तर चौदह रातदिन का है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर भी और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्त, अप्रमत्त संयत का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट पंद्रह रातदिन का है, एक जीव अपेक्षा जघन्य भी उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशम श्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व वर्ष है । एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर और उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है । उपशांत कषाय का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है । मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा भी अन्तर नहीं है ।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञियों में मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्य के असंख्यातवें भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ सागर है । असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त तक का नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ सागर है । चारों उपशमश्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सौ सागर है । चारों क्षपकश्रेणी वालों का अन्तर गुणस्थानवत है । असंज्ञी के नानाजीव

अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। दोनों नामों रहित का अन्तर गुणस्थानवत है।

आहारक मार्गणा में आहारकों में मिथ्यादृष्टि का अन्तर गुणस्थानवत है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो पल्योपम का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर अंगुल का असंख्यातवां भाग आकाश के प्रदेश जितने हैं उतने समय है, जो असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल है। असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक नानाजीव अपेक्षा अन्तर नहीं है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर अंगुल का असंख्यातवां भाग है, जो असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का समयों जितना है। चारों उपशमश्रेणी वालों का नानाजीव अपेक्षा अन्तर गुणस्थानवत है, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तर अंगुल का असंख्यातवां भाग है, जो असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के समयों के समान है। चारों क्षपकश्रेणी वालों का और सयोगकेवलियों का अन्तर गुणस्थानवत है। अनाहारकों में मिथ्यादृष्टि का नानाजीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा भी अन्तर नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। असंयत सम्यग्दृष्टियों का नानाजीव अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है, और उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व महिने है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। सयोगकेवली का नानाजीव अपेक्षाजघन्य अन्तर तो एक समय है, उत्कृष्ट पृथक्त्व वर्ष है, एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है।

इस प्रकार अन्तर का निश्चय किया।

आगे भाव को प्रगट करते हैं :– वहां भाव दो प्रकार है। सामान्य अपेक्षा गुणस्थान में और विशेष मार्गणा स्थान अपेक्षा।

पहले ही **सामान्य अपेक्षा** मिथ्यादृष्टि के तो औदयिक भाव है। सासादन सम्यग्दृष्टि के पारिणामिक भाव है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशमिक भाव है। असंयत सम्यग्दृष्टि के औपशमिक अथवा क्षायिक अथवा क्षयोपशमिक भाव है। यहां असंयतपना है वह औदयिक भाव अपेक्षा है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत ये क्षयोपशमिक भाव है। चारों उपशमश्रेणी वालों के औपशमिक भाव है। चारों क्षपकश्रेणी वालों के और सयोगकेवलियों के क्षायिक भाव है।

विशेष अपेक्षा गति मार्गणा में नरक गति में प्रथम पृथ्वी में नारकी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक के गुणस्थानवत भाव हैं। दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि के गुणस्थानवत भाव हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि के औपशमिक क्षायोपशमिक भाव है, असंयत है, वह औदयिक भाव से है। तिर्यंच गति में तिर्यंचों के मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत

तक गुणस्थानवत भाव हैं। मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि आदि अयोगकेवली तक के गुणस्थानवत भाव हैं। देवगति में देवों के मिथ्यादृष्टि आदि असंयत सम्यग्दृष्टि तक के गुणस्थानवत भाव हैं।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय, विकलत्रय के औदयिक भाव है। पंचेन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि आदि अयोगकेवली तक के गुणस्थानवत भाव हैं।

काय मार्गणा में स्थावरकायिकों के औदयिक भाव है। त्रसकायिकों के गुणस्थानवत भाव हैं।

योग मार्गणा में काय-वचन-मन योगियों के मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक तथा अयोगकेवली के गुणस्थानवत भाव हैं।

वेद मार्गणा में स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदियों के और वेद रहित के गुणस्थानवत भाव हैं।

कषाय मार्गणा में क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय वालों के और कषाय रहित के भाव गुणस्थानवत हैं।

ज्ञान मार्गणा में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान वालों के तथा मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञान वालों के गुणस्थानवत भाव हैं।

संयम मार्गणा में सभी संयतों के तथा संयतासंयतों के असंयतों के गुणस्थानवत भाव हैं।

दर्शन मार्गणा में चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन वालों के भाव गुणस्थानवत हैं।

लेश्या मार्गणा में छहों लेश्यावालों के और लेश्या रहित के गुणस्थानवत भाव हैं।

भव्य मार्गणा में भव्य मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक के भाव गुणस्थानवत हैं और अभव्यों के पारिणामिक भाव है।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिक सम्यग्दृष्टि में असंयत सम्यग्दृष्टि के क्षायिक भाव तो क्षायिक सम्यक्त्व है, और असंयतपना है वह औदयिक भाव है। संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त संयतों के क्षयोपशमिक भाव है, सम्यक्त्व क्षायिक है, वह क्षायिक भाव से है। चारों उपशमश्रेणी वालों के औपशमिक भाव है, यहां सम्यक्त्व क्षायिक भाव से है। शेष में गुणस्थानवत भाव है। क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि में असंयत सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशमिक भाव है, वह तो क्षयोपशमिक सम्यक्त्व है, असंयत है वह औदयिक भाव है। संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्तसंयतों में क्षयोपशमिक भाव है क्षयोपशमिक सम्यक्त्व है। औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि के औपशमिक भाव औपशमिक सम्यक्त्व है, असंयत है वह औदयिक भाव है। संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्तसंयतों के क्षयोपामिक भाव है, सम्यक्त्व औपशमिक है। चारों उपशमश्रेणी वालों के औपशमिक भाव औपशमिक सम्यक्त्व है। सासादन मिथ्यादृष्टि के पारिणामिक भाव है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशमिक भाव है। मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव है।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञी के गुणस्थानवत भाव हैं। असंज्ञी के औदयिक भाव है। दोनों संज्ञा रहित के गुणस्थानवत भाव हैं।

आहारक मार्गणा में आहारकों के और अनाहारकों के गुणस्थानवत भाव हैं।

इस तरह मोह कर्म की अपेक्षा भावों का निरूपण उदाहरण रूप समाप्त हुआ।

आगे अल्पबहुत्व का वर्णन करते हैं, जो दो प्रकार से है – सामान्य अपेक्षा, विशेष अपेक्षा।

वहां **सामान्य अपेक्षा** तीन उपशमश्रेणी वाले सबसे कम हैं, उनकी अपने अपने गुणस्थान के कालों में प्रवेश की अपेक्षा संख्या समान है। और उपशांत कषायवाले भी उतने ही हैं। एवं तीनों क्षपकश्रेणी वाले इनसे संख्यात गुणे हैं, एवं क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग भी उतने ही हैं। सयोगकेवली और अयोगकेवली की प्रवेश की अपेक्षा संख्या समान है, तथा इनमें अपने अपने काल में एकत्रित हुये सयोगकेवलियों की संख्या इनसे संख्यात गुणी है। अप्रमत्त संयत इनसे संख्यात गुणे हैं। इनसे भी संख्यात गुणे प्रमत्तसंयत हैं। उनसे भी असंख्यात गुणे संयतासंयत हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि इनसे असंख्यात गुणे हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि इनसे भी असंख्यात गुणे हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि इनसे असंख्यात गुणे हैं। मिथ्यादृष्टि इनसे अनन्त गुणे हैं।

विशेष अपेक्षा गति मार्गणा में नरकगति में सब पृथ्वियों में नारकियों में सासादन सम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं। इनसे संख्यात गुणे सम्यगमिथ्यादृष्टि हैं। इनसे असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। इनसे असंख्यात गुणे मिथ्यादृष्टि हैं। तिर्यंच गति में संयतासंयत तिर्यंच सब से कम हैं। अन्य की संख्या गुणस्थानवत है। मनुष्यगति में मनुष्यों में उपशमश्रेणी वालों से लेकर प्रमत्तसंयत तक गुणस्थानवत है। प्रमत्तसंयतों से संख्यातगुणे संयतासंयत हैं। इनसे संख्यातगुणे सासादन सम्यग्दृष्टि हैं। इनसे संख्यात गुणे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं। इनसे संख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। देवगति में देवों का अल्पबहुत्व नारकियों के समान हैं।

इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय, विकलेंद्रिय में गुणस्थान भेद नहीं है, अत: अल्पबहुत्व का अभाव है। इन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय तक उतरोत्तर बहुत्व है। पंचेन्द्रियों में अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है। विशेष यह है कि मिथ्यादृष्टि असंख्यात गुणे ही हैं (अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियों से मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय असंख्यात गुणे हैं)।

काय मार्गणा में स्थावर काय में गुणस्थान भेद नहीं है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है। काय की अपेक्षा कथन करते हैं – तेजस्कायिक सबसे कम हैं। उनसे बहुत पृथ्वीकायिक हैं। उनसे बहुत अप्कायिक हैं। उनसे बहुत वातकायिक हैं। सर्व से अनन्त गुणे वनस्पतिकायिक हैं। त्रसकायिकों में अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियवत हैं।

योग मार्गणा में मन - वचन योगियों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियवत है और काययोगियों का अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है ।

वेद मार्गणा में स्त्री - पुरुष वेदियों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रिय के समान है । नपुंसक वेदी और वेद रहित का अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है ।

कषाय मार्गणा में क्रोध, मान, माया कषाय वालों का अल्पबहुत्व पुरुषवेदवत है । विशेष (असंयत सम्यग्दृष्टियों से) अनन्त गुणे मिथ्यादृष्टि हैं । लोभ कषाय वालों में दोनों उपशमश्रेणी वालों की संख्या समान है और क्षपकश्रेणी वाले इनसे संख्यात गुणे हैं । उनसे सूक्ष्मसांपराय शुद्ध संयत उपशमश्रेणी वाले विशेष अधिक हैं । उनसे संख्यात गुणे सूक्ष्मसांपराय क्षपकश्रेणी वाले हैं । अवशेष का अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है ।

ज्ञान मार्गणा में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान वालों में सासादन सम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं । उनसे अनन्त गुणे मिथ्यादृष्टि हैं । विभंग ज्ञानियों में सासादन सम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं । उनसे असंख्यात गुणे मिथ्यादृष्टि हैं । मति, श्रुत, अवधि ज्ञानियों में सबसे कम चार उपशमश्रेणी वाले हैं । उनसे संख्यातगुणे क्षपकश्रेणी वाले हैं । उनसे संख्यात गुणे अप्रमत्तसंयत हैं । इनसे संख्यात गुणे प्रमत्तसंयत हैं । इनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत हैं । इनसे असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं । मन:पर्यय ज्ञानियों में सबसे कम चारों उपशमश्रेणी वाले हैं । इनसे संख्यात गुणे क्षपकश्रेणी वाले हैं । इनसे संख्यात गुणे अप्रमत्तसंयत हैं। इनसे संख्यात गुणे प्रमत्तसंयत हैं । केवलज्ञानियों में अयोगकेवलियों से संख्यात गुणे सयोगकेवली हैं ।

संयम मार्गणा में सामायिक, छेदोपस्थापन शुद्ध संयतों में दोनों उपशमश्रेणी वाले संख्या में समान हैं । इनसे संख्यात गुणे क्षपकश्रेणी वाले हैं । इनसे संख्यात गुणे अप्रमत्त संयत हैं । इनसे संख्यात गुणे प्रमत्त संयत हैं । परिहारविशुद्धि संयतों में अप्रमत्तसंयतों से संख्यात गुणे प्रमत्त संयत हैं । सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयमियों में उपशमश्रेणी वालों से क्षपकश्रेणी वाले संख्यात गुणे हैं । यथाख्यातविहारविशुद्ध संयतों में उपशांत कषाय वालों से क्षीणकषाय वाले संख्यात गुणे हैं। अयोगकेवली उतने ही हैं । उनसे संख्यात गुणे सयोगकेवली हैं । संयतासंयतों में गुणस्थान एक ही है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है । असंयतों में सबसे कम सासादन सम्यग्दृष्टि हैं, उनसे संख्यात गुणे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं । इनसे संख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं । इनसे अनन्त गुणे मिथ्यादृष्टि हैं ।

दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शन वालों का अल्पबहुत्व मनोयोगीवत है । अचक्षुदर्शन वालों में अल्पबहुत्व काययोगीवत है । अवधिदर्शन वालों में अल्पबहुत्व अवधिज्ञानवत है । केवलदर्शन वालों में अल्पबहुत्व केवलज्ञानवत है ।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण-नील-कपोत लेश्या वालों का अल्पबहुत्व असंयत के समान है ।

पीत-पद्म लेश्या वालों में सबसे कम अप्रमत्तसंयत हैं। इनसे संख्यात गुणे प्रमत्त संयत हैं। इस प्रकार शेष गुणस्थान वालों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियवत है। शुक्ल लेश्या वालों में सबसे कम उपशमश्रेणी वाले हैं। इनसे संख्यात गुणे क्षपकश्रेणी वाले हैं। इनसे संख्यात गुणे सयोगकेवली हैं। इनसे संख्यात गुणे अप्रमत्त संयत हैं। इनसे संख्यात गुणे प्रमत्तसंयत हैं। इनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे सासादन सम्यग्दृष्टि हैं। इनसे असंख्यात गुणे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं। इनसे असंख्यात गुणे मिथ्यादृष्टि हैं। इनसे असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं।

भव्य मार्गणा में भव्यों का अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है। अभव्यों में अल्पबहुत्व नहीं है।

सम्यक्त्व मार्गणा में क्षायिकसम्यग्दृष्टियों में सबसे कम चारों उपशमश्रेणी वाले हैं। प्रमत्तसंयतों तक अन्य का अल्पबहुत्व गुणस्थानवत है। उनसे संख्यात गुणे संयतासंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे असंयतसम्यग्दृष्टि हैं। क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में सबसे कम अप्रमत्तसंयत हैं। उनसे संख्यात गुणे प्रमत्तसंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे असंयतसम्यग्दृष्टि हैं। औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में सबसे कम चारों उपशमश्रेणी वाले हैं। उनसे संख्यात गुणे अप्रमत्तसंयत हैं। उनसे संख्यात गुणे प्रमतसंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत हैं। उनसे असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। अवशेषों में अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि विवक्षित एक एक गुणस्थान ही है।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञियों का अल्पबहुत्व चक्षुदर्शन वालों के समान है। असंज्ञियों में अल्पबहुत्व नहीं है। दोनों संज्ञारहितों का अल्पबहुत्व केवलज्ञानियों के समान है।

आहारक मार्गणा में आहारकों का अल्पबहुत्व काययोगियों के समान है। अनाहारकों में सबसे कम सयोगकेवली हैं। उनसे संख्यात गुणे अयोगकेवली हैं। उनसे असंख्यात गुणे सासादन सम्यग्दृष्टि हैं। उनसे असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि। उनसे अनन्त गुणे मिथ्यादृष्टि हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि का गति आदि मार्गणाओं में सामान्यरूप से कथन किया है। इसमें सूक्ष्म भेद आगम से विरोध को प्राप्त न हों, इस प्रकार अंगीकार करना।

यहां सत् आदि का **संक्षेप में भावार्थ** इस प्रकार जानना :- 'सत्' अर्थात् वस्तु है, इस प्रकार अस्तित्व को बताना। 'संख्या' अर्थात् वह वस्तु कितनी है, इस प्रकार भेदों की गिनती बताना। 'क्षेत्र' अर्थात् यह वस्तु वर्तमान में इतने क्षेत्र में है, ऐसा बताना। 'स्पर्शन' अर्थात् यह वस्तु तीन काल में इतने क्षेत्र में विचरण करती है, यह बताना। काल निश्चय और व्यवहार रूप है, वहां जिस वस्तु की अपेक्षा जितना काल का प्रमाण है, वह बताना। 'अन्तर' अर्थात् एक गुण से दूसरे गुण रूप होकर पुनः उसी गुण को प्राप्त करे, उसके बीच जितना काल रहा हो, वह विरह काल है, उसे अन्तर भी कहते हैं, उसको बताना। 'भाव' अर्थात् औपशमिक आदि पांच भावों का कथन करना।

'अल्पबहुत्व' अर्थात् दो वस्तुओं में परस्पर संख्या अपेक्षा हीनाधिकता का कथन करना। इस प्रकार आठ अनुयोगों से वस्तु का अधिगम (ज्ञान) होता है। वहां जीव नामक वस्तु का गुणस्थान, मार्गणा अपेक्षा (उपरोक्त आठ अनुयोगों का) उदाहरण रूप में कथन किया है, यह जानना। इसी प्रकार आगम के अनुसार सर्व वस्तुओं पर (आठों अनुयोगों को) गठित कर लेना।

कुछ नास्तिक वादी वस्तु को सर्वथा अभाव रूप ही कहते हैं, उनका निराकरण 'सत्' कहने से होता है। **कुछ लोग** वस्तु को सर्वथा एक अभेद मानते हैं, उनका निषेध भेदों की गणना से हुआ जानना। **कुछ लोग** वस्तु के प्रदेशों को नहीं मानते, उनका निषेध क्षेत्र कहने से हुआ। **कुछ लोग** वस्तु को सर्वथा क्रिया रहित मानते हैं, उनका निषेध स्पर्शन के कथन द्वारा हुआ जानना। अथवा **कुछ लोग** वस्तु का सर्वथा कदाचित् प्रलय होना मानते हैं, तथा क्षणिक ही मानते हैं, उनका निषेध काल का नियम कहने से हुआ। कुछ लोग वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं, उनका निषेध अन्तर का नियम कहने से होता है। **कुछ लोग** वस्तु को एक ही मानते हैं, अथवा अनेक ही मानते हैं, उनका निषेध अल्पबहुत्व का नियम कहने से होता है।

इस प्रकार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विधि-निषेध से प्रमाण, नय-निक्षेप अनुयोगों की विधि से साधने से यथार्थ ज्ञान होने पर अधिगमज सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इनके विधि-निषेध की चर्चा 'श्लोकवार्तिक' में है, वहां से जान लेना। इस प्रकार आरम्भ में ही कहे सम्यग्दर्शन का लक्षण, उत्पत्ति, निमित्त, स्वामी, विषय, न्यास, अधिगम का उपाय कहा है। इनके सम्बन्ध से जीवादि के सत् परिणाम आदि का कथन किया है।

इसके बाद सम्यग्ज्ञान विचारणीय है, उसका कथन करते हैं :-

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।। 1-9 ।।

अर्थ :- (1) मति (2) श्रुत (3) अवधि (4) मनःपर्यय (5) केवल - ये पांच ज्ञान हैं।

ज्ञान शब्द को सबके साथ लगाने पर वे पांचों ही ज्ञान हुये।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों तथा मन से पदार्थों को जाने वह, अथवा जिसके द्वारा जाना जावे वह, अथवा जानना मात्र मतिज्ञान है। तथा श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वक्ता द्वारा कही हुई वस्तु का नाम सुनकर जाने वह, अथवा जिससे सुनि हुई वस्तु को जाना जावे वह अथवा श्रवण करके जानना मात्र श्रुतज्ञान है। इन दोनों का समीप निर्देश कारण कार्य भाव से कहा। मतिज्ञान कारणरूप है, श्रुतज्ञान कार्य रूप है। तथा अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा में रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जाने, अथवा जिसके द्वारा जाना जावे, अथवा जानना मात्र अवधिज्ञान है। तथा मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अन्य के मन

का पदार्थ को जाने, अथवा जिससे जाना जावे, अथवा जानना मन:पर्ययज्ञान है। यहां पर (अन्य) के मन के पदार्थ को मन, ऐसी संज्ञा साहचर्य से कही है।

यहां कोई कहे कि इससे मतिज्ञान का प्रसंग आता है ?

उससे कहते हैं :– यहां मन की अपेक्षा मात्र ही है, कारण–कार्य भाव नहीं हैं। अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम मात्र ही से हुआ है। इसे अपने/पर के मन की अपेक्षा मात्र से मन:पर्यय ऐसा नाम दिया गया है, जैसे किसी ने कहा कि इस बादल में चन्द्रमा को देखो, वहां बादल की अपेक्षा मात्र है, चन्द्रमा बादल से तो हुआ नहीं है, इसी प्रकार यहां जानना।

तथा जिस ज्ञान के लिये तपस्वी मुनि 'केवंते' अर्थात् सेवन करते हैं, उसे केवलज्ञान कहते हैं। यहां 'केवृ सेवने' ऐसी धातु से केवल शब्द उत्पन्न हुआ है। यह ज्ञान असहाय है, इसे बाह्य किसी वस्तु की सहाय की आवश्यकता नहीं है। जैसे मतिश्रुतज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश आदि की सहायता से जानता है, वैसा यहां नहीं है, केवल एक आत्मा से ही प्रवर्तित होता है, अत: केवल कहा जाता है।

अब सूत्र में इसके प्रयोग (कथन) का प्रयोजन बताते हैं :–

केवलज्ञान अन्त में प्राप्त होता है, अत: अन्त में कहा गया है। उसके निकट मन:पर्यय ज्ञान होता है, अत: उसके समीप कहा गया है, क्योंकि ये दोनों ज्ञान संयमी मुनियों को ही होते हैं। उससे दूरवर्ती अवधिज्ञान है, अत: इसे मन:पर्यय के समीप कहा गया है। तथा इन तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों से पहले परोक्ष मति श्रुत ज्ञानों को कहा है, क्योंकि ये सुगम हैं, सभी प्राणियों के बाहुल्यता से पाये जाते हैं। इनकी (इन दोनों ज्ञानों की) पद्धति सुनि जाती है, परिचय की हुई है, अनुभव में आती है। इस प्रकार ये पांच ज्ञान हैं। इनके भेद आगे बतावेंगे। यहां मति मात्र के ग्रहण से स्मरण आदि को भी मतिज्ञान में ही ग्रहण किये जानना।

कुछ वादी कहते हैं कि इन्द्रिय बुद्धि ही एक मतिज्ञान है, उनका निराकरण है। तथा **कुछ** (वादी) अनुमान सहित मति मानते हैं। **कुछ** अनुमान तथा उपमान सहित मानते हैं, **कुछ** अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति सहित तथा अभाव, आगम सहित मति मानते हैं – इन सबका निराकरण है। ये सभी मति में गर्भित हैं, ऐसा जानना।

यहां कोई कहे :– मतिश्रुत ज्ञान तो एक ही हैं, क्योंकि दोनों एक साथ हैं, एक ही आत्मा में बसते हैं, इनमें कुछ विशेष नहीं है।

उससे कहते हैं :– इन तीनों ही हेतुओं से इनमें सर्वथा एकता नहीं है। किसी प्रकार (इनमें एकता) कही जावे तो विरोध नहीं है, क्योंकि साथ रहना आदि कहना तो दो के बिना संभव नहीं हो सकता। तथा विषय के भेद से भी भेद है ही, श्रुतज्ञान का विषय सर्व तत्त्वार्थ को परोक्ष जानना है,

मतिज्ञान का विषय इतना नहीं है । इनके भेदाभेद की चर्चा श्लोकवार्तिक से जानना ।

यहां कोई पूछे :– सम्यग्दर्शन के लक्षण का सूत्र तो अलग से कहा, पर ज्ञान का लक्षण नहीं बताया, इसका क्या कारण है ?

उसका उत्तर :– जहां शब्द की निरुक्ति में व्यभिचार आता हो, वहां अलग लक्षण कहना होता है। दर्शन का प्रधान अर्थ तो देखना होता है, पर दर्शन का अर्थ 'श्रद्धान' करने (बताने)के लिये अलग से लक्षण कहा है । ज्ञान में निरुक्ति से ही अर्थ में व्यभिचार नहीं है, अत: अलग से लक्षण नहीं कहा है, ऐसा आशय है ।

आगे कहते हैं कि पूर्व में जो कहा था कि नय तथा प्रमाण से अधिगम होता है, वहां कई व्यक्ति तो ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, कई सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है, कई इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं । अत: ऊपर कहे जो मतिज्ञान आदि हैं, उनका प्रमाणपना प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं :–

तत्प्रमाणे ।। 1–10 ।।

अर्थ :– 'तत्' अर्थात् ऊपर कहे पांचों ज्ञान दो (प्रत्यक्ष और परोक्ष) प्रमाण रूप हैं । यहां 'तत्' शब्द है वह अन्यवादी जो सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय को प्रमाण होने की कल्पना करते हैं, उनके निषेध के लिये है । 'तत्' अर्थात् जो मति आदि ज्ञान कहे हैं, वे ही प्रमाण हैं, अन्य नहीं हैं ।

यहां **अन्यवादी** पूछता है :– सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय को प्रमाण माना जावे तो दोष क्या है ?

उसे कहते हैं :– यदि सन्निकर्ष को प्रमाण माना जावेगा तो सूक्ष्म, अंतरित, विप्रकृष्ट जो परमाणु, राम, रावण आदि, मेरु पर्वत आदि पदार्थ हैं तो उनको प्रमाण में अग्रहण (प्रमाण न मानने) का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि इन पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता नहीं है । इससे सर्वज्ञ के अभाव का भी प्रसंग आवेगा। इस ही प्रकार इन्द्रियों को प्रमाण माना जावेगा तब भी ये ही दोष आवेगें, क्योंकि नेत्र आदि का विषय तो अल्प है और ज्ञेय अनन्त हैं, तथा सब ही (पदार्थ) इन्द्रियों के सन्निकर्ष भी नहीं हैं । नेत्र और मन को प्राप्यकारी अर्थात् पदाथों को प्राप्त होने का अभाव है । (ये नेत्र और मन) अप्राप्यकारी हैं, इसका वर्णन आगे करेंगे ।

यहां **अन्यवादी** कहता है :– तुमने ज्ञान को प्रमाण कहा, तो इसके फल के अभाव का प्रसंग आवेगा, तथा प्रमाण को फलवाला होना चाहिये ही । हम जो (सन्निकर्ष और इन्द्रियों को प्रमाण) कहते हैं, वहां फल का सद्भाव भली प्रकार बन जाता है, क्योंकि (हमारे मतानुसार) सन्निकर्ष और इन्द्रियां तो प्रमाण हैं, और इनसे अर्थ का ज्ञान होता है, वह प्रमाण से अलग फल होता है, अत: हमारा कथन युक्त है ।

उसको कहते हैं :– आपने कहा जो अयुक्त है, क्योंकि यदि सन्निकर्ष प्रमाण हो, और अर्थ का

ज्ञान फल हो तो प्रमाता और प्रमेय रूप जो अर्थ है, वे दोनों मिल जावें तब सन्निकर्ष होता है । तब इसका फल अर्थात् ज्ञान प्रमाता और प्रमेय जो पदार्थ इन दोनों को होना चाहिये, तब ऐसा होने पर अन्य पदार्थ (प्रमेय) को भी ज्ञान की प्राप्ति होगी (जो घट पट आदि प्रमेय पदार्थों को होती नहीं है)।

तब **वह कहता है :–** अर्थ का ज्ञान तो चेतन अर्थात् आत्मा को होता है , अन्य जड़ को कैसे होगा ?

उसको कहते हैं :– आप आत्मा को ज्ञानस्वभाव वाला तो मानते नहीं हैं, तथा समवाय से चेतन मानते हैं, इस प्रकार तो आत्मा भी चेतन के बिना जड़ ही ठहरेगा। तथा यदि (आत्मा को) ज्ञानस्वभाव मानेंगे तो आपकी प्रतिज्ञा की हानि होगी । अत: हम कहते हैं वही युक्त है । ज्ञान को प्रमाण कहने पर फल का अभाव है, ऐसा दोष नहीं बनता । तथा कथंचित भेंदाभेद रूप इसका फल भी है । प्रथम तो अर्थ का यथार्थ ज्ञान होने पर उस अर्थ में प्रीति उत्पन्न होती है । कर्म से मैले इस आत्मा को इन्द्रियों के आलम्बन से अर्थ का ज्ञान होता है, वहां यह प्रीति उस प्रमाण का फल है । तथा यथार्थ ज्ञान हो तब राग–द्वेष का अभाव हो तब माध्यस्थ भाव हो, यह दूसरा फल है । तथा पहले अर्थ का अज्ञान (ज्ञान नहीं) था , उसका नाश हुआ, यह तीसरा फल है । इस प्रकार हमारे (मत में) प्रमाण फल रहित नहीं है ।

अब इस प्रमाण शब्द का अर्थ बताते हैं – 'प्रमीयते अनेन' अर्थात् जिससे वस्तु का प्रमाण किया जावे, इस प्रकार तो यह करणसाधन हुआ । तथा 'प्रमिणोति' अर्थात् जो वस्तु को प्रमाण करने वाला है वह प्रमाण है, इस प्रकार कर्तृसाधन हुआ। एवं 'प्रमितिमात्रं अर्थात् वस्तु के प्रमाण करना, यह भावसाधन हुआ । इसे क्रियासाधन भी कहा जाता है ।

यहां कोई पूछता है :– इस प्रमाण से किसका प्रमाण किया जावेगा ?

उसको कहते हैं :– जीवादि पदार्थों का प्रमाण किया जाता है ।

वह पुन: पूछता है :– जीवादि का अधिगम तो प्रमाण से करें, तब प्रमाण का अधिगम कैसे करें ? यदि अन्य प्रमाण की कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ।

उसे कहते हैं :– अनवस्था दोष नहीं आता है, क्योंकि जैसे घट आदि का प्रकाशन करने में दीपक कारण होता है, वैसे ही दीपक अपने स्वरूप का प्रकाशन करने में भी वही दीपक कारण होता है, अन्य प्रकाशक को नहीं ढूंढा जाता । उसी प्रकार प्रमाण को भी स्वपरप्रकाशक अवश्य मानना चाहिये । प्रमेय की ही भांति यदि प्रमाण के लिये अन्य प्रमाण की कल्पना करनी पडे तो प्रमाण के स्वरूप को जानने का अभाव होगा, तब स्मरण का भी अभाव होगा, और यदि स्मरण का अभाव माना जावेगा तो व्यवहार का लोप होगा । अत: प्रमाण को स्वपरप्रकाशक मानना ही उचित है ।

यहां 'प्रमाणे' शब्द प्रथमाविभक्ति का द्विवचन कहा है, वह एक, तीन आदि (दो से भिन्न) प्रमाण की संख्यायें अन्यवादी मानते हैं, उनका निषेध करने के लिये कहा है, तथा आगे दो संख्या का सूत्र भी कहेंगे, यह बताने के लिये कहा है । अन्यवादी चार्वाक तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं । नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान – इस तरह चार प्रमाण मानते हैं । मींमांसक इन चार के साथ अर्थापत्ति और अभाव – इस प्रकार छह प्रमाण मानते है । अत: दो (प्रत्यक्ष और परोक्ष) संख्या कहने से सब प्रमाण इन दो में ही गर्भित हो जाते हैं । इस प्रकार ये पांच ज्ञान प्रमाण हैं । यहां प्रकरण 'सम्यक्' का होने से ये सम्यग्ज्ञान हैं, मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं है ।

प्रश्न :– ऐसा कहा है 'यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता' अर्थात् जहाँ जिस प्रकार विसंवाद न आवे, वहाँ उस प्रकार प्रमाणता है । तब किसी का विपर्यय ज्ञान है, वहाँ उसके बाधा, विसंवाद नहीं आता, अत; वह प्रमाण ठहरा । तथा किसी को कालान्तर में बाधा आवे, किसी को क्षेत्रान्तर में बाधा आवे, तथा किसी को कभी भी बाधा न आवे। तथा विशेष ज्ञानियों को ज्ञान में बाधा दिखाई देती है । वहाँ जब तक बाधा न आवे तब तक प्रमाण ठहरेगा । पर सम्यग्ज्ञान तो ऐसा होना चाहिये कि संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरहित हो और सर्वकाल, सर्वक्षेत्र, सर्व प्राणियों में समान हो । किसी भी प्रकार से बाधा नहीं आवे सो जहां जैसे अविसंवाद हो तभी प्रमाणता है यह वचन कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर :– सर्वथा निर्बाध तो केवलज्ञान है । मति, श्रुतज्ञान हैं, वे तो अपने विषय में भी एकदेश प्रमाण हैं। तथा अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान हैं, वे अपने विषय में पूर्णरूप से प्रमाण हैं, अन्य विषयों में प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि चारों ही क्षयोपशमिक ज्ञान प्रमाण हैं भी और अप्रमाण भी हैं । अत: जिस विषय में निर्बाध साधन हो वहां तो प्रमाण हैं, और जहां बाधा उपस्थित होती हो, वहां अप्रमाण हैं । यदि ऐसा न हो तो केवलज्ञान ही (अकेला) प्रमाण ठहरेगा और अन्य ज्ञान अप्रमाण ठहरे, इसप्रकार तो व्यवहार का लोप होगा । अत: एक ही ज्ञान प्रमाण भी है, अप्रमाण भी है । जैसे किसी पुरुष के नेत्रों में विकार था, उसे एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दिखाई दिये, वहां निर्विकार नेत्र वालों की अपेक्षा तो चन्द्रमा की दो संख्या तो बाधा सहित है, तथा चन्द्रमा का सामान्यपना निर्बाध है । तथा निर्विकार नेत्र वाले को चन्द्रमा तो एक ही दिखता है, परन्तु निकट ही दिखता है, उगता चन्द्रमा जमीन से लगता दिखता है । तहां चन्द्रमा की ऊंचाई योजनों की अपेक्षा तो सबाध है, तथा शास्त्र में ग्रहण के काल का निश्चय किया है वह निर्बाध है । परन्तु ग्रहण दो अंगुल, चार अंगुल होगा यह कहना निर्बाध नहीं है, क्योंकि यह विमान (चन्द्रमा) कितना चौड़ा है, उसमें से कितना आच्छादित हुआ ? यह तो प्रत्यक्षज्ञानी ही जाने, इस अपेक्षा बाधा सहित है। इसी प्रकार मति श्रुतज्ञान भी अपने विषयों में भी

प्रमाणाप्रमाण स्वरूप है । अन्य भी उदाहरण – जैसे पर्वत तथा वृक्षों के समूह रूप वन इत्यादि दूर से तो अन्य प्रकार दिखते हैं, पर निकट आने पर अन्य ही प्रकार दिखते हैं, इस प्रकार जानना ।

शंका – यदि ऐसा है तो इसका यह ज्ञान प्रमाण है, इसका यह ज्ञान अप्रमाण है, ऐसा स्पष्ट कैसे कहा जा सकेगा? एवं नियम (स्पष्ट) किये बिना व्यवहार कैसे प्रवर्तेगा ?

समाधान – व्यवहार मुख्य गौण की अपेक्षा से प्रवर्तता है । जैसे किसी वस्तु में सुगन्ध देखकर कोई कहे यह सुगन्धित द्रव्य है, वहां उस द्रव्य में स्पर्श आदि भी पाये जाते हैं, परन्तु उनकी मुख्यता नहीं की गयी । अत: जिनके मत में एकान्त रूप से ज्ञान प्रमाण और अप्रमाण इन दोनों स्वरूप नहीं है, उनके मत में छद्मस्थ के ज्ञान में प्रमाणिकता नहीं ठहरेगी । तब उनका अपना मत भी सिद्ध नहीं होगा ।

तथा **अन्यवादी** ज्ञान ही को प्रमाण मान कर उसके स्वरूप और लक्षण को एकान्त से अन्य प्रकार बताते हैं, वह भी सबाध है । वहां **बौद्धमती** कहता है – 'अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणं ' अर्थात् जिसमें विसंवाद न हो, वह ज्ञान प्रमाण है । **उससे पूछते हैं** – यदि कहोगे कि प्रमाता की इच्छा जहां पूरी हो जावे वहां अविसंवाद है, तो स्वप्न आदि का ज्ञान भी प्रमाण टहरेगा, क्योंकि वहां वांछा पूरी हो जाती है । यदि कहोगे कि जहां वस्तु के अर्थक्रिया ठहरे, वहां अविसंवाद है, तो गीत आदि शब्द का ज्ञान तथा चित्र आदि के ज्ञान के प्रमाणता ठहरेगी । वहां केवल स्वरूप मात्र का ज्ञान है, अर्थक्रिया नहीं है । इस प्रकार बौद्ध मत में माना गया अविसंवाद लक्षण बाधा सहित है । तथा अन्य भी मतों में एकान्त से प्रमाण के लक्षण और विशेषण अलग-अलग बताये गये हैं, वे युक्तिशास्त्र से बाधा सहित हैं, उन्हें श्लोकवार्तिक से जानना । जैनमत मत में 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं' ऐसा लक्षण परीक्षामुख ग्रन्थ में बताया है, अन्य ग्रन्थों में पाठान्तर (से यही) कहा है, वह ही निर्बाध है ।

तथा प्रमाण का प्रमाणपना कैसे हो ? वहां कई सर्वथा एकान्तवादी तो उस प्रमाण से ही प्रमाणपने का निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं । कोई अन्य से प्रमाणता होती है, ऐसा कहते हैं, ये सब बाधा सहित हैं । स्याद्वाद में अभ्यास दशा में तो प्रमाण का निश्चय प्रमाण से ही होता है, और बिना अभ्यास दशा में पर से निश्चय होता है, यह निर्बाध सिद्ध किया है । कोई कहते हैं कि प्रमाणपना प्रवृति सामर्थ्य से निश्चित होता है । वहां प्रमाण से प्रतीति में आया जो पदार्थ उसके निकट होने पर उसके फल की प्राप्ति हो तब समझा जा सकता है कि यह प्रमाण है । यह प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाणता हुई, परन्तु यहां अनवस्था दूषण होता है, क्योंकि प्रवृत्ति सामर्थ्य के समान जातीय ज्ञान की प्रमाणता अन्य प्रवृत्ति सामर्थ्य से होगी तब अनवस्था दोष आवेगा ही। एवं प्रवृत्ति है वह तो परीक्षावान है, उनको तो प्रमाण का निश्चय हो तब होती है, तथा लौकिक जनों के निश्चय के बिना भी प्रवृत्ति होती है । तथा परीक्षावान भी कई पदार्थों में अपरीक्षावान होता है, क्योंकि सभी पदार्थों की परीक्षा तो सर्वज्ञ के होती

है, अन्य तो किसी प्रकार परीक्षक है, किसी प्रकार अपरीक्षक है । इस प्रकार परीक्षक है वही अपरीक्षक भी है, ऐसा जानना।

यहां कोई पूछे – अन्यवादी जो प्रमाणों की संख्यायें कहते हैं, उनका निराकरण कैसे हुआ ?

उसको कहते हैं – अन्यवादी चार्वक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, उसके पर (अन्य) के चित्त की प्रवृत्ति की सिद्धि अनुमान के बिना कैसे होगी ? इसके लिये यदि अनुमान को माना जावेगा, तो एक ही प्रमाण मानना कैसे सिद्ध होगा ? तथा बौद्धमती प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं , उनके साध्य साधन की व्याप्ति सिद्धि करने के लिये स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये तीन प्रमाण आवश्यक होगें, तब दो ही प्रमाण कैसे रहेंगे ? व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष–अनुमान से नहीं होगा, तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये प्रत्यक्ष, अनुमान में गर्भित नहीं हो सकते । तथा श्रुत अर्थात् आगम प्रमाण है, जो आप्त के शब्द के श्रवण से होता है, यह भी प्रत्यक्ष, अनुमान में गर्भित नहीं हो सकता, तब तीन प्रमाण होंगे । तथा जो शब्द तथा उपमान सहित चार प्रमाण मानते हैं अथवा अर्थापत्ति सहित पांच अथवा अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं, उनके भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये उनमें गर्भित नहीं हो सकेंगे, तब संख्या बढ जावेगी । तब उनकी कही संख्याओं का नियम कैसे रह सकेगा? इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष इस तरह दो संख्या में (प्रमाणों) सब भेद गर्भित हो जाते है । इसलिये यह नियम निर्बाध है ।

आगे कहते हैं कि पांच प्रकार के ज्ञानों को दो प्रमाणों में गर्भित किया, तथा अन्य प्रकार से भी दो की संख्या (प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को बौद्धों द्वारा प्रमाण माना गया होने) से भी प्राप्त होती है, अत: उसकी निवृत्ति के लिये सूत्र कहते हैं :–

।। आद्ये परोक्षम् ।। 1–11 ।।

अर्थ :– पांच ज्ञानों में से आद्य अर्थात शुरु के दो यानि मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं । आदि शब्द का अर्थ प्रथम होता है, अत: जो आदि में हो उसे आद्य कहते हैं ।

यहां **प्रश्न** – 'आद्ये' यह द्विवचन है, अत: मति श्रुत दो लेने होंगे । पर आदि तो एक ही होता है, दूसरे श्रुत ज्ञान को आदि कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर :– मुख्य और उपचार की कल्पना से दोनों को आद्यपना कहा है । यहां मतिज्ञान तो मुख्य रूप से आदि है ही और श्रुतज्ञान है वह उसके समीप है, अत: उपचार से प्रथम कहा गया है । सूत्र में द्विवचन है, उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण हुआ । इसका समास इसप्रकार होता है – 'आद्यं च आद्यं च आद्ये मतिश्रुते' ऐसा जानना । इसप्रकार ये दोनों ही परोक्ष प्रमाण हैं, ऐसा सम्बन्ध करना (समझना) ।

यहां कोई पूछे :– इन दो (ज्ञानों) को परोक्ष प्रमाणपना क्यों है ?

उत्तर :– ये दोनों ज्ञान ही पर की अपेक्षा लिये हुये हैं। मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मन से होता है। श्रुतज्ञान मन से होता है, यह आगे सूत्र द्वारा कहेंगे। यह पर अर्थात् इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश, उपदेश आदि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा अर्थात् सहायता लेकर मतिश्रुतज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम सहित आत्मा में (प्रकट होते) उपजते हैं, अत; इन्हें परोक्ष कहा गया है। उपमान आदि प्रमाण भी इस ही प्रकार उत्पन्न होते हैं, वे भी इस ही में गर्भित हो जाते हैं। अथवा परोक्ष शब्द का ऐसा भी अर्थ है – जो अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से दूरवर्ती हो, उसे परोक्ष कहते हैं, ऐसा तो श्रुत ज्ञान है। तथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान भी इन्द्रियों से दूरवर्ती हैं, अत: ये मतिज्ञान में गर्भित हैं, इसलिये यह भी परोक्ष ही हैं। तथा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा जो मतिज्ञान के भेद हैं, वे इन्द्रियों से भिड़कर होते हैं, तो भी वे अक्ष अर्थात् आत्मा से दूरवर्ती हैं। अत: इन्हें व्यवहार में तो प्रत्यक्ष कहा है, परन्तु परमार्थ से परोक्ष ही हैं।

कोई ऐसा कहते हैं कि परोक्ष ज्ञान तो अस्पष्ट जानता है, जो पदार्थ के अवलम्बन रहित है, अत: मनोराज्य आदि की तरह निरर्थक है। ऐसा कहने वाले बिना समझे कथन करते हैं, क्योंकि अर्थ का अवलम्बन तो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में ही है, परन्तु स्पष्टता, अस्पष्टता का कारण नहीं है। प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद तो इस प्रकार हैं – जहां अन्य का अन्तर नहीं पड़े और अन्य की सहायता के बिना विशेषों सहित पदार्थों को जाने वह तो स्पष्ट है, तथा बीच में अन्तर पड़े तथा सहायता की आवश्यकता हो तथा पदार्थों को विशेषों सहित न जाने, यह अस्पष्ट कहा जाता है। मनोराज्यादि के समान तो उसे कहा जाता है, जिसका साक्षात् तथा परंपरा कुछ विषय ही न हो, ऐसा जानना।

आगे इन परोक्ष ज्ञानों के आश्रय जो तीन ज्ञान हैं, उन्हें प्रत्यक्ष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। प्रत्यक्षमन्यत् ।।1–12 ।।

अर्थ :– अन्यत् अर्थात् शेष –पांच ज्ञानों में से (उपरोक्त दो को छोडकर) तीन ज्ञान हैं, वे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'अक्ष्णोति' अर्थात् जाने वह अक्ष अर्थात् आत्मा को ही आश्रय करके उत्पन्न हो, अन्य की सहायता की आवश्यकता न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। आत्मा कैसा है ? जिसने कर्म का क्षयोपशम पाया है, अथवा जिसके कर्म का आवरण क्षीण हुआ है, ऐसे आत्मा के जो हो। ऐसे तो अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान हैं।

कोई कहता है :– ऐसे तो अवधिदर्शन, केवलदर्शन भी हैं, आत्मा के ही आश्रय से उत्पन्न होते हैं, वे भी प्रमाण ठहरेंगे।

उससे कहते हैं :– यह दोष नहीं आता है। यहां इस सूत्र में ज्ञान ही का अधिकार (प्रकरण चल रहा) है, अत: ज्ञान ही समझना, दर्शन नहीं।

पुनः कोई कहे :– विभंगज्ञान भी तो ज्ञान है, उसका प्रसंग आवेगा, क्योंकि यह भी आत्मा ही के आश्रय से उत्पन्न होता है।

उससे कहते हैं :– यहां प्रकरण सम्यक् का है, अतः विभंगज्ञान का ग्रहण नहीं करना, वह विपर्ययरूप है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदयवश पदार्थ को विपरीत ग्रहण करता है, अतः वह सम्यक् नहीं है।

यहां **वैशेषिक मत** का आश्रय लेकर **प्रश्न है** – इन्द्रिय व्यापार से हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय व्यापार के बिना हो उसे परोक्ष कहते हैं, तथा ये लक्षण यथार्थ बाधा रहित हैं, ऐसा मानना चाहिये।

उत्तर :– यह कहना अयुक्त है। यदि ऐसा हो तो आप्त सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव होगा। यदि इन्द्रियज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना जावे तो आप्त को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा, और यदि आप्त को भी इन्द्रिय पूर्वक ज्ञान होना कल्पित किया जावेगा, तो उसके सर्वज्ञपने का अभाव होगा। यदि कहोगे कि सर्वज्ञ के मन से हुआ होने से प्रत्यक्ष है, तो मन के चिंतवन पूर्वक के भी सर्वज्ञपने का तो अभाव ही ठहरेगा। यदि कहोगे कि उसके (सर्वज्ञ के) सर्व पदार्थों के ज्ञान की आगम से सिद्धि है, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि आगम तो प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक हो वही प्रमाण है।

तथा **बौद्धमती** कहता है – योगीश्वरों का अलौकिक दिव्यज्ञान और ही जाति का है। यदि ऐसा कहा जावेगा तो उसके प्रत्यक्ष प्रमाण तो कहा नहीं जा सकेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तो इन्द्रियों के द्वारा वर्ते उसे प्रत्यक्ष कहा जावेगा। तब ऐसा मानने पर दिव्यज्ञान कहने से भी प्रत्यक्षपना तो बन नहीं सकेगा। तथा अन्य भी दोष आवेंगे अर्थात् सर्वज्ञ का तो अभाव होगा और प्रतिज्ञा की हानि होगी। वह ही बताते हैं – योगीश्वरों का ज्ञान है, वह एक-एक पदार्थ को क्रम से ग्रहण करता है, या अनेक पदार्थों का (एक साथ) ग्रहण करने वाला है ? यदि एक-एक पदार्थ को क्रम से ग्रहण करता है तो सर्वज्ञपना नहीं हुआ, क्योंकि ज्ञेय तो अनन्त हैं, सबको एक काल में जाने तब सर्वज्ञ हो। एवं यदि अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है तो बौद्धमती ने तो प्रतिज्ञा की थी, उसकी हानि का प्रसंग आवेगा। वह प्रतिज्ञा क्या है ? एक विज्ञान तो दो पदार्थों को नहीं जानता है और दो विज्ञान एक पदार्थ को नहीं जानते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा है उसकी हानि होती है। अथवा सर्व संस्कार हैं वे क्षणिक हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करते (सिद्धान्त मानते) हैं उसकी भी हानि होती है, क्योंकि एक विज्ञान को अनेक क्षणवर्ती माना गया है। अनेक पदार्थों का ग्रहण तो क्रम से होता है। पुनः वे (बौद्धमती) कहते हैं कि अनेक पदार्थों का ग्रहण एक क्षणवर्ती विज्ञान के एक ही काल में होता है, तो यह बनता नहीं है, क्योंकि जिस क्षण में ज्ञान उत्पन्न हुआ, उस क्षण उस ज्ञान को स्वरूप लाभ ही होगा, तथा जिस क्षण (में ज्ञान) स्वयं हुआ,

उसके बाद ही अपना जो पदार्थों को जानने का कार्य है, उसके प्रति व्यापार करेगा, उत्पन्न होने के क्षण तो जानेगा नहीं। पुन: वे कहते हैं – दीपक के समान जिस समय यह प्रज्वलित हुआ, उसी समय पदार्थों का प्रकाशन किया। तो यह दृष्टान्त मिलता नहीं, क्योंकि दीपक तो अनेक क्षणवर्ती है। उससे (उसके अनेक क्षणों तक रहने पर ही) पदार्थों का प्रकाशन होता (होना स्वीकार किया गया) है। तथा योगी के ज्ञान को विकल्पों और भेदों से रहित माना जावेगा, तो शून्यता का प्रसंग आवेगा, क्योंकि सर्व पदार्थों को भिन्न-भिन्न जाने बिना तो यह ज्ञान शून्य ही होगा।

तथा आचार्य अकलंकदेव ने तो प्रत्यक्ष के तीन विशेषण कहे हैं – (1) स्पष्ट (2) साकार (3) अंजसा। **स्पष्ट** का अर्थ तो यह है – बीच में अन्य की प्रतीति का व्यवधान न हो तथा वस्तु का विशेषों सहित जाने। तब द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता की जावे तब तो मति श्रुतज्ञान अस्पष्ट ही हैं, क्योंकि द्रव्य को समस्त रूप से नहीं जानते हैं। इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि की सहायता से किंचित् जानते हैं। तथा पर्यायार्थिक नय की प्रधानता की जावे तब मतिज्ञान व्यवहार के आश्रय से किंचित् स्पष्ट भी जानता है।

तथा **साकार** कहने से निराकार दर्शन का निषेध है। **अंजसा** कहने से विभंगज्ञान तथा इन्द्रिय, मन से अन्यथा ज्ञान होता है, उसका निषेध है। ऐसा कहने से सूत्र से भी विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष कहने से तो आत्माधीन है, इन्द्रियाधीन नहीं है। तथा ज्ञान की अनुवृत्ति से दर्शन का निषेध है। तथा सम्यक् का प्रकरण होने से कुज्ञान का निषेध हो जाता है, ऐसा जानना।

यहां कोई **प्रश्न** करता है – सकलप्रत्यक्ष जो केवलज्ञान है, वह योगीश्वरों को है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर– भले प्रकार निर्णय किये गये बाधक प्रमाण के अभाव से जाना जाता है कि योगीश्वरों को केवलज्ञान है, क्योंकि जो समस्त आवरण के अभाव से उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान है। जिसके कोई आवरण न हो वही ज्ञान समस्त वस्तुओं को इन्द्रियों की सहायता के बिना एक काल में जान सकता है। उसका बाधक अल्पज्ञान है नहीं, क्योंकि ज्ञान का साधक एवं बाधक वही ज्ञान होता है, अन्य ज्ञान का बाधक अन्य ज्ञान होता नहीं, यह न्याय है।

तथा बौद्धमती प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण निर्विकल्प, सत्यार्थ होना कहते हैं। जो सर्वथा निर्विकल्प हो वह तो सत्यार्थ होता नहीं। विपर्यय ज्ञान भी निर्विकल्प है, निर्विकल्पता से तो अर्थ (वस्तु) का निश्चय ही नहीं होता है, तब सत्यार्थ कैसे हो ?

एवं नैयायिकमती इन्द्रियों और मन के तथा आत्मा के पदार्थ से सन्निकर्ष हो, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। पर यह भी अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर को इन्द्रिय और मन से ज्ञान हो तो सर्वज्ञपना नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रियों का सर्व पदार्थों से सम्बन्ध नहीं है। अत: प्रत्यक्ष का जो सूत्र कहा है वह ही निराबाध है।

आगे ऊपर कहे जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के प्रमाण हैं, उनमें से परोक्ष के विशेषों की प्राप्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम् ।। 1–13 ।।

अर्थः– मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन पांच का अर्थान्तर अर्थात् अन्य अर्थ नहीं है। ये मतिज्ञान के ही नाम हैं। शुरु में जो मति कहा है, उसके ही इतने पर्याय शब्द हैं अर्थात् नामान्तर हैं, क्योंकि ये सब ही मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुये उपयोग से सम्बन्धित हैं। इनकी प्रवृति श्रुतज्ञान में नहीं है। 'मननं' अर्थात् मानना, इन्द्रिय और मन से अवग्रह आदि रूप साक्षात् (सामव्यवहारिक प्रत्यक्ष – वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं) जानना, उसे तो मति कहते हैं। स्मृति अर्थात् स्मरण, जानने के बाद याद आना उसे स्मृति/स्मरण कहते हैं। संज्ञा अर्थात् संज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) जाने हुये को स्मरण करके वर्तमान में जानी हुई वस्तु से उसको जोडकर जानना वह संज्ञान कहा जाता है। इसे प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। चिंता अर्थात् चिन्तन – यह चिन्ह है, तब इसका कोई चिन्ही (जिसका यह चिन्ह है) भी है, इत्यादि ऐसा चिन्तन करना, उसे चिंता कहते हैं। इसे तर्क भी कहते हैं। अभिनिबोध अर्थात् लिंगादि को सम्मुख देखकर लिंगी आदि का निश्चय करना अभिनिबोध कहा जाता है। इसे स्वार्थानुमान भी कहते हैं। यह इन शब्दों का भावसाधन रूप अर्थ कहा है। तथा करणसाधन, कर्तृसाधन रूप अर्थ भी यथा संभव जान लेना। इनका नामभेद से अर्थभेद होते हुये भी रूढि के बल से इन्हें मतिज्ञान का नामान्तर ही समझना। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरंदर इस तरह नामभेद होने पर अर्थभेद होते हुये भी समभिरूढ नय की अपेक्षा ये सब इन्द्र के ही नाम हैं (इस ही तरह ऊपर समझना)। तथा यदि इनका अन्य अन्य अर्थ किया जावे तब मति आदि अन्य अन्य होते ही हैं, फिर भी मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उपयोग इनका उल्लंघन करके नहीं वर्तता है। यहां ऐसा अर्थ है। तथा सूत्र में इति शब्द प्रकारवाची है, इस मति के इतने पर्याय शब्द हैं, ऐसा यहां इति का अर्थ समझना। अथवा मति शब्द अभिधेयवाची है (जिस के अनुसार यह अर्थ होता है) कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन सब शब्दों के द्वारा जो अर्थ (वाच्य) कहा जाता है, वह एक ही मतिज्ञान है।

यहां **विशेष कथन** करते हैं :– सूत्र में इति शब्द प्रकारवाची है। बुद्धि तो मति का प्रकार जानना, क्योंकि पदार्थ के ग्रहण के शक्ति स्वरूप को बुद्धि कहते हैं। तथा मेधा स्मृति का प्रकार है, क्योंकि शब्द के स्मरण की शक्ति को मेधा कहते हैं। तथा प्रज्ञा चिंता का प्रकार है, क्योंकि वितर्कपने के निषेध स्वरूप है। तथा प्रतिभा, उपमा ये संज्ञा के प्रकार हैं, क्योंकि यह सामान्य पदार्थ को सादृश्य दिखाने रूप हैं। तथा संभव, अर्थापत्ति, अभाव ये स्वार्थानुमान के प्रकार हैं, क्योंकि ये सब लिंग ही से जाने जाते हैं।

यहां कोई **प्रश्न** करे – स्मृति तो अप्रमाण है, यह प्रमाण में कैसे अन्तर्भूत की जा सकती है ?

उसको कहते हैं – यदि स्मृति अप्रमाण है तो प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा, तब व्याप्ति का ग्रहण भी नहीं होगा। तब अनुमान किसका होगा ? और यदि अनुमान नहीं होगा तो प्रत्यक्ष के भी प्रमाणिकता नहीं ठहरेगी। तब सर्वशून्यता का प्रसंग उपस्थित होगा। अत: स्मृति को प्रमाण मानने पर ही सब अन्य प्रमाण सिद्ध होते हैं।

तथा स्मृति की ही तरह अपने विषय में प्रत्यभिज्ञान भी बाधा रहित है। अतीत वस्तु का स्मरण अर्थात् याद रखना ही इसका (प्रत्यभिज्ञान का) कारण है। अतीत (में देखी वस्तु) का स्मरण करके वर्तमान में उस ही वस्तु को देखकर अतीत वर्तमान की एकता जोड़रूप को जानना, तथा अतीत जैसी वस्तु को देखकर दोनों में समानता को जानना प्रत्यभिज्ञान है, यह सत्यार्थ है। जैसे मैं बालक था, वही अब युवा हूँ, वृद्ध हूँ इत्यादि। तथा पहले घट देखा था, वैसा ही यह दूसरा घट है, इत्यादि। इसके बहुत भेद हैं, उन्हें प्रमाण शास्त्रों से जानना।

तथा साध्यसाधन के अविनाभाव रूप व्याप्ति को जानना, तर्क है। यह भी प्रमाण है। यदि यह अप्रमाण हो तो अनुमान भी प्रमाण नहीं ठहरेगा। तथा यह अनुमान आदि में गर्भित होता नहीं, अत: भिन्न ही प्रमाता जानना। इसका उदाहरण – जैसे धूम अग्नि का सम्बन्ध देखकर ऐसा निश्चय किया कि जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि अवश्य है। ऐसा निश्चय करने को ही तर्क कहते हैं, जो सत्यार्थ है, अत: प्रमाण है। यदि यह ज्ञान अप्रमाण हो तो अनुमान प्रमाण कैसे होगा ? तथा साधन अर्थात् लिंग – चिन्ह से साध्य अर्थात् जानने योग्य वस्तु लिंगी – चिन्हवान का निश्चय करना स्वार्थानुमान है। तथा साधन उसको कहते हैं कि जहां (उसकी) साध्य वस्तु न हो, यहां उसकी भी प्राप्ति न हो और जहां साधन हो वहां साध्य भी हो ही हो।

तथा साध्य के तीन विशेषण हैं – शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध। जो साधने की योग्यता सहित हो वह ही साध्य। जिसमें योग्यता नहीं है, वह साध्य नहीं है, जैसे आकाशकुसुम। तथा जिसे साधनेवाला पुरुष अभिप्राय में ले, वह ही साध्य। उसके अतिरिक्त जगत में अनेक वस्तु हैं, वे उसके साध्य नहीं हैं। तथा जो पहले सिद्ध न हुआ हो, वह साध्य, सिद्ध हो जाने के बाद साधन अफल है। इस प्रकार साध्य के सम्मुख पूर्वोक्त साधन से नियम रूप ज्ञान होता है, अत: इसे अभिनिबोध भी कहते हैं।

यहां कोई कहे – शास्त्र में मतिज्ञान सामान्य का नाम अभिनिबोध कहा गया है, आप स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कैसे कहते हैं ?

उत्तर– सामान्यार्थ की विशेष में प्रवृत्ति होने पर विरोध नहीं होता। यदि अवग्रह आदि अनेक भेद रूप मतिज्ञान कहा जाता है, तब सामान्य को अभिनिबोध कहते हैं। तथा जब विशेष का कथन किया जा रहा हो तब स्वार्थानुमान को भी (अभिनिबोध) कहते हैं।

तहां संक्षेप में साधन के दो भेद हैं – (1) उपलब्धि (2) अनुपलब्धि। इन्द्रियों और मन से वस्तु के सद्भाव का ग्रहण हो, उसे तो उपलब्धि कहते हैं, तथा अभाव का ग्रहण हो उसे अनुपलब्धि कहते हैं। वहां कार्योपलब्धि जैसे, इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि अग्नि का कार्य धूम दिखता है। तथा करणोपलब्धि जैसे – वर्षा होगी, क्योंकि उसके कारण रूप सघन बादल दिखाई दे रहे हैं। स्वभावोपलब्धि जैसे – उत्पाद-व्यय-धौव्य स्वरूप वस्तु है, क्योंकि सत्तास्वरूप है, सत्त्व का स्वभाव ऐसा ही है। इस प्रकार ये तीन भेद हुये। साधन के अनेक भेद हैं, जिन्हें श्लोकवार्तिक से जानना। तथा अन्यवादी अर्थापत्ति आदि प्रमाण अलग से मानते हैं, वे सब भी मतिज्ञान में अन्तर्भूत हो जाते हैं, ऐसा जानना।

आगे इस मतिज्ञान को स्वरूपलाभ में निमित्त क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।। 1–14 ।।

अर्थ :– 'तत्' अर्थात् उस मतिज्ञान में इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) निमित्त अर्थात् कारण होते हैं। प्रथम तो इन्द्रिय शब्द का अर्थ बताते हैं – 'इन्दति' अर्थात् परम ऐश्वर्यरूप वर्ते वह इन्द्र है। इस अर्थ से आत्मा को इन्द्र कहा। ऐसे ज्ञान स्वभावी आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के होने पर स्वयं स्वयं ही से पदार्थों को जानने में असमर्थ होता है। उसके पदार्थ को जानने का कारण – चिन्ह हो उसे इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि व्याकरण में 'तस्य लिंगम्' इस अर्थ में इन्द्र शब्द के प्रत्यय आया है। अथवा ऐसा भी अर्थ है कि जो गूढ अर्थ का ज्ञान करावे, उसे लिंग कहते हैं। यह आत्मा गूढ है, अदृष्ट है। इसके अस्तित्व का ज्ञान कराने वाले चिन्ह हैं, अत: आत्मा का लिंग इन्द्रिय है। जैसे लोक में अग्नि का लिंग (चिन्ह) धूम है, वैसे ही जानना। इस प्रकार ये स्पर्शन आदि इन्द्रियां हैं, वे करण हैं, जो कर्ता आत्मा के बिना नहीं हो सकते, अत: ये ज्ञाता अर्थात् आत्मा का अस्तित्व बताते हैं। अथवा इन्द्र जो नामकर्म उसके द्वारा रचे गये, बनाये गये है, इसलिये भी इन्द्रिय नाम से कहे जाते हैं। इन स्पर्शन आदि का कथन आगे करेंगे।

तथा मन को अनिन्द्रिय कहा जाता है, इसे अन्त:करण भी कहते हैं।

यहां **कोई पूछता है :–** इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिंग मन है, उसका नाम इन्द्रिय का प्रतिषेध परक 'अनिन्द्रिय' कैसे कहा गया है ?

उत्तर :– यहां यह इन्द्रिय का प्रतिषेध करने वाला नहीं है। 'न इन्द्रियं अनिन्द्रियं' ऐसा कहने में 'अ' का अर्थ ईषत् करना चाहिये। किंचित् इन्द्रिय को अनिन्द्रिय कहा गया है। जैसे किसी कन्या को अनुदरा नाम से कहा। यहां जिसके उदर न हो उसको अनुदरा कहना ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये (क्योंकि बिना उदर वाली तो कोई कन्या होती ही नहीं) अत: जिसका उदर ईषत् अर्थात् कुछ पतला

क्षीण हो उसको अनुदरा कहा गया है, ऐसा अर्थ करना चाहिये ।

पुनः **कोई पूछे :–** यहां 'ईषत्' अर्थ कैसे किया ?

उत्तर :– ये जो इन्द्रियां हैं, वे प्रतिनियत अर्थात् जिनके देश और विषय नियम रूप से भिन्न भिन्न हैं, ऐसी हैं, और कालान्तर स्थाई हैं अर्थात् जिस काल में अपने विषय में उपयुक्त न हों, उस काल में भी अवस्थित रहती हैं । तथा मन है यह यद्यपि इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिंग है, तथापि नियम से एक ही देश में तथा एक ही विषय का ग्राहक नहीं है । अन्य काल (कालान्तर) में अनवस्थित है, चंचल है । इस ही लिये इसको अन्त:करण अर्थात् अभ्यन्तर इन्द्रिय कहा है, क्योंकि गुणदोष के विचार, स्मरण में इसको इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है । तथा इसे नेत्र आदि की तरह बाहर से अन्य मनुष्य आदि के द्वारा नहीं जाना जाता, इस ही लिये इसे अन्तर्गत (अभ्यन्तर) इन्द्रिय कहा गया है । इस प्रकार इसमें ईषत् अर्थ संभव है ।

यहां **कोई पूछे :–** सूत्र में 'तत्' शब्द किस प्रयोजन से कहा है ?

उत्तर :– 'तत्' शब्द मतिज्ञान को बताने के लिये कहा है ।

पुनः **वह कहता है :–** मतिज्ञान तो अनन्तर ही है, इससे लगता हुआ ही है । तथा ऐसी परिभाषा है कि अनन्तर ही विधि का सूत्र होता है या निषेध का सूत्र होता है । अत: 'तत्' शब्द के बिना ही यहां मतिज्ञान का ग्रहण हो जाता है, 'तत्' शब्द निरर्थक है ।

उत्तर :– यहां 'तत्' शब्द है यह इस सूत्र के लिये भी है और अगले सूत्र के लिये भी है । यह (सूत्र) मतिज्ञान के पर्याय शब्दों के लिये भी कहने में आया है, अर्थात् (इन पर्यायवाची शब्दों वाला) मतिज्ञान इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तक है । इस प्रकार तो ('तत्' शब्द) इस सूत्र के लिये हुआ । तथा यह ही मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप है , इस तरह ('तत्' शब्द) अगले सूत्र के लिये हुआ । यदि ऐसा न हो, 'तत्' शब्द न कहा जावे तो पहले मति आदि शब्दों से वाच्य ज्ञान के नाम (प्रथम ज्ञान अर्थात्) मतिज्ञान के हो जावेंगे, और इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तक ज्ञान श्रुतज्ञान कहलावेगा, ऐसा प्रसंग प्राप्त होगा, तथा यह ही श्रुतज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप है, ऐसे अनिष्ट अर्थ के सम्बन्ध की प्राप्ति होगी । तथा यह विशेष जानना कि ये इन्द्रिय, मन, हैं, वे मतिज्ञान के बाह्य उत्पत्ति निमित्त हैं, अन्तरंग निमित्त को मतिज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम ही है ।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्तों का तो ज्ञान हो गया, परन्तु इसके कितने भेद हैं, यह निर्णय नहीं हुआ । ऐसा प्रश्न होने पर इसके भेदों का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं :–

।। अवग्रहेहावायधारणा: ।। 1 – 15।।

अर्थ :– अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा – ये मतिज्ञान के चार भेद हैं । इनका लक्षण बताते हैं ।

विषय अर्थात् रूप आदि और विषयी अर्थात् इन्द्रियां, इनका सम्बन्ध होने पर तुरन्त ही तो (अनन्तर ही तो) दर्शन होता है । इसके (दर्शन के) पश्चात् ही वस्तुमात्र का ग्रहण होता है यह अवग्रह कहलाता है । जैसे नेत्र से 'यह श्वेत रूप है ' ऐसा ग्रहण अवग्रह है । तथा अवग्रह से ग्रहण की गयी वस्तु के विशेष को जानने की इच्छा ईहा है । जैसे अवग्रह से देखे श्वेतरूप वस्तु को 'यह बगुलों की पंक्ति है अथवा ध्वजा है '? इसे संशय नहीं समझना चाहिये, क्योंकि संशय तो दो पक्षों में अनिश्चित ज्ञान है, अप्रमाण है । तथा ईहा है यह एक ही पक्ष में (विशेष) जानने रूप वांछा ज्ञान है । बगुलों की पंक्ति हो तो उसे ही जानने की वांछा है और यदि पताका है, तो उसे ही जानने की वांछा है । तथा ईहा से जानी वस्तु के विशेष अवयव आदि का निर्णय हो जाने पर जो नियमरूप निश्चय होता है वह अवायज्ञान है । जैसे ईहा में बगुलों की पंक्ति की ओर (तरफ - जानने की) वांछा है, परन्तु ध्वजा का निषेध नहीं किया गया है (अभी इस स्टेज पर यह नहीं मान लिया गया है कि ध्वजा हो ही नहीं सकती), तब यहां ऊँचे चढ़ना, नीचे उतर आना, पंख फड़फड़ाना इत्यादि क्रिया -चिन्ह देखकर ऐसा निश्चय हो जाना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है, ध्वजा नहीं है, तब अवायज्ञान हुआ कहा जाता है । तथा अवाय से निश्चय की गयी वस्तु का ऐसा दृढज्ञान होना कि अन्य काल में न भूलने (विस्मरण न होने) के लिये कारण हो, वहां धारणा ज्ञान होता है । जैसे अवायज्ञान में प्रभात में बगुलों की पंक्ति देखी थी, वह ही मैंने अब देखी है, ऐसे ज्ञान के लिये कारण जो ज्ञान है वह धारणा ज्ञान कहा जाता है । इस प्रकार इन अवग्रह आदि कहने का क्रम, इनकी उत्पत्ति के क्रम से कहा है।

यहां **भावार्थ** यह है - सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु का और इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर प्रथम तो सामान्य अवलोकन रूप निराकार दर्शन होता है । उसके बाद उस वस्तु का सामान्य-विशेष रूप साकार ग्रहण हो उसे अवग्रह कहते हैं । उसके बाद उस ही वस्तु में विशेष बहुत हैं, उनमें से वस्तु के किसी विशेष को जानने की इच्छा रूप ज्ञान का प्रवर्तन कि ' यह अमुक विशेष होगा ' को ईहा कहते हैं । इसके बाद उस ही विशेष की क्रिया -चिन्ह आदि देखकर यह निश्चय होना कि यह अभिलाषा जो मैंने ग्रहण की थी यह ही है, उसे अवाय कहते हैं । इसके बाद उस ही विशेष में ज्ञान का ऐसा दृढ हो जाना कि अन्य काल में भी उसे भूले नहीं, उसे धारणा कहते हैं । इनमें विषय का भेद है; अत: गृहीत का पुन; ग्रहण नहीं है, तथा सामान्यरूप से वस्तु के रूप का ग्रहण है, अत: यहां नय भी नहीं हैं । तथा विषय (वस्तु का ज्ञान) सत्यार्थ है, निर्बाध है; अत: प्रमाण है । इन्द्रिय मन का पदार्थ से सम्बन्ध होते के कारण इसमें किंचित् स्पष्टता भी है, इसलिये इसे व्यवहार नय से प्रत्यक्ष (सामव्यवहारिक प्रत्यक्ष) भी कहते हैं, परमार्थ से परोक्ष ज्ञान ही है। अन्यवादी वस्तु का सर्वथा एकान्त स्वरूप मानते हैं, उनके (मतों में) अवग्रह आदि भेद रूप ज्ञान की कथनी ही नहीं है, ऐसा जानना ।

आगे ऊपर कहे अवग्रह आदि के भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं :-

।। बहुबहुविधक्षिप्रानिस्सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।। 1 – 16 ।।

अर्थ :- ऊपर कहे जो अवग्रह आदि हैं, उनका बहु आदि (सूत्र में कहे) छह और छह ही इनके प्रतिपक्षी इस प्रकार बारह प्रकार से ज्ञान होता है । प्रकृत अर्थात् पूर्व में कहे गये अवग्रह आदि ज्ञानरूप क्रिया विशेषों की अपेक्षा यहां सूत्र में षष्ठी विभक्ति करके कर्म का निर्देश किया है । 'बहु' शब्द तो यहां संख्या तथा विपुल अर्थात् समूहपने का वाचक है, क्योंकि दोनों में विशेष (अन्तर) नहीं है । सामान्य संख्या तथा अधिक का ग्रहण करना । जैसे एक, दो, बहुत इस तरह तो संख्या और भात बहुत है, दाल बहुत है, वहां विपुलता ही है, संख्या का कथन नहीं हो सकता । विधि शब्द प्रकार का वाचक है, जैसे बहुत प्रकार । क्षिप्र शब्द का ग्रहण काल की अपेक्षा है, जैसे कोई वस्तु का परिणमन शीघ्र हो । अनि:सृत अर्थात् जिस का शरीर आदि पहले पूरा प्रगट न हो । अनुक्त अर्थात् अभिप्राय से ही जिसका ग्रहण हो, किसी के द्वारा कहे जाने की मुख्यता न हो । ध्रुव अर्थात् निरन्तर जिसका जैसे का तैसा ग्रहण होता रहे । तथा सेतर अर्थात् इनके प्रतिपक्षियों का भी ग्रहण करना ।

यहां बहुत का प्रतिपक्षी तो एक तथा अल्प है । बहुविध का एकविध, क्षिप्र का अक्षिप्र , अनि:सृत का नि:सृत, अनुक्त का उक्त, ध्रुव का अध्रुव – इस तरह बारह हुये । ये बारह के बारह भेद तो अवग्रह के हुये - (1) बहुत का अवग्रह (2) अल्प का अवग्रह (3) बहुविध का अवग्रह (4) एकविध का अवग्रह (5) क्षिप्र का अवग्रह (6) अक्षिप्र का अवग्रह (7) अनि:सृत का अवग्रह (8) नि:सृत का अवग्रह (9) अनुक्त का अवग्रह (10) उक्त का अवग्रह (11) ध्रुव का अवग्रह (12) अध्रुव का अवग्रह - इस तरह अवग्रह के बारह भेद हुये । इसी प्रकार ईहा, अवाय, धारणा - इन तीन के भी बारह बारह भेद होते हैं । तब सब मिलाकर अड़तालीस (48) भेद हो जाते हैं ।

तथा ये (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चारों ही) पांचों इन्द्रियों और मन से होते हैं, अत: अडतालीस को छह बार जोड़ने पर दौ सौ अठ्यासी (288) भेद होते हैं ।

तथा बहु आदि छह के नाम तो सूत्र में कहे और इनके प्रतिपक्षी छह को सेतर कहा, इसका प्रयोजन यह है कि बहु आदि तो मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम बहुत हो तब होते हैं, अत: ये प्रधान हैं, इसलिये पहले कहे । तथा अन्य जो हैं, वे अल्प क्षयोपशम से होते हैं, अत; उन्हें बाद में कहा है।

यहां **कोई पूछता है :-** बहु और बहुविध में क्या अन्तर है ?

उससे कहते हैं :- बहुतपना तो बहु और बहुविध दोनों में है, परन्तु एक प्रकार और नाना प्रकार की अपेक्षा अन्तर है (बहु में प्रकार भेद इष्ट नहीं हैं, बहुविध में प्रकार भेद इष्ट है) ।

तथा **कोई पूछता है :-** उक्त और नि:सृत में क्या अन्तर है ? क्योंकि पूरा प्रकट होने को

नि:सृत कहते हैं, और उक्त भी इसी प्रकार है ।

उससे कहते हैं :– पर के उपदेश पूर्वक हो वह तो उक्त है, एवं स्वयं ही से ग्रहण हो यह नि:सृत है । यही विशेषता (अन्तर) है ।

तथा कुछ आचार्य 'क्षिप्र नि:सृत' ऐसा पाठ है – ऐसा मानते हैं । उनकी मान्यता में 'नि:सृत' सूत्र वाले छह में आता है । वे इसका उदाहरण इस प्रकार बताते हैं – जैसे श्रोत्र इन्द्रिय से पहले शब्द का अवग्रह हुआ । तब यह शब्द मयूर का है, यह कुरचि का है, ऐसा कोई जानता है , उसे नि:सृत कहते हैं, और अनि:सृत से दूसरा केवल शब्द मात्र ही है, ऐसा जानता है ।

तथा **कोई पूछता है :–** ध्रुव अवग्रह में और धारणा अवग्रह में क्या अन्तर है ?

उससे कहते हैं :– क्षयोपशम की प्राप्ति के काल में शुद्ध परिणामों की परम्परा से प्राप्त हुये क्षयोपशम के प्रथम समय में जैसा अवग्रह हुआ, वैसा ही द्वितीय आदि समयों में होता है, न कुछ कम होता है न कुछ अधिक होता है, उसे ध्रुवावग्रह कहते हैं । तथा शुद्ध परिणामों और संक्लेश परिणामों के मिश्रपने से जो क्षयोपशम होता है, उससे उत्पन्न अवग्रह किसी काल में बहुत होता है और किसी काल में अल्प होता है । किसी काल में बहुविध का होता है किसी काल में एकविध का होता है, इस तरह हीनाधिकता सहित अध्रुव अवग्रह होता है । तथा धारणा किसी ग्रहण किये गये पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलने के लिये कारण रूप ज्ञान है । इस तरह दोनों में बड़ा अन्तर है ।

इस तरह बहु आदि पदार्थों के अवग्रह ईहा आदि होते हैं, वे स्याद्वाद मत में निर्बाध, सत्यार्थ, प्रमाणरूप सिद्ध होते है । एवं जो सर्वथा एकान्तवादी हैं, उनके मतों में ज्ञान के ये भेद, तथा पदार्थों के भेद संभव नहीं हैं । आगे यदि ये अवग्रह आदि बहु आदि को जानने वाले हैं, तथापि ये बहु आदि किसके विशेष हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं :–

।। अर्थस्य ।।1–17।।

अर्थ:– ये बहु आदि बारह भेद हैं वे अर्थ (वस्तु) के विशेषण हैं । नेत्र आदि इन्द्रियों के विषय अर्थ हैं, बहु आदि उनके विशेषण हैं । इनसे युक्त विशिष्ट अर्थ अर्थात् वस्तु के अवग्रह आदि होते हैं ।

प्रश्न :– बहु आदि हैं वे अर्थ तो हैं ही, फिर इस सूत्र के कहने से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– आपने पूछा वह तो सत्य है । परन्तु यहां अन्यवादियों की कल्पना के निषेध के लिये 'अर्थस्य' यह सूत्र अलग से कहा है । कुछ अन्यथावादी ऐसा मानते हैं रूप आदि गुण हैं, वे ही इन्द्रियों के द्वारा स्पर्शे (सम्बन्ध को प्राप्त होते) जाते हैं, उन्हीं का अवग्रह होता है, द्रव्य का नहीं होता । पर यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि रूप आदि गुणों का आकार मूर्त नहीं है, जो इन्द्रियों से स्पर्श को प्राप्त हो सके । मूर्तिक तो द्रव्य ही है, उस ही से इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है ।

यह **वादी फिर कहता है :–** यदि ऐसा है तो लोक में तो ऐसा कहा जाता है कि मैंने रूप को देखा, गंध को सूंघा, ऐसा कहना कैसे हो सकेगा ?

उसको कहते हैं :– जो पर्यायों को प्राप्त होता है, अथवा पर्यायें जिसे प्राप्त करती हैं, उसे अर्थ कहते हैं । यह अर्थ गुण पर्यायों का समुदाय द्रव्य ही है । इससे इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर, इससे अभिन्न जो रूप आदि गुण हैं, उनमें ऐसा व्यवहार प्रवर्तता है कि रूप देखा, गंध सूंघा इत्यादि।

आगे, क्या ये अवग्रह आदि सब ही इन्द्रियों और मन के होते हैं, अथवा कुछ विषय की अपेक्षा विशेष भी है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं :–

।। व्यञ्जनस्यावग्रह ।। 1–18 ।।

अर्थ:– व्यंजन अर्थात् अव्यक्त शब्द का अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते हैं, ऐसा नियम है । व्यंजन अर्थात् अव्यक्त शब्दों के समूह का अवग्रह होता है ।

यहां **कोई पूछता है :–** इस सूत्र के कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– नियम बताने के लिये कहा है । व्यंजन का अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते, इस नियम (को बताने) के लिये कहा है ।

पुन: वह **प्रश्न** करता है :– यदि ऐसा है तो नियम का वाचक 'एव' शब्द यहां होना चाहिये था?

उत्तर :– 'एव' शब्द की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिसका विधान पिछले सूत्र में सिद्ध हुआ हो (अर्थात् किसी कार्य के सिद्ध रहते हुये ही) उसको पुन; कहना हो तो इस (उपरोक्त) प्रकार कथन ही नियम का वाचक होता है । अवग्रह का विधान (कार्य) पिछले सूत्र में सिद्ध हुआ, इस सूत्र में पुन: अवग्रह का नाम लिया, इससे ही नियम सिद्ध हुआ, 'एव' क्यों कहें ?

पुन: **प्रश्न** है :– अवग्रह का ग्रहण अर्थ में तथा व्यंजन में समान है, फिर इनमें विशेष क्या है ?

उत्तर :– अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह इन दोनों में व्यक्त और अव्यक्त का अन्तर है । वह ही बताते हैं – जैसे नये मिट्टी के दीपक पर जल की बूंद डाली जावे, वहां दो, तीन आदि बूंदें डाली जाने तक, जब तक गीला न हो, तब तक तो अव्यक्त है । तथा वही दीपक पुन: पुन: पानी डाले जाने पर मंद–मंद गीला होता हुआ व्यक्त है । इस ही प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों के अवग्रह में ग्रहण योग्य शब्द आदि रूप परिणमित हुआ पुद्गलस्कंध दो, तीन आदि समयों में ग्रहण हुआ जब तक व्यक्त रूपसे ग्रहण न हो तब तक तो व्यंजनावग्रह होता है, तथा पुन: पुन: उनका ग्रहण होने पर व्यक्त होता है तब अर्थावग्रह है । इस प्रकार व्यक्त ग्रहण से पहले (अव्यक्त अवस्था तक) तो व्यंजनावग्रह कहा जाता है और व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं । इस तरह अव्यक्त रूप ग्रहण से व्यंजनावग्रह नहीं होते , ऐसा समझना चाहिये ।

आगे सब ही इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह का प्रसंग होने से, जिन इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह संभव नहीं है, उनका निषेध करने के लिये सूत्र कहते हैं :-

।। न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।। 1-19 ।।

अर्थ:- नेत्र इन्द्रिय और मन इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता, क्योंकि ये दोनों अप्राप्यकारी कही जाती हैं । पदार्थों से सट कर स्पर्शन करके उन्हें नहीं जानती हैं, दूर से ही जानती है, अत: अप्राप्यकारी कही गयी हैं । अप्राप्यकारी अर्थात् बिना स्पर्श किये ही अविदित अर्थात् सन्मुख आये, निकट प्राप्त हुये बाह्य प्रकाश आदि से प्रगट किये गये पदार्थ को ही नेत्र जानते हैं, मन है वह भी बिना स्पर्श किये, दूर स्थित पदार्थ का विचार कर लेता है । अत: इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता।

यहां **कोई पूछता है :-** नेत्र अप्राप्यकारी हैं, यह कैसे निश्चित किया ?

उत्तर :- आगम से और युक्ति से निश्चित किया गया है । प्रथम तो शास्त्र में कहा है कि शब्द को स्पर्श से सुना जाता है, रूप को अस्पर्श से ही देखा जाता है । गंध, स्पर्श, रस - ये स्पर्श तथा संधाण रूप होने पर जाने जाते हैं । यह तो आगम है । तथा युक्ति यह है कि नेत्र अप्राप्यकारी हैं, क्योंकि ये स्पर्श को नहीं जानते हैं । यदि प्राप्यकारी हों तो स्पर्शन इन्द्रिय की तरह ही (आंख से) स्पर्शित किये गये अंजन का रूप उन्हें दिख जाना चाहिये, परन्तु अंजन के रूप को नेत्र नहीं जानते हैं । इस तरह मन की ही तरह नेत्र भी अप्राप्यकारी हैं, ऐसा निश्चित किया गया है । अत: नेत्र और मन दोनों को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से ही व्यंजनावग्रह होता है ।

इस तरह इस व्यंजनावग्रह के बहु आदि बारह विषयों की अपेक्षा अड़तालीस (48) भेद हैं ।

इस प्रकार अर्थावग्रह के दौ सौ अठ्यासी (288) भेद और व्यंजनावग्रह के ये अडतालीस (48) भेद मिलकर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस (336) भेद होते हैं । तथा नेत्र के अप्राप्यकारी होने न होने की चर्चा विशेष विस्तार से 'श्लोकवार्तिक' में है, वहां से जानना ।

यहां **कोई कहे :-** जैसे नेत्र दूर से ही जानते हैं, वैसे ही शब्द भी दूर से ही सुने जाते हैं, अत: उन्हें भी अप्राप्यकारी कहो ?

उससे कहते हैं :- ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है, वहां से लेकर कर्ण इन्द्रिय के प्रदेशों तक पुद्गल शब्द रूप हो जाते हैं, तब सुना जाता है । इस ही प्रकार गंध द्रव्य जहां होता हैं, वहां से लेकर नासिका इन्द्रिय तक के प्रदेशों के पुद्गल गंधरूप हो जाते हैं, तब सूंघा जाता है । इसी तरह कर्ण इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय प्राप्यकारी हैं, वैसे नेत्र नहीं हैं, नेत्र अप्राप्यकारी ही हैं ।

आगे **शिष्य पूछता है** - मतिज्ञान का स्वरूप भेदों सहित बताया । अब इसके बाद क्रम प्राप्त श्रुतज्ञान क्या है, तथा उसका स्वरूप एवं भेद कहने योग्य हैं, अत: आचार्य सूत्र कहते हैं -

।। श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।। 1– 20 ।।

अर्थ:– श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, तथा दो भेद वाला है। वे दो भेद अनेकभेद रूप तथा बारह भेद रूप हैं। यहां यह श्रुत शब्द है वह सुनने की मुख्यता वाला है, फिर भी रूढि के वश किसी के ज्ञान का विशेष है उस अर्थ में वर्तता है। कहने का अर्थ यह है कि यह ज्ञान का नाम है। जैसे 'कुशल' शब्द का अर्थ तो 'कुश' अर्थात् डाभ को छेदनेवाला होता है, यह अर्थ तो व्युत्पत्ति से प्राप्त हुआ, फिर भी यह शब्द रूढि वश प्रवीण पुरुष के लिये प्रयोग किया जाता है।

यह ज्ञान विशेष कैसा है ? ऐसा पूछने पर **कहते हैं –** 'श्रुतं मतिपूर्वं' अर्थात् श्रुत मतिपूर्वक होता है। इसप्रकार श्रुत प्रमाणरूप ज्ञान है। जो पूर्व में हो अथवा जो उत्पत्ति करे (के लिये कारण हो) उसे पूर्व कहते हैं। इस प्रकार निमित्त (कारण) का ही नाम पूर्व हुआ, जिसे कारण भी कहते हैं। तथा मति का स्वरूप पहले कहा ही जा चुका है। अत: मतिज्ञान जिसका कारण है उसको मतिपूर्वक कहा जाता है।

यहां **कोई पूछता है –** मति पूर्वक श्रुत कहा, इससे तो यह (श्रुतज्ञान) भी मतिज्ञान के स्वरूप को ही प्राप्त होगा, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है कि कारण जैसा ही कार्य होता है।

उससे कहते हैं – ऐसा एकान्त नहीं है। कार्य कारण से अन्य प्रकार का भी होता है, जैसे घट है यह दंड, चक्र आदि कारणों से उत्पन्न होता है, पर उन स्वरूप नहीं है।

तथा ऐसा भी है कि बाह्य कारणरूप मतिज्ञान आदि विद्यमान होने पर भी जिसके श्रुतज्ञानावरण का प्रबल उदय होता है, उसे श्रुतज्ञान नहीं होता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का प्रकर्ष हो तब श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसप्रकार मतिज्ञान को (श्रुतज्ञान का) निमित्त मात्र जानना चाहिये, श्रुतज्ञान को मतिज्ञान जैसा ही नहीं मानना चाहिये।

यहां **कोई कहता है –** श्रुतज्ञान को तो अनादिनिधन माना गया है, इसे मतिपूर्वक होना कहने से तो इसके नित्यपने का अभाव होगा, क्योंकि जिसका आदि है, वह अन्त सहित भी होता है। तथा पुरुष का किया होने से उसके अप्रमाणता भी होगी।

उसे **आचार्य कहते हैं –** यह दोष नहीं है, द्रव्य आदि सामान्य नय की अपेक्षा तो श्रुत को अनादिनिधन माना गया है। किसी भी पुरुष के द्वारा किसी भी क्षेत्र, काल में नवीन किया नहीं गया है। तथा उन ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विशेष की अपेक्षा श्रुत की आदि भी संभव है, तथा अन्त भी संभव है, इसलिये मति पूर्वक कहा गया है, जैसे अंकुर बीज पूर्वक होता है। वह ही श्रुत सन्तान की अपेक्षा अनादिनिधन चला आ रहा है, तथा अपौरुषेयता प्रमाणता का कारण नहीं है, यदि ऐसा हो तो चोरी आदि (न करने) का उपदेश सन्तान की अपेक्षा अनादिनिधन अपौरुषेय चला आ रहा है तब यह भी प्रमाण ठहरेगा। इस उपदेश का कर्त्ता कौन है, यह किसी को ज्ञात नहीं है कि किस पुरुष ने चोरी

(न करने) का उपदेश शुरु किया था। तथा अनित्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही है, तब अनित्य (ज्ञान) को प्रमाण कहा जावे तो क्या विरोध है। (अर्थात् विरोध नहीं हो सकता)

पुन: **कोई कहता है** – पहले उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो जाने पर ही ज्ञान भी उसी काल में सम्यक् होता है, अत: श्रुत को मतिपूर्वक होना कैसे कहा जा सकता है ?

उससे कहते हैं – यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ज्ञान को सम्यक्पना सम्यक्त्व की अपेक्षा हुआ है। ज्ञान (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों) को स्वरूप की प्राप्ति तो क्रम से ही होती है, इस प्रकार (श्रुतज्ञान को) मतिज्ञान पूर्वक होने में कोई विरोध नहीं है।

तथा **कोई कहता है** – मतिपूर्वक श्रुत होता है यह लक्षण तो अव्यापक (अव्याप्ति दोष वाला) है, सर्वश्रुतज्ञान में व्यापक नहीं है, क्योंकि श्रुतपूर्वक श्रुत माना गया है। इसे ही (स्पष्ट करने के लिये प्रश्न कर्त्ता) कहता है – शब्द रूप से परिणमित पुद्गल स्कंध अक्षर पद रूप हुये हैं। तब घट आदि शब्द कर्ण इन्द्रिय के विषय हुये हैं तथा उसके रूप आदि नेत्र आदि के विषय हुये हैं, बाद में वे ही पहले श्रुतज्ञान के विषय हुये, इसमें कुछ व्यभिचार नहीं है। उनसे जिस पुरुष ने संकेत किया (घट शब्द कहा) है, उसे घट शब्द के गोचर घट नामक पदार्थ में जलधारण आदि उसके कार्य रूप दूसरे सम्बन्ध के विशेष की प्राप्ति होती है। तथा धूम आदि पदार्थ से अग्नि आदि वस्तु की प्राप्ति होती है, उस काल में श्रुतज्ञान से श्रुतज्ञान होता है।

आचार्य उत्तर देते हैं – यह दोष नहीं है। उस श्रुतज्ञान को भी उपचार से मतिज्ञान कहा गया है, क्योंकि कई स्थलों पर श्रुतज्ञान में भी मतिज्ञान का उपचार किया जाता है। अत: मति पूर्वक हो वही श्रुतज्ञान हुआ।

इस सूत्र में 'भेद' शब्द है, अत: भिन्न-भिन्न (अर्थात् प्रत्येक के साथ) कहना, दो भेद भी हैं, अनेक भेद भी हैं, बारह भेद भी हैं। वहां दो भेद तो अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट – इस तरह हैं।

तथा अंगबाह्य के अनेक भेद हैं – उनके नाम दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि हैं, जो चौदह प्रकीर्णक कहे जाते हैं। उनके नाम (1) सामायिक (2) चतुर्विंशति स्तव (3) वंदना (4) प्रतिक्रमण (5) वैनयिक (6) कृतिकर्म (7) दशवैकालिक (8) उत्तराध्ययन (9) कल्पव्यवहार (10) कल्पाकल्प (11) महाकल्प (12) पुंडरीक (13) महापुंडरीक (14) निषेधिका हैं।

तथा अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं – वे कौनसे हैं, वही बताते हैं – (1) आचार (2) सूत्रकृत (3) स्थान (4) समवाय (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति (6) ज्ञातृधर्मकथा (7) उपासकाध्ययन (8) अंतकृद्दश (9) अनुत्तरोपपादिक दश (10) प्रश्न व्याकरण (11) विपाक सूत्र (12) दृष्टिवाद। इनमें दृष्टिवाद के पांच भेद हैं –(1) परिकर्म (2) सूत्र (3) प्रथमानुयोग (4) पूर्वगत (5) चूलिका। तथा परिकर्म

के भी पांच भेद हैं– (1) चन्द्र प्रज्ञप्ति (2) सूर्य प्रज्ञप्ति (3) जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति (4) द्वीप सागर प्रज्ञप्ति (5) व्याख्या प्रज्ञप्ति । चूलिका के भी पांच भेद हैं –(1) जलगता (2) स्थलगता (3) मायागता (4) रूपगता (5) आकाशगता । तथा पूर्वगत के चौदह भेद हैं –(1) उत्पाद (2) अग्रायणी (3) वीर्यप्रवाद (4) अस्ति–नास्ति प्रवाद (5) ज्ञान प्रवाद (6) सत्य प्रवाद (7) आत्म प्रवाद (8) कर्म प्रवाद (9) प्रत्याख्याननामधेय (10) विद्यानुवाद (11) कल्याणनामधेय (12) प्राणावाय (13) क्रियाविशाल (14) लोकबिंदुसार – इस प्रकार बारह अंगों का कथन किया । इसके बीस अंक प्रमाण अपुनरुक्त अक्षर हैं । इनके पद एक सौ बारह करोड तियालीस लाख अठावन हजार पांच (1124358005) हैं । एक पद में (अपुनरुक्त) अक्षर सोलह सौ चौंतीस करोड तियासी लाख सात हजार आठ सौ अठ्यासी (16348307888) हैं । प्रकीर्णकों के (अपुनरुक्त) अक्षर आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पिचेत्तर (80108175) हैं ।

तथा पूर्वों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है – प्रथम तो पर्याय ज्ञान है, जो अक्षर के अनन्तवें भाग होता है, जो सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तक जीव के होता है । वहां से बढ़ता–बढ़ता पर्यायसमास ज्ञान होता है । फिर अक्षरज्ञान, अक्षरसमास ज्ञान, पदज्ञान, पदसमास ज्ञान, संघातज्ञान, संघातसमास ज्ञान, प्रतिपत्तिज्ञान, प्रतिपत्तिसमास ज्ञान, अनुयोग ज्ञान, अनुयोगसमास ज्ञान, प्राभृत ज्ञान, प्राभृतसमास ज्ञान, वस्तु ज्ञान, वस्तुसमास ज्ञान, पूर्वज्ञान, पूर्वसमास ज्ञान – इस तरह बीस स्तरों के बाद पूर्व की उत्पत्ति होती है । तथा पूर्व के चौदह भेद कहे थे, उनमें एक सौ पिचानवें वस्तु होती हैं । एक एक वस्तु में बीस–बीस प्राभृत कहे गये हैं, इस प्रकार उनतालीस सौ (3900 = 195गुणा 20) प्रभृत होते हैं। इन अंगों और अंगबाह्य श्रुत के अक्षरों की तथा पदों की संख्या तथा उनमें जिस–जिस की प्रधानता से व्याख्यान है, वह विशेष रूप से 'गोम्मटसार' में बताया गया है, वहां से जानना।

यहां पुन: कोई **प्रश्न** करता हैं – श्रुतज्ञान दो भेद वाला हैं, बारह भेद वाला हैं, यह विशेष कैसे हुआ ? तथा उसकी प्रमाणिकता कैसे है ?

उत्तर – यह विशेष वक्ता के विशेष से है । वक्ता तीन प्रकार के हैं । प्रथम तो सर्वज्ञ हैं अर्थात् तीर्थंकर एवं सामान्य केवली हैं, तथा श्रुतकेवली हैं, तथा इनके बाद हुये सूत्रकार एवं टीकाकार आचार्य हैं। जिन्हें आरातीय नाम से कहा जाता है । सर्वज्ञ परमर्षि जिन हैं, उनके ऐसी अचिन्त्य विभूति विशेष, जो छद्मस्थ के चिन्तवन में नहीं आती हैं ऐसी, पाई जाती है । उनने अर्थ (वस्तु स्वभाव) रूप से आगम को कहा (का उपदेश दिया), जिसकी प्रमाणिकता तो प्रत्यक्षज्ञानीपने से तथा निर्दोषपने से ही है । इनके निकटवर्ती जो बुद्धि के अतिशय तथा ऋद्धियों से युक्त गणधर, श्रुतकेवलियों के द्वारा (अर्थरूप आगम का स्मरण रखकर) अंगपूर्व रूप सूत्र रचे गये हैं । उनकी प्रमाणिकता सर्वज्ञ

की प्रमाणिकता से है ही । ये सर्वज्ञ के निकटवर्ती (साक्षात् शिष्य) ही हैं । एवं आरातीय अर्थात् उनके बाद के आचार्यों ने इस कालदोष से अल्प आयु, अल्प बुद्धि, अल्प सामर्थ्य के धारी शिष्यों के लिये दशवैकालिक आदि की रचना की है । इसकी प्रमाणिकता अर्थरूप से जैसा सर्वज्ञ तथा गणधरों ने कहा है, वही यह है, इस प्रकार से है । जैसे क्षीरसमुद्र का जल एक घट में भर कर लाने पर वह क्षीरसमुद्र का ही है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की परम्परा से अर्थ लेकर अपनी बुद्धि के अनुसार कहा, यह यही है, ऐसा जानना ।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है - श्रुत शब्द से ज्ञान को ही ग्रहण किया गया है, तब वचनरूप जो द्रव्यश्रुत है, उसे श्रुतपना क्यों प्रसिद्ध है ?

उत्तर :- द्रव्यश्रुत के श्रुतपना उपचार से है, क्योंकि श्रुत शब्द का कहना ही श्रुत के द्रव्यश्रुतपने को बतलाता है । द्रव्यश्रुत भावश्रुतज्ञान के लिये निमित्त कारण है । इस ही के निमित्त से भावश्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ऐसे भेद हुये हैं । यदि ऐसा न हो तो ज्ञान को श्रुत नाम क्यों है ? ज्ञान के वाचक को ही स्पष्ट नाम (श्रुतनाम) से कहने, एवं अंग आदि का भेद कहने से अन्यवादी जो चार भेदरूप वेद कहते हैं, तथा वेद के षडंग कहते हैं, तथा वेद की सहस्र शाखायें बताते हैं, उनसे भिन्नता प्रगट होती है । वे सब (वेद आदि) श्रुताभास हैं, प्रमाण नहीं हैं । तथा श्रुत परोक्ष प्रमाण है । मति पूर्वक (होना) कहने से (यह श्रुतज्ञान) अवध्य आदि निमित्तों से भी नहीं होता (यह कहकर अन्यवादी जो श्रुत को अन्य निमित्त से होना कहते हैं, उनका निषेध किया है) तथा सर्वथा नित्य कहने का भी निषेध किया है, क्योंकि श्रुतपूर्वक भी श्रुत होता है । तथापि वह (प्रथम श्रुत) मतिपूर्वक ही है, क्योंकि जिसके पूर्व वचन आता है, वहां उसके वचन के श्रवणरूप मतिज्ञान अवश्य होता है, उसके बाद ही श्रुतज्ञान होता है । अत: (श्रुतज्ञान) साक्षात् तो मतिपूर्वक ही होता है । तथा स्मृति आदि ज्ञान भी श्रुत ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि स्मृति आदि तो मतिज्ञान के ही विशेष हैं ।

तथा मीमांसक वेद को शब्दात्मक द्रव्यश्रुत कहते हैं, उसे ज्ञानपूर्वक नहीं कहते । (उस वेद को) सर्वथा नित्य कहते हैं । यदि प्रमाण से विचारा जावे तो उनके (कथनों में) बहुत विरोध आता है, क्योंकि वेद का उच्चार तो ज्ञानपूर्वक ही होता है । यदि कहा जावे कि शब्द की व्यक्ति ज्ञानपूर्वक होती है, शब्द को नित्य ही हैं । उसको कहते हैं कि शब्द की व्यक्ति शब्द से भिन्न तो है नहीं, शब्दरूप ही है । **फिर वह कहता है** कि वचन का उच्चार को ज्ञानपूर्वकपना है (शब्द का उच्चार ज्ञानपूर्वक ही होता है) परन्तु वचन को नया नहीं है नित्य ही है, क्योंकि इसका कर्त्ता किसी को बताया नहीं गया है। बड़े बड़े ज्ञानी हो गये पर शब्द का कर्त्ता कौन है, यह किसी को भी ज्ञात नहीं हुआ । **वैशेषिक मत** में तो वेद का कर्त्ता ब्रह्मा को कहा है । **जैमिनी मत** में कालासुर को (वेद का कर्त्ता) कहा है । **बौद्धमत** में स्वाष्टकता

को कर्त्ता कहा है । अपने अपने संप्रदाय में सभी ने (किसी न किसी को वेद का कर्त्ता) कहा है । अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी ने भी कर्त्ता नहीं कहा । यदि यह कहा जावे कि बहुतों को कर्त्ता बताया गया है, इससे यह जाना जाता है कि कर्त्ता कहना असत्य ही है । उससे कहते हैं, कर्त्ता होने पर अकर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ? तथा वेद को ऐसी महानता भी अन्य आगम अपेक्षा नहीं है कि ऐसा कहा जा सके कि किसी से किया जा सकता नहीं, अत: अकर्ता कहा है ।

तथा यदि कहा जावे कि वेद का पढ़ना वेद के पढ़नेपूर्वक ही है, पहले किसी ने पढ़ा हो उससे ही (वेद) पढे जाते हैं । पर यह कहना भी अन्यों के समान ही है, क्योंकि सब ही अपने आगम का अपने अपने आप्त को पढ़ाने वाला कहते हैं । यदि कहा जावे कि आगम के अर्थ के साक्षात् प्रत्यक्ष करने वाला ही वक्ता होता है, यदि इस प्रकार कर्त्ता कहा जावे तो क्या विरोध है ? तथा पढ़ाने वाले के बिना वेद का पढ़ना कैसे हो ? ब्रह्मा स्वर्ग में स्वयं अध्ययन करता है, फिर लोक में आकर अन्यों को (वेद) पढ़ाता है, ऐसा कहते हो तो ऐसा तो सभी शास्त्र के पढ़ने पढ़ाने वाले कहते हैं । यदि इस ही प्रकार अकृत्रिमता मानी जावे तो सर्व ही शास्त्र अकृत्रिम ठहरेंगे । यदि कहो कि मैंने पूर्व में शास्त्र पढ़े थे, उन्हीं शास्त्रों को अब पढ़ाता हूँ । ऐसा अनुभव (बिना पढ़े ही पढ़ाने का अनुभव) तो किसी में दिखता नहीं है । उसको कहते हैं कि तत्काल जन्मा हुआ बालक माता का दूध खींचता है, वह अनुभव के बिना कैसे खींच लेता है ? (यदि कहोगे कि) उसको (पूर्वभव) का अनुभव है, अत: खींच लेता है, तो फिर उसी प्रकार शास्त्र का संस्कार पढ़ने-पढ़ाने में हो तो क्या विरोध है ? तथा काव्य रचने वाले कविश्वरों को अक्षर, पद, वाक्यों में व्युत्पत्ति देखी जाती है, वैसे ही (किसी को) वेद की रचना का कर्त्ता कहा जावे तो क्या विरोध है ? तथा ऐसा भी सुना जाता है कि सामगण ने सामवेद बनाया, रुचिगिरा ने रिचायें रचीं, तो फिर वेद के अपौरुषेयपना कहाँ रहा ? अत: भारत आदि की ही तरह वेद भी वाक्य स्वरूप हैं, इसलिये (वेद के) पौरुषेयपना ही संभव है ।

तथा यदि वेद की अकृत्रिमता प्रमाणता का कारण माना जावेगा तो फिर इस ही प्रकार सभी पदार्थों के अकृत्रिमता प्रमाणता का कारण क्यों नहीं कहा जावेगा ? तथा निर्दोष कारण से उत्पन्न होना, अपूर्वार्थपना, बाधारहितपना प्रमाणता का कारण है जो अनुमान आदि प्रमाणों में समान रूप से है, तब फिर निष्प्रयोजन ही वेद के अपौरुषेयपने की कल्पना क्यों की जावे ? अत: आगम की प्रमाणता भी स्याद्वाद मत में असंभव बाधक प्रमाण से साधी है (सिद्ध की है) वह ही सत्यार्थ है ।

कोई कहता है – शब्द पूर्वक ही ज्ञान होता है, ऐसा एकान्त है, क्योंकि लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका कोई नाम न हो, तथा नाम के बिना जिसका निश्चय हो ?

उत्तर – आचार्य अकलंकदेव ने ऐसा कहा है कि नाम से पहले स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध

भेदों सहित मतिज्ञान प्रवर्तता है, अवशेष शब्द पूर्वक श्रुतज्ञान है, ऐसा कहने से जो अन्यवादी कहते हैं कि ज्ञान के पूर्व जो निरन्तर वचनरूपपना हो तो ज्ञान का प्रकाश होगा नहीं, ऐसा कहने का भी निराकरण हुआ, क्योंकि मतिज्ञान का प्रकाश वचनरूपता के बिना ही होता है ।

आगे **शब्दाद्वैतवादी** की मान्यता बताकर उसका निराकरण करते हैं – वह (शब्दाद्वैतवादी) कहता है कि वाणी चार प्रकार की है (1) वैखरी (2) मध्यमा (3) पश्यंति (4) सूक्ष्मा । उसमें उर, कंठ आदि स्थानों को भेद कर निकला पवनरूप वक्ता का स्वासोच्छवास ही जिसका कारण है, इस प्रकार अक्षर रूप से प्रवर्तित वाणी **वैखरी** कही जाती है । तथा वक्ता की बुद्धि तो जिसका उपादान कारण है और स्वासोच्छवास का उल्लंघन कर प्रवर्तति (वाणी) को **मध्यमा** कहते हैं । तथा जिसमें विभाग नहीं हैं और जिसने सर्व तरह के क्रम को संकोचा है, ऐसी वाणी **पश्यंति** कही जाती है । तथा अनन्तर प्रकाशरूप स्वरूप ज्योतिरूप नित्य, ऐसी वाणी **सूक्ष्मा** कही जाती है । इनमें से वैखरी और मध्यमा इन दो के बिना तो इन्द्रिय ज्ञान प्रवर्तित होता है । यह स्वसंवेदन हमें इष्ट है, हम भी स्वीकार करते हैं ।

तथा **शब्दाद्वैतवादी फिर कहता है** कि पश्यंति और सूक्ष्मा बिना ज्ञान के प्रवर्तित नहीं होती, क्योंकि निश्चयात्मक व्यापार स्वरूप जो ज्ञान है वह अभेद रूप पश्यंति वाणी के बिना कैसे प्रवर्तित हो ? तथा सर्वव्यापक नित्य एक रूप शाश्वत बीजरूप सर्ववाणी का कारण सर्वज्ञान में प्रकाश रूप जो सूक्ष्मा वाणी के बिना कैसे प्रवर्तित हो?

उससे कहते हैं – शब्द ब्रह्म को तो तू निरंश मानता है, उसमें चार अवस्थायें कैसे हो सकती हैं ? यदि (चार अवस्थायें) हो सकती हैं तो (वह शब्दब्रह्म) अंशसहित हुआ, तब अनित्य ठहरेगा । अद्वैतपना कैसे बनेगा ?

यदि कहोगे – अविद्या से चार अवस्थायें दिखती हैं ।

तब **(प्रश्न है) ये अविद्या किसके है ?** शब्दब्रह्म तो निरंश है, उसको तो अविद्या संभव नहीं है, तथा निरंश शब्द की सिद्धि किस प्रमाण से करोगे ? इन्द्रियों से तो उसका ग्रहण नहीं है, तथा उसकी एकता का कुछ चिन्ह नहीं है, स्वसंवेदन में वह आती नहीं है, तथा आगम से तो भेद की भी सिद्धि है (चार भेद तुम स्वयं ही कह रहे हो) अभेद की सिद्धि नहीं होती । अन्य प्रमाण के बिना केवल आगम ही से तत्त्व की सिद्धि भी प्रमाणिक नहीं है । तथा शब्दब्रह्म से भिन्न आगम भी कुछ है या नहीं (यदि है तो अद्वैत नहीं रहेगा), तथा उसके भेद अविद्या रूप बताते हो, तो अविद्या से उसकी सिद्धि कैसे होगी ? इत्यादि युक्तियों से निरंश शब्दब्रह्म की सिद्धि होती नहीं है । तथा उनकी चार प्रकार रूप वाणी की अवस्था होना भी बनता नहीं है । तथा हम स्याद्वादियों के तो सर्व प्रकार सिद्धि होती है ।

वाणी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार है। उनमें द्रव्य वचन (वाणी) दो प्रकार के हैं - (1) द्रव्यरूप (2) पर्यायरूप। तहां श्रोत्र इन्द्रिय के ग्रहण में आवे ऐसा वचन तो पर्याय रूप है, उसे **वैखरी** नाम दिया है। तथा भाषा वर्गणा रूप परिणमित पुद्गल स्कंधों को द्रव्यवचन कहते हैं, इनको **मध्यमा** नाम दिया। भाववचन दो प्रकार के हैं अर्थात् उसके दो भेद हैं। उनमें ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के अभाव से हुई आत्मा के अक्षरों को ग्रहण करने तथा कहने की शक्ति को तो लब्धि कहते हैं, इसका नाम सूक्ष्म कहा है। तथा उस लब्धि के अनुसार व्यक्त हुआ अक्षरों को ग्रहण करने रूप तथा कहने रूप द्रव्यवचन के लिये कारणरूप जो भाव उसको उपयोग कहते हैं, इसका नाम **पश्यंति** है। ये दोनों आत्मा के परिणाम हैं, शब्दरूप पुद्गल नहीं हैं, शब्द के लिये निमित्त मात्र हैं। इस लब्धि और उपयोग को चिद्रूप सामान्य ग्रहण कर अक्षर रूप नाम कहने से पहले तो मतिज्ञान ही कहा जाता है, यह तो वचनरूप प्रवर्तित नहीं होता है। तथा वचनरूप प्रवर्तित हो वह श्रुतज्ञान है, वह वचनपूर्वक है ही। इस प्रकार कहने से सर्वजघन्य जो लब्धाक्षर ज्ञान है उसका भी श्रुतज्ञान होना सिद्ध होता है। वह स्पर्शन इन्द्रिय से होता है, अत: मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस तरह मतिपूर्वक श्रुत कहने में कुछ भी विरोध नहीं है।

तथा **अन्यवादी** उपमान प्रमाण को अलग कहते हैं। वह भी श्रुतज्ञान प्रमाण में ही अंतर्भूत होता है। वह ही बताते हैं - प्रसिद्ध समानधर्मपने से साध्य वस्तु की सिद्धि को उपमान कहते हैं, जैसे गाय जैसा यह गाय है। तथा विधर्म से भी यह (उपमान) होता है, जैसे जो भैंसा है वह गाय नहीं है। इस तरह समान धर्म और असमान (वैधर्म्य) धर्म से संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध की प्राप्ति होता उपमान है। ऐसे इस (उपमान) को (अनयवादी) शब्द प्रमाण से भिन्न कहते हैं। उनके दो आदि संख्या का ज्ञान भी भिन्न प्रमाण ठहरेगा, तथा सोपान से ऊपर नीचे का ज्ञान, पर्वत आदि में स्थिरता का ज्ञान, अपने वंश में महानता का ज्ञान, सूर्य चन्द्रमा आदि में दूरवर्ती होने का ज्ञान, सरसों में छोटेपन का ज्ञान, रुई आदि में हल्केपन का ज्ञान, अपने घर आदि में निकटवर्ती होने का ज्ञान, त्रिकोण, चौकोर आदि में आकार का ज्ञान, किसी वस्तु में वक्रपने का ज्ञान ये सब ही भिन्न (अलग) प्रमाण ठहरेंगे। तथा स्वयं उनकी मानी हुई प्रमाण की संख्या का विघटन होगा (उतनी ही नहीं हो सकेगी)। अत: जो संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध से पदार्थ का ज्ञान होता है वह सब आप्त के उपदेश पूर्वक है, इसलिये आगम प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इस ही प्रकार अन्य भी उदाहरण हैं।

जैसे (राजा) सिंहासन पर बैठा हो वह राजा होता है, स्वर्ण के सिंहासन पर बैठी हो वह पट्टरानी होती है। इस तरफ बैठा हो वह मंत्री होता है, यह इससे पूर्व दिशा में है, यह इससे दक्षिण दिशा में है, यह इससे उत्तर दिशा में है, इसका यह नाम है, इत्यादि वाक्य पहले सुने थे, उनके संस्कार से पुन: इन्हें

देंखकर राजा आदि का ज्ञान होना, तथा षण्मुख स्वामिकार्तिकेय हैं, ब्रह्मा चतुर्मुख हैं, ऊंची नासिका वाला सुखदेव है, जिसकी चोंच दूध और जल को अलग करने वाली हो वह हंस है, सप्त पत्र वाला अशोक वृक्ष है, ऐसे वाक्यों से यथार्थ की प्राप्ति होना भी आगम प्रमाण है । तथा रूप आदि अलंकारों से ज्ञान होना भी आगम है । इस प्रकार उपमान प्रमाण है वह भी आगम प्रमाण है ।

तथा जिसे पहले देखा था, उसे पुन: देखने पर वह जानना 'यह जिसे पहले देखा था वही है ' वह प्रतिभा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान है, वह भी मतिज्ञान ही है । इसके पहले शब्द लगाया तब आगम प्रमाण है, और संभव, अभाव, अर्थापत्ति, अनुमान ये सभी नाम पूर्वक तो आगम प्रमाण हैं और बिना नाम मतिज्ञान रूप प्रमाण हैं । इस तरह पूर्व सूत्र में जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इन दोनों को परोक्ष प्रमाण कहा वह जानना ।

आगे प्रत्यक्ष प्रमाण का कथन करना योग्य है । वह प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है –(1) देश प्रत्यक्ष (2) सकल प्रत्यक्ष । अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान तो देश प्रत्यक्ष हैं, और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है । तहां पूछते हैं – यदि ऐसा है तो तीन प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों में पहला अवधिज्ञान है, उसे बताइये ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि अवधिज्ञान दो प्रकार का है (1) भवप्रत्यय (2) क्षयोपशम निमित्तक । पहले भव प्रत्यय का कथन करते हैं –

।। भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।। 1–21 ।।

अर्थ:– भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों को होता है । वहां पूछते हैं – भव क्या है?

उत्तर:– आयु और नाम कर्म का उदय जिसमें निमित्त हो ऐसी आत्मा की पर्याय भव कही जाती है । तथा कारण को प्रत्यय कहते हैं । इस प्रकार जिसका कारण भव है, उसे भवप्रत्यय कहते हैं । ऐसा अवधिज्ञान देव और नारकी जीवों के होता है ।

यहां **कोई पूछता है** – यदि ऐसा है तो उनके क्षयोपशम निमित्तपना नहीं रहा ?

आचार्य **उत्तर** देते हैं :– ऐसा दोष यहां नहीं आता है, क्योंकि भव के आश्रय से इनको ऐसा क्षयोपशम होता है । अत: प्रधान कारण (भव प्रत्यय) है, ऐसा उपदेश है (कहा है), जैसे पक्षियों के आकाश गमन में भव ही प्रधान है, किसी का सिखाया नहीं है, उसी प्रकार देव नारकियों के व्रत, नियम, तपश्चरण के अभाव में भी यह होता है, इसलिये इसे भवप्रत्यय कहते हैं । तथा यह नियम जानना कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान केवल देव नारकियों को ही होता है । यदि ऐसा न हो तो भव तो सर्व ही जीवों के होना साधारण बात है तब सभी को इसकी प्राप्ति का प्रसंग आवेगा । तथा अवधिज्ञान की हीनाधिक प्रवृत्ति भी देखी जाती है, अत: यह क्षयोपशम का विशेष है (क्षयोपशम के कम अधिक होने से हीनाधिकता देखी जाती है) । देव नारकियों को सभी को अवधिज्ञान नहीं होता, केवल

सम्यग्दृष्टियों को ही अवधिज्ञान होता है, क्योंकि सूत्र में 'अवधि' शब्द का ग्रहण है । तथा मिथ्यादृष्टि (देव नारकियों को) विभंगअवधिज्ञान कहा जाता है । इनमें अवधिज्ञान की हीनाधिकता का व्याख्यान अन्य ग्रन्थों से जानना ।

आगे दूसरे भेद का कथन करते हैं :-

।। क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।। 1-22 ।।

अर्थ :- जिसमें क्षयोपशम निमित्त है, ऐसा छह भेदरूप अवधिज्ञान शेष जो मनुष्य और तिर्यन्च हैं उनको होता है । वहां अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय तथा सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का अभाव ही जिसका लक्षण है, ऐसा क्षय, तथा वे ही सर्वघाति स्पर्धक को उदय को प्राप्त नहीं हुये हैं और सत्तारूप अवस्था में उपशम जिसको निमित्त है वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहा जाता है । यह देव नारकियों से शेष रहे मनुष्य तथा तिर्यंचों को होता है, उनमें भी जिनके अवधिज्ञान के योग्य सामर्थ्य हो उन्हीं को होता है । जो असैनी तिर्यंच तथा अपर्याप्तक मनुष्य और तिर्यंच, इस सामर्थ्य से रहित हैं, उनको नहीं होता । तथा संज्ञी पर्याप्तकों में भी सभी को नहीं होता है, सम्यग्दर्शन आदि निमित्त से सहित किसी को होता है । तथा जिनके (इस प्रकार के) कर्म के उपशम अथवा क्षय हुआ हो उन्हीं को होता है ।

यहां **कोई पूछता है :-** क्षयोपशम के बिना तो अवधिज्ञान होता नहीं है, तब सूत्र में क्षयोपशम शब्द को किस प्रयोजन से कहा है ?

उसको कहते हैं - यह क्षयोपशम शब्द का ग्रहण नियम बताने के लिये किया है । यहां केवल क्षयोपशम ही निमित्त है, भव निमित्त नहीं है ।

यह अवधिज्ञान छह भेद वाला है - (1) अनुगामी (2) अननुगामी (3) वर्द्धमान (4) हीयमान (5) अवस्थित (6) अनवस्थित । उनमें जो भवान्तर में गमन करते जीव के साथ ही अन्य भव में, सूर्य के प्रकाश की भांति चला जावे उसे तो **अनुगामी** कहते हैं । तथा जो भवान्तर में साथ न जावे, जिस भव में उत्पन्न हो उसी भव में रह जावे, जैसे पीठ के पीछे प्रश्न करने वाले पुरुष के वचन पर के हृदय में प्रवेश नहीं करते वैसे ही यह अवधिज्ञान जानना, यह **अननुगामी** (अवधिज्ञान) कहा जाता है । तथा जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणरूप विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होने पर जिस परिमाण को लिये उत्पन्न हुआ था, उससे बढता ही जावे, असंख्यातलोक प्रमाण स्थानों तक बढे, जैसे बांसों की परस्पर रगड से उत्पन्न अग्नि सूखे पत्तों आदि रूप एकत्रित हुए इंधन के समूह पर गिरकर बढती ही जाती है, वैसे ही बढे, उसको **वर्द्धमान** कहते हैं । तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि रूप संक्लेश परिणामों की वृद्धि के कारण जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ था, उससे घटता ही जावे, अंगुल के असंख्यातवें

भाग मात्र स्थानों तक घटता ही रहे, जैसे जिस उपादान (यहां इँधन की मात्रा) के परिमाण रूप अग्नि की शिखा घटती ही जाती है, उसी प्रकार इस अवधिज्ञान को **हीयमान** जानना । तथा जो सम्यग्दर्शन आदि गुण के अवस्थान से जिस परिमाण को लिये उत्पन्न हुआ था, पर्याय के अन्त तक उतना ही रहे, केवलज्ञान उत्पन्न होने (के ठीक पहले क्षण) तक घटे बढे नहीं, जैसे किसी पुरुष का तिल आदि का चिन्ह वैसा का वैसा ही रहता है, वैसे ही उस अवधिज्ञान को **अवस्थित** जानना । तथा जो सम्यग्दर्शन आदि गुणों के घटने बढने के योग से जितने परिमाण को लिये उत्पन्न हुआ था, उससे बढे भी घटे भी, जैसे पवन के वेग से प्रेरित जल की लहरें घटती भी हैं बढती भी हैं, वैसे ही घटे बढे, उसे **अनवस्थित** अवधिज्ञान कहते हैं । इस प्रकार यह अवधिज्ञान छह प्रकार का है ।

तथा 'श्लोकवार्तिक' में इसका इस प्रकार व्याख्यान है – अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम तो अंतरंग कारण है, वह तो दोनों प्रकार के अवधिज्ञान में समान रूप से कारण है । इसके बिना तो अवधिज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं । यह तो बाह्य निमित्त की अपेक्षा कथन किया है । तथा भवप्रत्यय के लिये तो प्रधान कारण भव ही है । तथा जिसे क्षयोपशम निमित्तक कहा है उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान भी कहते हैं ।'वहां क्षयोपशम शब्द से चारित्रमोह के क्षय से हुआ क्षायिक चारित्र तथा चारित्रमोह के उपशम से हुआ उपशम चारित्र, तथा दोनों से हुआ क्षयोपशम चारित्र लेना, इसमें संयमासंयम चारित्र भी शामिल है । इस प्रकार तीन प्रकार के चारित्र नामक गुण रूप बाह्य निमित्त से उत्पन्न हो उसे क्षयोपशमिक निमित्तक कहते हैं – ऐसा व्याख्यान है ।

तथा आगम में सप्रतिपाति, अप्रतिपाति तथा देशावधि, परमावधि, सर्वावधि आदि (गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद कहे) हैं, वे सब अनुगामी आदि जो छह भेद (उपर) कहे हैं, उनमें अन्तर्भूत जानना । इनमें देशावधि तो अनुगामी भी है और अननुगामी भी है । तथा परमावधि, सर्वावधि केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक अनुगामी ही है । देशावधि तो वर्द्धमान भी है और हीयमान भी है । परमावधि वर्द्धमान ही है । देशावधि तो अनवस्थित ही है । इस प्रकार अवधिज्ञान का कथन किया ।

आगे इससे संलग्न मन:पर्यय ज्ञान का कथन करना योग्य है, उसका भेद सहित कथन करने के इच्छुक आचार्य सूत्र कहते हैं –

।। ऋजुविपुलमती मन:पर्यय: ।। 1–23 ।।

अर्थ :– मन:पर्यय ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद वाला है । ऋजु सरल को कहते हैं । पर (दूसरे) के मन, वचन, काय से प्राप्त पदार्थ के जानने से उत्पन्न हुई मति अर्थात् ज्ञान जिसको हो, उसे ऋजुमति कहते हैं । तथा विपुल वक्र को कहते हैं । मन, वचन, काय से किया हुआ तथा पर के मन को प्राप्त पदार्थ से नहीं उत्पन्न स्वयमेव ही उत्पन्न हुई मति अर्थात् ज्ञान जिसको हो उसे

विपुलमति कहते हैं। इनका समास करके ऋजुविपुलमति ऐसा द्विवचन कहा है। यहां एक ही मति शब्द से अर्थ हो गया अत: दूसरा मति शब्द नहीं कहा। अथवा ऐसा भी समास होता है कि ऋजु और विपुल ये दोनों ही मति हैं। अत: जहां दोनों ही हों वे दोनों ही ऋजुविपुलमति हैं। ऐसा कथन करने से यह मन:पर्यय ज्ञान दो प्रकार का हुआ (1) ऋजुमति (2) विपुलमति। अब इनका लक्षण कहते हैं –

वीर्यान्तराय और मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म का तो क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नाम कर्म के उदय के लाभ के अवलम्बन से आत्मा में पर के मन से सम्बन्ध को प्राप्त की है प्रवृत्ति जिसने, ऐसे ज्ञानोपयोग को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

यहां **कोई कहता है** – मन के सम्बन्ध से हुआ है, अत: इसमें मतिज्ञान का प्रसंग प्राप्त होता है।

उससे कहते हैं – इसका उत्तर तो पहले सामान्यज्ञान के सूत्र के व्याख्यान में कह चुके हैं। यहां मन की अपेक्षा मात्र है, उत्पत्ति कारण नहीं है। पर के मन में अवस्थित अर्थ को यह जान लेता है, इतनी मात्र अपेक्षा है। ऋजुमति ज्ञान काल अपेक्षा जघन्य तो स्वयं के अथवा अन्य के दो तथा तीन भव का ग्रहण करता है और उत्कृष्ट पिछले और अगले सात–आठ भवों का कथन करता है। क्षेत्र अपेक्षा जघन्य चार से लेकर आठ कोश तक की, तथा उत्कृष्ट चार योजन से लेकर आठ योजन तक की कह सकता है, इसके बाहर की नहीं कह सकता। विपुलमति ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य तो अगले और पिछले सात–आठ भव को ग्रहण कर सकता है और उत्कृष्ट अगले और पिछले असंख्यात भवों को ग्रहण कर कथन करता है। तथा क्षेत्र अपेक्षा जघन्य तो चार से लेकर आठ योजन तक की कह सकता है और उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर की कह सकता है, बाहर की नहीं।

इस प्रकार मन:पर्यय ज्ञान के दो भेदों का कथन किया, अब उनके विशेष की प्राप्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। विशुध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष: ।। 1–24 ।।

अर्थ :– दोनों मन:पर्यय ज्ञानों में विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो विशेषों की अपेक्षा विशेष (अन्तर) है। अपने आवरण अर्थात् कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा में विशुद्धता, उज्जवलता होती है, उसे विशुद्धि कहते हैं। संयम से छूटने को प्रतिपात कहते है और जो प्रतिपात नहीं है वह अप्रतिपात है। उपशान्त मोह वाले जीव के चारित्र मोह का उदय होने पर संयम रूप शिखर से प्रतिपात (गिरना) होता है, उल्टा आ गिरता है। तथा क्षीणकषाय वाले के गिरने का कोई कारण नहीं होता, अत: उल्टा नहीं आता, अप्रतिपात होता है। इन दोनों अपेक्षाओं से ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान में भेद है। तहां विशुद्धि की अपेक्षा तो ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव

के विशेष जानने की अपेक्षा अतिशय विशुद्ध है । कार्मण द्रव्य के अनन्तवें अंतिम भाग को जिसे सर्वावधिज्ञान जान सकता है, उसके अनन्त भाग करने पर अंतिम भाग ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का विषय है । उसके भी अनन्त भाग करने पर अनन्तवें भाग को विपुलमतिज्ञान जानता है । अनन्त के भी अनन्त भेद होते हैं, अत: पुन: पुन: अनन्तवां भाग कहा है । इस तरह द्रव्य अपेक्षा विशुद्धि बताई । क्षेत्र अपेक्षा ऊपर कह ही चुके हैं । भाव की अपेक्षा विशुद्धि अति सूक्ष्म द्रव्य को जानने से ही जान लेना चाहिये । प्रकृष्ट क्षयोपशम के योग से विशुद्धि अधिक होती है । तथा अप्रतिपाती होने की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है, क्योंकि जिसको विपुलमति ज्ञान होता है, उसका चारित्र वर्द्धमान ही होता है, अत: नीचे नहीं आता । तथा ऋजुमतिज्ञान वाला कषाय का उदय होते से हीयमान चारित्र भी होता है, अत: उल्टा भी आ जाता है (गिर जाता है), इसलिये प्रतिपाति भी होता है ।

आगे यदि मन:पर्ययज्ञान में विशेष है, तो अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान में क्या विशेष (अन्तर) है, वह बतावें ? ऐसे प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्ययो: ।। 1–25 ।।

अर्थ :– अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान इन दोनों में विशुद्धता अर्थात् उज्ज्वलता तथा क्षेत्र जहां स्थित भावों को जाने, तथा स्वामी जिसको यह ज्ञान होवे वह आत्मा, तथा विषय अर्थात् ज्ञेय वस्तु इन चारों के भेद से विशेष अन्तर है । वही बताते हैं – मन:पर्यय का विषय सूक्ष्म है, इस अपेक्षा यह अवधिज्ञान से विशेष रूप से विशुद्ध है, उज्ज्वल है । क्षेत्र का कथन पहले कर ही चुके हैं । अवधिज्ञान का क्षेत्र बहुत है, मन:पर्ययज्ञान का क्षेत्र अल्प है । मन:पर्ययज्ञान का स्वामी तो प्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक का संयमी ही होता है । उसमें भी उत्तम चारित्र वाला ही होता है। उसमें भी वर्द्धमान चारित्र वाला ही होता है । उसमें भी सप्त ऋद्धि में से किसी ऋद्धिधारी हो, उस ही को होता है । अन्य को नहीं होता । उनमें भी किसी–किसी को ही होता है सब ही ऋद्धिधारियों को नहीं होता। तथा अवधिज्ञान है वह चारों ही गतियों के जीवों को हो सकता है । इस प्रकार स्वामी के भेद से भी इन दोनों में अन्तर है । तथा विषय की अपेक्षा भेद है उसका कथन आगे करेंगे ।

आगे केवलज्ञान का कथन करने का अवसर है । उसे छोड़कर पहले ज्ञानों के विषयों के नियम (किस–किस ज्ञान का विषय क्या–क्या है) का विचार करते हैं । क्यों करते हैं ? क्योंकि दसवें अध्याय में केवलज्ञान का स्वरूप 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्र से कहेंगे । यदि ऐसा है तो सर्व प्रथम कहे गये मति और श्रुत ज्ञान के विषय के नियम क्या हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।। 1– 26 ।।

अर्थ:– मति, श्रुत इन दोनों का विषय का नियम सर्व द्रव्यों की कुछ पर्यायें हैं, सब पर्यायें नहीं

हैं। निबंध अर्थात् विषय का नियम।

यहां **कोई कहता हैं :–** विषय का कहा है, यह कैसे जाना। सूत्र में तौं 'विषय' शब्द है नहीं ?

उससे कहते हैं :– विषय शब्द पहले सूत्र में कहा था, वहां से आया है, उसके विभक्ति भी लगा लेना चाहिये।

तथा द्रव्येषु बहुवचन कहने से सभी द्रव्यों – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल –को ग्रहण करना। उनके असर्वपर्यायेषु अर्थात् कुछ पर्यायें (को जानता है ऐसा) समझना। इस प्रकार कुछ पर्यायों सहित सभी द्रव्य मति, श्रुत ज्ञान के विषय हैं, ऐसा (अर्थ) प्राप्त होता है। इनका विषय सर्व पर्यायों सहित सर्व द्रव्य नहीं है, क्योंकि वे पर्यायें अनन्त हैं।

यहां **कोई कहता है –** धर्मास्तिकाय आदि तो अतीन्द्रिय हैं, वे इन्द्रिय ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान का विषय कैसे हो सकते हैं ? अत: मतिज्ञान सर्वद्रव्यों में प्रवर्तता है, यह कहना युक्त नहीं है।

उससे कहते हैं – यहां यह दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अनिन्द्रिय अर्थात् मन नामक अन्तरंग कारण है, अत: नोइन्द्रियज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की लब्धि उपयोग पहले ही अवग्रह आदि रूप प्रवर्तित होता है। अत: तत्पूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान सर्वद्रव्यों में स्वयोग्य विषयों में प्रवर्तता है, ऐसा जानना।

यहां **कोई अन्यवादी कहता है –** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो स्वप्नवत् है। बाह्य पदार्थों के अवलम्बन करके उत्पन्न नहीं होता है। जैसे स्वप्न में देखा बाह्य पदार्थ सत्यार्थ नहीं है, वैसे ही यह भी है।

उससे कहते हैं – यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा कहने से तो सर्वशून्यता का प्रसंग उपस्थित होगा। प्रथम तो आपके यहां पहला अपना आत्मा से दूसरा आत्मा बाह्यार्थ है, तथा मति श्रुतज्ञान उसको जानता है। यदि उसका अभाव माना जावे तो उसके लिये आप बाह्यार्थ हैं, तब आपका भी अभाव होगा। इस तरह दोनों के अभाव से सर्वशून्यता प्राप्त होगी। यदि पहला आत्मा सत्यार्थ है, तो घट आदि पदार्थ भी सत्यार्थ क्यों नहीं हो सकते ?

यहां **कोई पुन: कहता है –** इन्द्रिय ज्ञान तो बाह्य पदार्थों का अवलम्बन करता है तथा स्मरण आदि तो निरालंबन हैं।

उससे कहते हैं – स्मरण आदि अनुभव पूर्वक प्रवर्तते हैं, अत: निरालंबन नहीं हैं। तथा श्रुतज्ञान है वह भी अर्थालंबन रूप है, क्योंकि श्रुतज्ञान वस्तु को जानकर यदि उस वस्तु में प्रवर्तता है, तब बाधा नहीं है। यदि श्रुतज्ञान गोचर वस्तु में बाधा नहीं है, वह श्रुतज्ञान तो वस्तु के आलंबनस्वरूप सत्यार्थ है। तथा जहां बाधा हो वह श्रुतज्ञान नहीं श्रुताभास है।

आगे मति श्रुतज्ञान के तुरन्त बाद जो कहा गया है, उस अवधिज्ञान के विषय का नियम क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। रूपिष्ववधेः ।। 1–27 ।।

अर्थ :– अवधिज्ञान के विषय नियम से रूपी पदार्थ हैं । इस सूत्र में विषय निबंध की अनुवृत्ति पिछले सूत्र से कर लेनी चाहिये । तथा रूपी कहने से पुद्गल द्रव्य समझना चाहिये, तथा पुद्गल द्रव्य से सम्बन्ध वाला जीवद्रव्य समझना । तथा इसके विषय का नियम रूपी में ही है, ऐसा कहने से अरूपी द्रव्य इसके विषय नहीं है, ऐसा समझना । तथा रूपी द्रव्य की भी अपने योग्य कुछ पर्यायें ही हैं, सब पर्यायें इसका विषय नहीं हैं ।

आगे इसके तुरन्त बाद जो मन:पर्ययज्ञान कहना योग्य है, उसका विषय क्या है ? सो पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य ।। 1–28 ।।

अर्थ :– सर्वावधिज्ञान के विषय में अनन्त का भाग देने पर प्राप्त सूक्ष्म पुद्गल स्कंध मन: पर्ययज्ञान के विषय का नियम है । जितने रूपी द्रव्य को सर्वावधिज्ञान का विषय कहा था, उसका अनन्तवां भाग किया, तब प्राप्त एक भाग में मन:पर्ययज्ञान प्रवर्तता है । यहां ऐसा समझना कि परमावधिज्ञान के विषयभूत पुद्गल स्कंध में अनन्त का भाग दिया, तब एक परमाणु मात्र सर्वावधिज्ञान का विषय होता है, तथा उसमें अनन्त का भाग देने पर ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का विषय होता है । तथा उसमें भी अनन्त का भाग देने पर विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का विषय होता है ।

यहां कोई **प्रश्न** करता है – सर्वावधिज्ञान का विषय तो एक परमाणु बताया, इसमें अनन्त का भाग देना कहा, तब एक परमाणु का भाग कैसे होगा (परमाणु तो अविभागी है)?

यहां **उत्तर** यह है – एक परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उनके घटने–बढ़ने की अपेक्षा अनन्तवां भाग संभव है । जिस परमाणु को अवधिज्ञान ने जाना उसके अनन्तवें भाग को मन:पर्यय ज्ञान जानता है तथा एक परमाणु मात्र स्कंध भी होता है, उसमें सूक्ष्मभाव रूप परिणमित अनन्त परमाणु होते हैं । इस अपेक्षा भी अनन्तवां भाग संभव है । यहां स्वयोग्य कुछ पर्यायसहित पुद्गल स्कंध (पुद्गल की कुछ पर्यायें) समझना । सर्वद्रव्य पर्याय भी इसके विषय नहीं हैं ।

आगे अन्त में कहे केवलज्ञान के विषय का नियम क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।। 1–29 ।।

अर्थ :– केवलज्ञान के विषय का नियम सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायें हैं । यहां द्रव्य और पर्याय इन दोनों में इतरेतरयोग नामक द्वंद समास की प्रवृत्ति करना । तब 'सर्व' शब्द को तो दोनों के साथ

लगाना । तब ऐसा अर्थ हुआ कि सर्व द्रव्य तथा सर्व पर्यायों को विषय करने का नियम है । तहां जीवद्रव्य तो अनन्तानन्त हैं, तथा पुद्गल द्रव्य अणु स्कंध के भेद से जीवद्रव्य से अनन्तानन्त गुणे हैं । धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक एक ही हैं, अत: तीन ही हैं । तथा कालद्रव्य के कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं । उन सब द्रव्यों की अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायें अलग-अलग अनन्तानन्त हैं । उन सर्व द्रव्य, सर्व पर्यायों के समूह में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो केवलज्ञान का विषय न हो, क्योंकि यह ज्ञान अपरिमित माहात्म्य वाला है । ऐसा ज्ञान कराने के लिये ही सर्वद्रव्यपर्याय विषय स्वरूप केवलज्ञान है, ऐसा कहा है । यहां यह विशेष अर्थ समझना कि कुछ अन्यवादी ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ पुरुष आत्मा ही को जानते हैं, इससे अन्य कोई पदार्थ नहीं है । ऐसा कहने वाले के निषेध के लिये सर्व को जानते हैं – ऐसा कहा है ।

तथा द्रव्य को बहुवचन में कहने से बहुत द्रव्यों की सिद्धि हुई तथा पर्याय शब्द को भी बहुवचन में कहने से, कुछ वादी वर्तमान पर्याय को जानने वाले को ही सर्वज्ञ कहते हैं, उसका निषेध होता है। तथा यदि सर्वद्रव्य का ज्ञाता न हो तो सर्व के उपकार रूप उपदेश कैसे प्रवर्ते (ऐसे उपदेश की आवश्यकता क्या और क्यों होगी)? धर्म, अधर्म का स्वरूप अतिसूक्ष्म होने से सर्व के ज्ञाता के बिना धर्म, अधर्म का यथार्थ स्वरूप कैसे जानेगा ? तथा जीवों में ज्ञान की हीनाधिकता दिखती है, इससे भी यह ही जाना जाता है कि किसी जीव के ज्ञान उत्कृष्ट (अधिकतम) भी होगा । इसप्रकार अनुमान से केवलज्ञान का स्वरूप सिद्ध होता है । ऐसा यह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना सर्वद्रव्यपर्यायों को एक काल में जानता है – ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है । उस ही को वीतरागता और निर्दोषपना संभव है। तथा उसी से हेय-उपादेय का यर्थाथ उपदेश प्रवर्तता है – ऐसा निश्चय करना ।

आगे पूछते हैं कि मति आदि ज्ञानों का विषय नियम तो बताया, परन्तु यह नहीं बताया कि एक आत्मा में एक काल में अपने-अपने निमित्तों के निकट होने पर कितने ज्ञान हो सकते हैं ? ऐसा प्रश्न होने कर सूत्र कहते हैं –

।। एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्य: ।। 1-30 ।।

अर्थ :- एक आत्मा में एक काल में एक, दो, तीन, चार तक ज्ञान भजनीय हैं (हो सकते हैं)। यहां एक शब्द संख्यावाची है । आदि शब्द अवयववाची है । जिसके आदि में एक है वे एकादीनि, इस तरह समास है । भाज्यानि अर्थात् भेद (विभाग) करना चाहिये । युगपत् अर्थात् एक काल में । एकस्मिन् अर्थात् आत्मा में । आ चतुर्भ्य: अर्थात् चार तक होते हैं । यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान ही होता है, इसके साथ कोई भी क्षयोपशमिक ज्ञान नहीं होता । दो ज्ञान हों तो मति और श्रुत ज्ञान होते हैं । तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान

होते हैं । चार ज्ञान हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान होते हैं । पांचों ज्ञान एककाल में (एक आत्मा को) कभी नहीं होते, क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक और असहाय (जिसे किसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं होती) रूप है ।

प्रश्न :– क्षायोपशमिक ज्ञान तो एक काल में एक ही प्रवर्तता है, यहां चार कैसे कहे ?

उत्तर :– ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर एक काल में चार ज्ञानों की जानने की शक्ति लब्धिरूप में होती है । इनका उपयोग तो एककाल में एक का ही होता है । उनकी एक ज्ञेय में उपयुक्त होने की अपेक्षा स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही कही गयी है । बाद में (उपयोग) ज्ञेयान्तर से उपयुक्त हो जाता है । जिन-जिन (ज्ञानों) का क्षयोपशम होता है, वे एक ही काल में लब्धि रूप होते हैं ।

यहां **कोई कहता है –** उपयोग की अपेक्षा भी सांकली के भक्षण करने पर रूप आदि पांचों का ज्ञान, एक ही काल में होता दिखाई देता है । सांकली का वर्ण दिखता है, स्वाद लेता है, उसकी गंध भी आती ही है, स्पर्श से चिकनापन आदि भी जानता ही है, और भक्षण करते शब्द होता हैं, उसे भी सुनता ही है । इस तरह एककाल में पांचों का ज्ञान भी देखा जाता है ।

उससे कहते हैं – यहां उपयोग के शीघ्रता से फिरने (घूमने) के कारण काल भेद नहीं जान पाता है । जैसे कमल के दो चार पत्रों में सूंई का प्रवेश कराने पर कालभेद जानने में नहीं आता, पर काल भेद तो है ही । इसी प्रकार यहां जानना ।

आगे ऊपर कहे जो ज्ञान हैं वे ज्ञान ही नाम पाते हैं कि अन्यथा भी है ? ऐसा प्रश्न होने कर सूत्र कहते हैं –

।। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।। 1– 31 ।।

अर्थ :– मति, श्रुत और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान विपर्यय स्वरूप भी होते हैं । तथा 'च' शब्द से सम्यक् भी होते हैं । यहां सम्यक् का अधिकार है, अत: विपर्यय का अर्थ मिथ्या है । 'च' शब्द समुच्चय रूप अर्थ में आया है – विपर्यय भी है, सम्यक् भी है, इस तरह मिला कर कहा है ।

यहां **कोई पूछे –** इनके विपर्यय किससे होता है ?

उससे कहते हैं – मिथ्यादर्शन का उदय होने पर उससे सहित एक आत्मा में समवाय रूप एकता होती है, अत: विपर्यय कहा जाता है । जैसे कडुवा गिरी सहित तूंबा हो उसमें दूध डाला जावे तो वह दूध भी कडुआ हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदय के साथ होने वाले ज्ञान को भी मिथ्या कहा जाता है । यहां इतना विशेष जानना कि विपर्यय कह कर मिथ्याज्ञान कहा, वहां संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय – तीनों को लेना । तथा 'च' शब्द से भी इनका समुच्चय होता है । वहां मति, श्रुतज्ञान में तो तीनों होते हैं, क्योंकि संशय इन्द्रिय और मन से ही उत्पन्न होता है । यह स्थालु है अथवा

पुरुष है, ऐसा संशय का स्वरूप है । अत: यह सामान्य को देखे, उसके विशेष को न देखे इसलिये तथा दो विषय के स्मरण से होता है । तथा अवधिज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय मन का व्यापार है नहीं, अत: वह संशय स्वरूप नहीं है । तथा दृढ उपयोग की अवस्था में इसके विपर्यय कहा जाता है, वह मिथ्याज्ञान के सद्भावपने से होता है । तथा उपयोग के शीघ्र संकोचन से किसी काल अनध्यवसाय स्वरूप भी होता है । इस प्रकार इसके दो ही (विपर्यय और अनध्यवसाय) होते है, संशय नहीं होता।

यहां **कोई प्रश्न करे** – कडुये तूंबे में तो आधार के दोष से दूध कडुआ होता है, ज्ञान में तो विषय का ग्रहण सम्यक् में और मिथ्या में समान होता है । जैसे मिथ्यादृष्टि नेत्र आदि से मतिज्ञान द्वारा रूपादि को देखता है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी देखता है । तथा जैसे सम्यक्दृष्टि श्रुतज्ञान से रूप आदि को जानता है, तथा अन्य को बताता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञान से जानता है, तथा अन्य को कहता है । तथा अवधिज्ञान से सम्यक्दृष्टि जिस प्रकार रूपी पदार्थों को जानता है, उस ही प्रकार मिथ्यादृष्टि विभंगज्ञान से जानता है । उसके उत्तर स्वरूप सूत्र कहते हैं –

।। सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।। 1–32 ।।

अर्थ :– मिथ्यादृष्टि को विपर्यय होता है, वह 'सत्' तथा 'असत्' के विशेष न जानने के कारण, अपनी इच्छा से जैसा–तैसा (कुछ भी, कैसा भी) ग्रहण करने से होता है । जैसे मदिरा आदि से उन्मत्त हुआ पुरुष अपनी इच्छा से वस्तु को जैसा–तैसा ग्रहण करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विद्यमान तथा अविद्यमान, भली अथवा बुरी का विशेष जाने बिना अपनी इच्छा से ग्रहण करता है । यहां 'सत्' तो विद्यमान वस्तु को कहते हैं, और 'असत्' अविद्यमान को कहते हैं । इन दोनों का अविशेषण अर्थात् विशेष न करे, कभी विद्यमान को अविद्यमान कहे, कभी विद्यमान को विद्यमान भी कहे, कभी अविद्यमान को विद्यमान कहे, कभी अविद्यमान को अविद्यमान भी कहे, इस प्रकार अपनी इच्छा से जैसा–तैसा ग्रहण करके कथन करता है, वहां विपर्यय कहा जाता है । जैसे रूपादि वस्तु विद्यमान हो तो भी कहे नहीं है, कभी अविद्यमान को भी कहा कि है विद्यमान है । कभी है, उसे है भी कहे, कभी अविद्यमान को अविद्यमान भी कहे, इसप्रकार मिथ्यादर्शन के उदय से अन्यथा निश्चित करते (मानता, कहता) है । जैसे पित्तज्वर से आकुलित चित्तभ्रम वाला व्यक्ति किसी समय को माता को पत्नि कहता है, कभी पत्नि को माता कहता है, कभी माता को माता भी कहता है, कभी पत्नि को पत्नि भी कहता है, इस प्रकार अपनी इच्छा के अनुरूप मानता है । उसी प्रकार जैसा है, उसे वैसा भी कहे तो भी उसे सम्यक्ज्ञान नहीं है ।

इसप्रकार मति आदि ज्ञान में भी यदि घट पट आदि को (मिथ्यादृष्टि जीव) जैसे का तैसा भी माने तो भी विपर्यय ही समझना । वही बताते हैं – किसी आत्मा में मिथ्यादर्शन के उदय से परिणाम होता

हैं, वह रूप आदि का ज्ञान नेत्र आदि का द्वारा जैसे का तैसा भी हो, तो भी उसमें कारण विपर्यय, भेदाभेदविपर्यय, स्वरूपविपर्यय – ये तीन विपर्यय उत्पन्न करता है। यहां पहले **कारणविपर्यय** का कथन करते हैं – नेत्र के द्वारा रूप आदि को देखा तब दिखा तो जैसा का तैसा, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उसका कारण अन्यथा कल्पित करता है। जैसे ब्रह्माद्वैतवादी कहता है – रूप आदि का कारण एक अमूर्तिक नित्य ब्रह्म ही है, ब्रह्म से ही हुये हैं। सांख्यमति कहता है – रूप आदि का कारण अमूर्तिक नित्य है, प्रकृति से उत्पन्न हुये हैं। नैयायिक वैशेषिक मति कहते हैं – पृथ्वी आदि जाति भेद वाले (भिन्न-भिन्न) परमाणु हैं, उनमें से पृथ्वी में तो स्पर्श आदि चार गुण हैं। जल में गंध को छोडकर तीन गुण हैं, अग्नि में स्पर्श, वर्ण ये दो ही गुण हैं, वायु में एक स्पर्श गुण ही है। इस प्रकार चारों ही अपनी-अपनी जाति के स्कंधरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं। बौद्धमति कहता है – पृथ्वी आदि चार भूत हैं, इनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार भौतिक धर्म हैं। इन आठों के समुदायरूप परमाणु होता है, जिसे अष्टक नाम से कहा जाता है। तथा चार्वाकमति कहता है – पृथ्वी, अप, तेज, वायु – ये चार काठिन्य आदि गुण तथा द्रव्यत्व आदि ऊष्णत्व आदि गुणरूप जातिभेदों सहित परमाणु है वह पृथ्वी आदि स्कंधों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कारण में विपर्यय होता है।

तथा **भेदाभेद विपर्यय** इस प्रकार है – कारण से कार्य सर्वथा भिन्न ही है, जैसे पृथ्वी आदि परमाणु नित्य हैं, उनसे स्कंध रूप कार्य उत्पन्न होता है, वह सर्वथा भिन्न ही है, ऐसा कथन करते हैं। तथा गुण से गुणी भिन्न ही है, ऐसा कहते हैं। तथा कारण से कार्य सर्वथा अभिन्न ही है। जैसे घट-पट आदि, ग्राम, पर्वत आदि ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, वे ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अलग नहीं है। इत्यादि भेदाभेद विपर्यय है। जहां भेद हो वहां अभेद की कल्पना, जहां अभेद हो वहां भेद ही की कल्पना करना, इस प्रकार विपर्यय है।

तथा **स्वरूप विपर्यय** – जैसे रूप आदि हैं वे निर्विकल्प निरंश हैं, इनमें अंश भेद नहीं है। तथा रूप आदि बाह्यवस्तु हैं ही नहीं, तदाकार परिणमित ज्ञान ही है, उसके अवलंबन रूप बाह्यवस्तु नहीं है। इत्यादि अन्य भी (स्वरूप विपर्यय) बहुत हैं। वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान से विरूद्ध हैं, तथा मिथ्यादर्शन के उदय के कारण कल्पित होते हैं, उनमें श्रद्धान प्रतीति उत्पन्न करते हैं। अत: उनके ये मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान होते हैं। तथा सम्यक्दर्शन यथार्थ वस्तु में श्रद्धान, रुचि, प्रतीति उत्पन्न करता है, अत: उनके (सम्यक्दृष्टियों के) ये ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान होते हैं। यहां इतना विशेष है कि विपर्यय दो प्रकार का होता है – (1) आहार्य विपर्यय (2) सहज विपर्यय। उनमें मतिअज्ञान तथा श्रोत्र इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों पूर्वक हुआ श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान ये तो सहज विपर्यय हैं, क्योंकि ये अन्य के उपदेश के बिना स्वयमेव प्रवर्तित होते हैं। तथा श्रोत्रमतिज्ञान

पूर्वक श्रुतज्ञान है वह आहार्य विपर्यय है, क्योंकि यह पर के उपदेश से प्रवर्तता है, सत् में असत् का ज्ञान परोपदेश से प्रवर्तित होता है । वही बताते हैं - स्वरूप से सर्ववस्तुयें सत्स्वरूप हैं, तथापि शून्यवादी असत् स्वरूप ही कहता है तथा ग्रहण करने योग्य वस्तु का तथा ग्रहण करने वाला ज्ञान- दोनों स्वरूप से सत्रूप है, तो भी संवेदनाद्वैतवादी एक संवेदन को ही सत् कहता है, अन्य को असत् ही कहता है । तथा चित्राद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी भी ऐसा ही कहते हैं । तथा बाह्य पदार्थ भिन्न हैं, उनको एक विज्ञानांड की कल्पना करते हैं । तथा बाह्यतरंग पदार्थ सादृश्य भी हैं उनको सर्वथा विसदृश्य ही कहते हैं । तथा विसदृश्य को सर्वथा सदृश्य ही कहते हैं । तथा द्रव्य होने पर भी पर्याय मात्र ही कहते हैं, पर्याय के होते हुये भी द्रव्यमात्र ही कहते हैं । तथा द्रव्य और पर्याय अभेद होने पर भी भेदरूप ही कहते हैं, तथा अवक्तव्य ही कहते हैं । तथा ध्रौव्यरूप होने पर भी उत्पाद-व्यय रूप ही कहते हैं । इसी प्रकार विशेष अपेक्षा जीव के होने पर भी जीव की नास्ति कहना, अजीव के होने पर भी उसका असत्व कहना, कर्म का आस्रव होने पर भी उसका अभाव कहना, उसी प्रकार संवर, निर्जरा, मोक्ष के होने पर भी उनका असत्व कहना । इस ही प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों के होने पर भी उनका अभाव कहना । इत्यादि अनेक प्रकार की विद्यमान वस्तु को अविद्यमान कहना, तथा अनेक प्रकार से जानना । तथा अविद्यमान वस्तु को विद्यमान कहता, जैसे पर रूप आदि (पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा) वस्तु असत् है तो भी उसको सर्वथा सत्रूप कहना । इत्यादि पहले जैसे कहे हैं, उनसे उल्टा जानना ।

तथा देशकाल स्वभाव से जो पदार्थ अदृष्ट हैं, उनमें बौद्धमति को संशय है । किसी शून्यवादी के पृथ्वी आदि तत्वों में संशय है । तथा कईयों को सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय है । तथा कईयों को सर्व ही तत्वों में अनध्यवसाय है । वे कहते हैं कि निर्णय किससे करें ? हेतुवाद रूप तर्कशास्त्र हैं वे तो कहीं ठहरते नहीं । आगम हैं वे अलग-अलग हैं । कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है, कोई ठिकाना नहीं है । तथा सर्व का ज्ञाता कोई मुनि प्रत्यक्ष है नहीं जिसके वचन प्रमाण माने जावें । तथा धर्म का यथार्थ स्वरूप सूक्ष्म है, उसका निर्णय कैसे हो ? अत: बड़े जिस मार्ग चलते आये हैं, वैसे ही चलना, प्रवर्तना चाहिये, निर्णय तो कुछ हो पाता नहीं है । इस प्रकार अनध्यवसाय है ।

इस ही प्रकार मतिअज्ञानरूप बिना उपदेश के ही सहज विपर्यय होता है । उसके भेद अवग्रह आदि तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क हैं । स्वार्थानुमान से पदार्थ को अन्यथा ग्रहण करने से विपर्यय होता है । यह स्वार्थानुमान विपर्ययरूप हेत्वाभास चार प्रकार का है - (1) असिद्ध (2) विरूद्ध (3) अनेकांतिक (4) अकिंचित्कर । इनका स्वरूप परीक्षामुख, न्यायदीपिका आदि ग्रन्थों से जानना ।

तथा शास्त्रों का अर्थ करने में भी विपर्यय होता है, जैसे कोई तो नियोग को वाक्यार्थ कहता है,

कोई भावना को वाक्यार्थ कहता है, कोई धात्वार्थ को वाक्यार्थ कहता है, कोई विधि को वाक्यार्थ कहता है, कोई यंत्रारूढ को वाक्यार्थ कहता है, कोई अन्यापोह अर्थात् निषेध को वाक्यार्थ कहता है। इत्यादि वाक्यार्थ में विपर्यय है। इनकी चर्चा श्लोकवार्तिक तथा देवागम स्तोत्र की अष्टसहस्त्री नामक टीका में है, वहां से समझना। तथा अवधिज्ञान में विपर्यय केवल देशावधिज्ञान में ही होता है। परमावधि, सर्वावधि तथा मन:पर्ययज्ञान हैं, वे जैसा केवलज्ञान विपर्ययरूप नहीं होता, वैसे ही विपर्यय स्वरूप नहीं है, क्योंकि ये ज्ञान सम्यक्दर्शन के बिना होते ही नहीं हैं। इस प्रकार प्रमाण और अप्रमाण का भेद बताने के लिये विपर्यय रूप ज्ञान का स्वरूप कहा है।

आगे परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान को ही प्रमाण कहा है, तथा 'प्रमाणनैयरधिगम:' उपरोक्त सूत्र में प्रमाण के एक देश जो नय हैं, उनका प्रमाण के अनन्तर केवल नाम मात्र कहा है, उनका निर्देश कीजिये ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया : ।। 1–33 ।।

अर्थ :– (1) नैगम (2) संग्रह (3) व्यवहार (4) ऋजुसूत्र (5) शब्द (6) समभिरूढ (7) एवंभूत – इन नामों वाले सात नय हैं। इनका सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण बताने योग्य है। अनेक धर्मस्वरूप वस्तु में अविरोध हेतु की मुख्यता से साध्य के विशेष का यथार्थ स्वरूप प्राप्त करने के लिये व्यापार रूप प्रयोग करना – यह नय का सामान्य लक्षण है।

यहाँ **कोई कहता है** – नय का जो सामान्य लक्षण कहा वह हेतु रूप ही हुआ, क्योंकि साध्य को प्राप्त करे वह ही हेतु (कहा जाता) है।

उसे कहते हैं – हेतु तो जिस साध्य को साधता है, उसी में रहता है (उसी का होता है) तथा लक्षण हो तो वह सर्व नयों में व्याप्त है, अत: सामान्य लक्षण को हेतु नहीं कहा जा सकता।

पुन: **कोई कहता है** – एक धर्म का दूसरे धर्म से विरोध है। अत: धर्म के ग्राहक नयों में भी विरोध है, वहाँ अविरोध कैसे होगा ?

उससे कहते हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित सर्वथा एकान्त को ग्रहण करना तो विरूद्ध रूप है – वह तो नयाभास है। तथा वस्तु के धर्म को कथंचित् प्रकार अनेकान्त स्वरूप ग्रहण करने वाले सर्व नय समान धर्मरूप हुये, उनमें विरोध क्या है ? जैसे साध्य वस्तु का समानधर्मरूप दृष्टान्त कहा जावे, उसमें विरोध नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी अविरोध है। इसका उदाहरण– जैसे सर्व वस्तु सद्रूप हैं, क्योंकि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सहित हैं।

ये नय संक्षेप में दो प्रकार के हैं – (1) द्रव्यार्थिक (2) पर्यायार्थिक। यहाँ द्रव्य, सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति ये सब एक ही अर्थवाले हैं। ऐसा द्रव्य जिसका विषय हो वह द्रव्यार्थिक नय है।

पर्याय, विशेष, अपवाद तथा व्यावृत्ति ये सब भी एक ही अर्थ वाले हैं। ऐसा पर्याय जिसका विषय हो वह पर्यायार्थिक नय है। (ऊपर कहे) नैगम आदि नय इन दोनों के ही भेद हैं। इनमें से नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन नय तो द्रव्यार्थिक नय हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत - ये चार नय पर्यायार्थिक हैं। उनमें भी नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ये चार नय तो अर्थ (वस्तु) को प्रधान करके वर्तते हैं, अत: अर्थनय कहे जाते हैं, और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन नय शब्द को प्रधान करके वर्तते हैं, अत: इन्हें शब्दनय कहा जाता है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है - पर्यायार्थिक नय तो कहा, तब गुणार्थिक नय क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : सिद्धान्त में पर्याय सहभावी और क्रमभावी दो प्रकार की कही गयी हैं। वहाँ सहभावी पर्याय को ही गुण कहा जाता है। क्रमभावी को पर्याय नाम से कहा जाता है। अत: पर्याय कहने से इसमें गुण भी समझ लेना चाहिये। विस्तार से ये सात नय कहे हैं। अतिविस्तार से तो नय संख्यात हैं, क्योंकि शब्द के जितने भेद हैं, उतने ही नय कहे (हो सकते) हैं।

अन्यमती बौद्ध ने तो विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, रूप - ये पांच स्कंध कहे हैं। तथा नैयायिक प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, सहेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान - ये सोलह पदार्थ कहता है। वैशेषिक - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव - ये सात पदार्थ कहता है। तथा सांख्य एक तो प्रकृति तथा प्रकृति के विकार (1) प्रधान (2) अहंकार (3 से 7) पांच कर्मेन्द्रियां (8 से 12) पांच ज्ञानेन्द्रियां (13) मन (14 से 18) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द -ये पांच तन्मात्रायें (19 से 23) पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश - ये पांच पंचभूत - इस तरह तेबीस को प्रकृति के विकार, तथा एक निर्विकार पुरुष - इस तरह पच्चीस (प्रकृति, 23 विकार, निर्विकार पुरुष) तत्त्व कहता है। ये सभी द्रव्य पर्याय सामान्य में अन्तर्भूत हैं। कथंचित् वस्तुधर्म हैं, अत: सुनय के विषय हैं। पर अन्यवादी इनकी सर्वथा एकान्त अभिप्राय से कल्पना करते हैं। उनका वह अभिप्राय मिथ्या है, ऐसा जानना।

आगे उपरोक्त नयों के विशेष लक्षण कहते हैं - पहले **नैगम नय** का कथन करते हैं। अपने सन्मुख वर्तमान काल में पूर्णता वाली वस्तु न होने पर भी अपने ज्ञान में उसकी कल्पना कर लेना कि 'यह वस्तु इस वर्तमान काल में है' ऐसे संकल्प को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नैगम नय है। उदाहरण- जैसे कोई पुरुष कुल्हाडी लिये चलते हुये पुरुष से पूछे -किस कार्य से जा रहे हो ? तब वह उत्तर देता है -' मैं प्रस्थ (जलाने के लिये लकड़ियां) लेने जा रहा हूँ '। यहाँ उसके निकट बना हुआ प्रस्थ (काटी हुई लकडियां) विद्यमान नहीं हैं, जाकरके लकडियां काटकर प्रस्थ बनावेगा, तब होगा। परन्तु उसके मन में /ज्ञान में प्रस्थ का संकल्प विद्यमान है, यह ही इस नैगम नय का विषय है। यहाँ

प्रस्थ परिणाम विशेष का नाम है, धान्य तोलने के लकडी के पाई, माणी इत्यादि बने, उनका नाम प्रस्थ है, तथा इसका अर्थ लकडी का भार (समूह) भी किया जाता है।

(दूसरा उदाहरण) कोई पुरुष ईंधन, जल आदि सामग्री एकत्रित कर रहा था। उसे किसी ने पूछा – आप क्या कर रहे हैं ? तब उसने कहा – 'मैं भात पका रहा हूँ'। तब वहाँ भात पकती अवस्था वर्तमान तो नहीं है, भात पकेगा तब होगी। तथापि उस भात पकाने का व्यापार (उद्यम) करते, भविष्य में (कुछ समय बाद) भात पकेगा, यह संकल्प उसके ज्ञान में विद्यमान अनुभव गोचर है। वह संकल्प नैगम नय का विषय है। इस ही प्रकार बिना बनी, दूर क्षेत्र, काल में वर्तती वस्तु के संकल्प को यह नैगम नय अपना विषय बनाता है।

यहाँ **कोई प्रश्न करता हैं** – आगामी होने वाली वस्तु को वर्तमान में कहा, यह तो उपचार हुआ।

उससे कहते हैं – इस नय में बाह्य वस्तु की मुख्यता नहीं है, अपने ज्ञान का संवेदन रूप संकल्प विद्यमान है, जो इस नय का विषय है। उपचार मात्र नहीं है।

तथा इस नय का विषय एक ही धर्म नहीं है, अनेक धर्मों का संकल्प है, इसलिये भी इसे नैगम कहा जाता है। दो धर्म तथा दो धर्मी तथा एक धर्मी एक धर्म इस तरह अनेक प्रकार से संकल्पों से (को ग्रहण करने के कारण) इसके अनेक भेद हैं।

यहाँ **कोई कहे** – इस तरह तो दोनों का ग्रहण करने से यह (नय न होकर) प्रमाण ही हुआ।

उसे कहते हैं – प्रमाण तो दोनों को प्रधान करता है, पर यह नैगम नय दोनों में से एक को प्रधान करता है, एक को गौण करता है, ऐसा विशेष (अन्तर) जानना।

इस नैगम नय के तीन भेद हैं (1) द्रव्य नैगम नय (2) पर्याय नैगम नय (3) द्रव्य पर्याय नैगम नय। द्रव्य नैगम नय के भी दो भेद हैं (1) शुद्ध नैगम नय (2) अशुद्ध नैगम नय। एवं पर्याय नैगम नय के भी तीन भेद हैं (1) अर्थपर्याय नैगम नय (2) व्यंजनपर्याय नैगम नय (3) अर्थव्यंजन पर्याय नैगम नय। और द्रव्यपर्यायनैगम नय के चार भेद हैं (1) शुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगम नय (2) अशुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगम नय (3) शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम नय (4) अशुद्धद्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम नय। इस तरह नैगम नय का कुल नव (9) भेद हुये। उदाहरण – संग्रह नय का विषय सत्मात्र शुद्ध द्रव्य है, उसे यह नैगम नय संकल्प करता है। समस्त वस्तु सन्मात्र द्रव्य है – ऐसा कहा जावे वहाँ सत् तो विशेषण हुआ, अत: गौण है, तथा द्रव्य विशेष्य है अत: मुख्य है, यह शुद्ध द्रव्य नैगम नय है। तथा जो पर्यायवान है वह द्रव्य है, तथा गुणवान है वह द्रव्य है, व्यवहार नय इस प्रकार भेद करके कथन करता है, जिसे यह नैगम नय संकल्प करता है। यहाँ पर्यायवान और गुणवान ये तो विशेषण हुये अत: गौण

हैं, और द्रव्य विशेष्य हुआ अत: मुख्य है, यह अशुद्धद्रव्य नैगम नय हुआ । तथा प्राणी को सुखसंवेदन है वह क्षणस्थाई हैं, इस तरह क्षणध्वंसी तो सत्ता की अर्थ पर्याय है, वह विशेषण है और सुख है यह संवेदन की अर्थ पर्याय है, यह विशेष्य हुआ, अत: मुख्य है, अत: यह अर्थपर्याय नैगम नय हुआ । तथा पुरुष में चैतन्य है वह सत् है, यहाँ सत् नामक व्यंजन पर्याय है यह विशेषण है और चैतन्य नामक व्यंजन पर्याय विशेष्य है, अत: मुख्य है, यह व्यंजन पर्याय नैगम नय है । तथा धर्मात्मा में सुखजीवीपना है । यहाँ सुख तो अर्थ पर्याय है वह तो विशेषण है, तथा जीवित व्यंजन पर्याय विशेष्य है अत: मुख्य है । यह अर्थव्यंजन पर्याय नैगम नय है । तथा संसार में सत् विद्यमान सुख है यह क्षणमात्र है । यहाँ सत् शुद्धद्रव्य है सो तो विशेषण है, सुख है वह अर्थपर्याय है अत: मुख्य है । यह शुद्धद्रव्य अर्थपर्याय नैगम नय हुआ । तथा विषयी जीव एक क्षण सुखी है, यहाँ जीव है वह अशुद्ध द्रव्य है वह तो विशेष्य है, सुख है वह अर्थपर्याय है वह विशेषण है अत: गौण है । यह अशुद्धद्रव्यअर्थपर्याय नैगम नय हुआ । तथा चित्सामान्य है वह सत् है, यहाँ सत् शुद्ध द्रव्य है, वह तो विशेषण है अत: गौण है, चित् है वह व्यंजन पर्याय है वह विशेष्य है अत: मुख्य है । यह शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम नय है । तथा जीव है वह गुणी है, यहाँ जीव है यह अशुद्धद्रव्य है, जो विशेष्य है अत: मुख्य है, तथा गुण है वह व्यंजन पर्याय है, यह विशेषण है अत: गौण है । यह अशुद्धद्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम नय हुआ । इस तरह नैगम नय के नव (9) भेद है, जो संग्रह आदि छह नयों के साथ मिलकर पन्द्रह हो जाते हैं ।[1]

अब **संग्रह नय** का लक्षण बताते हैं – अपनी एक जाति के अविरोध द्वारा एक प्रकारता के प्राप्त कर, जिनमें भेद पाया जाता है, ऐसे विशेषों को अविशेष कर समस्त वस्तुओं को ग्रहण करे, उसे संग्रहनय कहते हैं । उदाहरण – जैसे 'सत्' इस वचन से तथा ज्ञान के अन्वयरूप चिह्न से अनुमान की गयी सत्ता के आधारभूत सर्व वस्तुओं को अविशेष रूप से संग्रह करे कि सर्व ही सत्ता रूप हैं, ऐसा संग्रह नय होता है । 'द्रव्य' ऐसा कहने पर जो गुणपर्यायों से सहित जीव अजीव आदि भेद और उनके प्रभेद हैं, उन सबका संग्रह होता है । तथा 'घट' ऐसा कहने पर घट का नाम तथा ज्ञान के अन्वय रूप चिह्न से अनुमानित समस्त घटों का संग्रह होता है । इस ही प्रकार अन्य भी, एक जाति की वस्तुओं को एक करके कथन किया जावे, वहाँ संग्रह जानना । सत् कहने से सर्व वस्तुओं का संग्रह हुआ, यह तो शुद्ध द्रव्य कहा जाता है, पर इनका सर्वथा एकान्त (अद्वैत सत् मानना) संग्रहाभास है, कुनय है ।

---

1. इस भाषारुपान्तरण के पृष्ठ 104–105 को स्पष्ट समझने के लिये ज्ञानपीठ द्वारा सन् 1999 में प्रकाशित माइल्लधवलकृत णयचक्को (नयचक्र) के परिशिष्ट 2 पृष्ठ नम्बर 238 से 245 तक देखना चाहिये।

सांख्यमति तो प्रधान को ऐसा कहते हैं (प्रधान ही है अन्य कुछ है ही नहीं, एकान्त से ऐसा मानते हैं)। व्याकरण वाले शब्दाद्वैत कहते हैं। वेदान्ती पुरुषाद्वैत कहते हैं। बौद्धमति संवेदनाद्वैत कहते हैं। ये सब नय एकान्त हैं (एकान्त रूप होने से नयाभास हैं)। (सत्ता मात्र से संग्रह करने वाले) इस नय को परसंग्रह कहते हैं। तथा 'द्रव्य' से सब द्रव्यों का संग्रह करे, पर्याय में सब पर्यायों का संग्रह करे, यह अपरसंग्रह है। इस ही प्रकार जीव में सर्वजीवों का संग्रह करे, पुद्गल में सर्व पुद्गलों को संग्रह करे, घट में सर्व घटों का संग्रह करे, इत्यादि (अपरसंग्रह के उदाहरण) जानना।

आगे **व्यवहार नय** का लक्षण कहते हैं। संग्रह नय से ग्रहण किये गये वस्तुसमूह का विधिपूर्वक व्यवहार अर्थात् भेद करना व्यवहार नय है।

कोई पूछता है – विधि क्या है ?

उससे कहते हैं – संग्रह नय से ग्रहण किये गये पदार्थ से शुरु करके उसके (विशेषों के आधार पर) भेद करना ही विधि है। जैसे संग्रह नय से 'सत्' का ग्रहण किया। यह यदि विशेष की अपेक्षा से रहित होगा तो व्यवहार प्रवर्तेगा नहीं। अत: व्यवहारनय का आश्रय करने पर ऐसा कहना कि सत् कहा वह द्रव्य है अथवा गुण है। इस तरह भेद किये जाने पर व्यवहार प्रवर्तित होता है। तथा 'द्रव्य' का संग्रह नय से ग्रहण किया, तब यदि 'द्रव्य' विशेषों की अपेक्षा से रहित हो, तो व्यवहार प्रवर्तित नहीं होगा, तथा व्यवहार का आश्रय करने पर द्रव्य है वह जीव है तथा अजीव द्रव्य है। इस प्रकार व्यवहार भेद करके प्रवर्तता है। इस ही प्रकार यदि जीव द्रव्य का संग्रह हो तो उसमें देव, नारकी आदि भेद करना, अजीव का संग्रह किया हो तब घट आदि का भेद करना। इस प्रकार यह नय यहाँ तक प्रवर्तित होता चला जाता है, जहाँ फिर विभाजन करना संभव नहीं होता। अत: जहां ऋजुसूत्र नय का विषय शुरु होता है,उसके पहले तक संग्रह और व्यवहार दोनों नय चलते रहते हैं। आगे **ऋजुसूत्र नय** का लक्षण कहते हैं – ऋजु अर्थात् सरल सीधा, सूत्रयति अर्थात् कथन करना। सरल सीधा कथन करने वाले नय को ऋजुसूत्र कहते हैं। यह ऋजुसूत्रनय पूर्व अर्थात् भूतकाल तथा अपर अर्थात् भविष्यकाल, इस तरह तीनों कालों के गोचर भावों का उल्लंघन करके (यह नय) केवल वर्तमान काल की पर्याय मात्र का ही ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत (भूतकाल) तो नष्ट हो चुका है, तथा अनागत (भविष्य) उत्पन्न नहीं हुआ, इनमें तो व्यवहार का अभाव ही है। अत: व्यवहार वर्तमान में ही प्रवर्तता है।

यहाँ **कोई कहता है** – लोक में अतीत और अनागत का भी व्यवहार देखा जाता है, वह कैसे चलता है ?

उससे कहते हैं – इस नय का विषय तो यही है, वह बताया है। तथा लोकव्यवहार तो सभी

नयों के समूह से साधने योग्य है । जहाँ जैसा कार्य हो वहाँ वैसा ही नय ग्रहण करना चाहिये । बौद्धमती इस नय का सर्वथा, एकान्त अभिप्राय करते हैं, द्रव्य का तो लोप करते हैं, वस्तु को क्षणस्थाई ही कहते हैं । उनके यहाँ सर्वव्यवहार के लोप का प्रसंग आता है ।

आगे **शब्द नय** का लक्षण कहते हैं – लिंग, संख्या, साधन इत्यादि के व्यभिचार को दूर करने वाला शब्द नय है । जैसे **लिंग व्यभिचार** – स्त्रीलिंग को पुल्लिंग में कथन करना, जैसे 'तारका' यह स्त्रीलिंग है, उसे 'स्वाति' इस प्रकार पुरुषलिंग में कहना, अथवा पुरुषलिंग को स्त्रीलिंग में कहना – जैसे 'अवगमः' यह पुरुषलिंग है, इसे स्त्रीलिंग में विद्या कहना । अथवा स्त्रीलिंग को नपुंसकलिंग में कहना – जैसे ' वीणा' स्त्रीलिंग है, उसे नपुंसकलिंग में 'आतोद्य' कहना । अथवा नपुंसकलिंग को स्त्रीलिंग में कहना – जैसे 'आयुध' नपुंसकलिंग है, उसे स्त्रीलिंग में शक्ति कहना । अथवा पुरुषलिंग को नपुंसकलिंग में कहना –जैसे 'पट' पुरुषलिंग है, उसे नपुंसकलिंग में 'वस्त्र' कहना । अथवा नपुंसकलिंग को पुरुषलिंग में कहना –जैसे 'द्रव्य' नपुंसकलिंग है, उसे पुरुषलिंग में 'परशु' कहना । अथवा एक ही वस्तु का तीनों लिंगों में कथन करना – जैसे 'तारका'स्त्रीलिंग है उसे ही 'पुष्य' पुरुषलिंग में कहना अथवा नपुंसकलिंग में 'नक्षत्र' कहना । इत्यादि लिंग व्यभिचार है ।

तथा **संख्या व्यभिचार** अर्थात् एकवचन को द्विवचन में कहना –जैसे 'नक्षत्र' एकवचन है उसे द्विवचन से 'पुनर्वसु ' कहना । अथवा एकवचन को बहुवचन से कहना –जैसे 'नक्षत्र' एकवचन है, उसे बहुवचन से 'शतभिषजा' कहना । अथवा द्विवचन को एकवचन से कहना –जैसे 'गौदौ' द्विवचन है, उसे एकवचन से 'ग्राम' कहना । अथवा द्विवचन को बहुवचन से कहना – जैसे 'पुनर्वसु' द्विवचन है उसे बहुवचन से 'पंचतारका' कहना । अथवा बहुवचन को एकवचन से कहना –जैसे 'आम्रा' बहुवचन है, इसे एकवचन से 'वन' कहना । अथवा बहुवचन को द्विवचन से कहना –जैसे 'देवमनुष्या' बहुवचन है, उसे 'उभौ राशी' ऐसे द्विवचन से कहना । वह संख्याव्यभिचार है।

तथा **साधन व्यभिचार**, जिसे पुरुषव्यभिचार भी कहा जाता है –जैसे 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि। नहि यास्यसि । न यातस्ते पिता ' इसका अर्थ – एहि ऐसा मध्यमपुरुष का एकवचन है तथापि इसका 'एमि' ऐसा अर्थ करना, कि मैं जाता हूँ वह । 'मन्ये' यह उत्तमपुरुष का एकवचन है, वहाँ मध्यम पुरुष का 'मन्यसे' कहना कि तू ऐसा मानता है कि मैं 'रथेन' अर्थात् रथ पर चढकर । 'यास्यसि' के स्थान पर 'यास्यामि' कहना कि 'जाऊँगा वह' । 'नहि यास्यसि' अर्थात् नहीं जावेगा, तेरा पिता भी इस प्रकार गया नहीं । भावार्थ – हास्य के प्रसंग में ऐसा कहने में आ जाता है – जो तू ऐसा मानता है कि मैं रथ पर चढकर जाऊँ, तो इस प्रकार (रथ पर चढकर) तेरा पिता भी नहीं गया, तू कैसे जावेगा? वहाँ 'तू' कहने के स्थान पर तो 'हूँ' कहने का शब्द कहा, और हूँ कहने के स्थान पर तू अर्थ वाला

शब्द कहा । इस प्रकार पुरुषव्यभिचार हुआ ।

तथा **काल व्यभिचार** – जैसे 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' इसका अर्थ –जिसने विश्व अर्थात् लोक को देखा, ऐसा पुत्र इसके होगा । 'विश्व को देखा' यह तो अतीत काल वाचक शब्द है, और 'जनिता' शब्द आगामी काल वाचक है । इस प्रकार यहाँ काल व्यभिचार हुआ । तथा 'भाविकृत्यमासीत्' ऐसा कहने पर 'तैं भावि' कहिये होनहार कार्य 'आसीत' अर्थात् हुआ, इस प्रकार यहाँ भी अतीत अनागत काल का व्यभिचार हुआ ।

उपग्रह व्यभिचार – 'तिष्ठति' यह परस्मैपद है, इसका 'संतिष्ठते' 'प्रतिष्ठते' ऐसा बना तथा 'रमते' यह आत्मनेपद धातु है, उसका 'विरमति' 'उपरमति' ऐसा बना । इस तरह उपसर्ग के बल से आत्मनेपद वाले धातु का परस्मैपद वचन हुआ । तथा परस्मैपद वाले धातु का आत्मनेपदी बना । यह उपग्रह व्यभिचार है ।

कारक व्यभिचार – 'सेनापर्वतमधिवसति' यहाँ सेना पर्वत के समीप बसी है, ऐसा आधार है, अत: सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये वहाँ द्वितीय विभक्ति कही । इस प्रकार कारक व्यभिचार हुआ ।

इस प्रकार व्यवहार नय इन्हें अन्याय मानता है (इन्हें स्वीकार नहीं करता है, शब्द नय इन व्यभिचारों को दूर करता है) क्योंकि अन्य अर्थ का अन्य अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता । यदि अन्य अर्थ का अन्य अर्थ से सम्बन्ध हो तो घट का पट हो जावे, पट का महल हो जावे । अत: जैसा लिंग आदि हो वैसा ही (कथन करना) न्याय है ।

यहाँ **कोई कहता है** – लोक में तथा शास्त्र में विरोध आवेगा (लोक में तथा शास्त्र में इन व्यभिचारों वाले कथन मिलते हैं)।

उससे कहते हैं – विरोध आता है तो आने दो, यहाँ तो यथार्थ स्वरूप का विचार किया जा रहा है । रोगी की इच्छा के अनुसार तो औषधी दी नहीं जाती ।

आगे **समभिरूढ नय** का लक्षण कहते हैं – नाना अर्थों के समभिरोहण अर्थात् प्राप्त होने से समभिरूढ है, क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से किसी एक अर्थ को ही ग्रहण कर (उस शब्द को) उस ही एक अर्थ में प्रयोग किया जाता रहे – जैसे 'गौ' शब्द वचन आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, फिर भी 'गाय' नामक पशु को ग्रहणकर उसे ही 'गऊ' कहा जाना । अथवा शब्द का कथन अर्थगति के लिये है । वहाँ एक अर्थ (वस्तु) का एक ही शब्द से गतार्थपना है, अत: उसका दूसरे पर्याय शब्द कहना निष्प्रयोजन है ।

यहाँ **कोई कहता है** – शब्द का तो भेद है ।

उससे कहते हैं – अर्थभेद भी अवश्य होना चाहिये ।

इस प्रकार यह समभिरूढ नय नाना अर्थों में प्राप्त होता है, अत: समभिरूढ है। जैसे इंदनात् अर्थात् परमैश्वर्यरूप क्रिया करे तब इन्द्र है। शकनात् अर्थात् समर्थरूप से वर्ते तब शक है। पूर्दारणात् अर्थात् पुर (नगर) के विदारण (नष्ट करने) की क्रियारूप प्रवर्ते तब पुरन्दर है। इस प्रकार यह समभिरूढ नय, एक ही अर्थ को ग्रहण करके प्रवर्तता है। अथवा जो जहाँ प्राप्त हो वहाँ ही प्राप्त होकर वर्तता है, अत: समभिरूढ है –जैसे किसी ने किसी से पूछा – तू कहाँ रहता है ? यह कहता है – मैं मेरे आत्मा में रहता हूँ – इस प्रकार भी यह समभिरूढ है, क्योंकि अन्य का अन्य में प्रवर्तना होता नहीं है। यदि अन्य की अन्य में प्रवृत्ति हो तो ज्ञान आदि की तथा रूप आदि की आकाश में भी प्रवृत्ति हो, जो होती नहीं है।

आगे **एवंभूत नय** का लक्षण कहते हैं – जो वस्तु जिस स्वरूप से हो उस ही स्वरूप से निश्चय करावे, वह एवंभूत है। जिस वस्तु को जिस नाम से कहा जाये, उसी अर्थ की क्रियारूप परिणमित हो उसी काल में उस वस्तु को उस नाम से कथन करे, अन्य काल में अन्य परिणतिरूप परिणमन होने से उस नाम से न कहना। जैसे इन्द्र को इन्द्र नाम से तभी कहे जब वह परमैश्वर्यरूप क्रिया करता हो, अभिषेक करते हुये को अथवा पूजा करते हुये को इन्द्र न कहना। तथा जिस काल गऊ गमन करे, उसी काल उसे गऊ कहना, बैठी हुई गाय को गऊ न कहना, सोती हुई गाय को गऊ न कहना। अथवा जिस स्वरूप से जिसका ज्ञान तदाकार हुआ हो उसी स्वरूप से निश्चय करावे, जैसे जब ज्ञान इन्द्र के आकार रूप परिणमित हुआ हो, अथवा ज्ञान अग्नि के आकार रूप परिणमित हुआ हो, उस ज्ञान सहित आत्मा को इन्द्र अथवा अग्नि कहना।

यहाँ **कोई कहता है** – नाम क्रिया परिणमित हुये का ही कथन करे, तो नाम का कारण तो जाति, गुण, द्रव्य भी हैं, इनका कथन क्यों नहीं किया ?

उससे कहते हैं – जाति आदि के आधार पर जितने नाम हैं, वे सब ही क्रिया में अन्तर्भूत हैं, उनकी बिना क्रिया के निष्पत्ति नहीं है। जैसे 'अश्व' शब्द जातिवाचक है, वह भी शीघ्र गमनरूप क्रिया करे उसे 'अश्व' कहा जाता है, इस प्रकार क्रियावाची होता है। तथा 'दंडी' यह संयोगी द्रव्यवाची है, वह भी दंड जिसके पास हो, उसे दंडी कहते हैं, इस प्रकार क्रियावाची होता है। तथा शुक्ल यह गुणवाची है, यह भी शुचि क्रियारूप परिणमित हो उसे शुक्ल कहते हैं, इस प्रकार क्रियावाची होता है। तथा 'विषाणी' यह समवाय द्रव्यवाची शब्द है वह भी 'विषाण' अर्थात् जिसके सींग हों, उसे विषाणी कहा जाता है – इसी प्रकार वक्ता की इच्छा से नाम, जैसे वक्ता ने नाम देवदत्त कहा, उसका भी स्वार्थ किया जावे तब जो देव का दिया हो, तथा देव के निमित्त दिया गया हो, उसे देवदत्त कहा जाता है, इस प्रकार यह भी क्रियावाची होता है, ऐसा जानना।

इस प्रकार ये जो नैगम आदि नय कहे हैं, उनका आगे - आगे विषय अल्प होता जाता है। इसी कारण पाठ में इनका यह क्रम रखा गया है। सबसे पहले जो नैगम नय कहा, उसका तो सद्रूप अथवा असद्रूप इत्यादि अनेक धर्मरूप वस्तुओं का संकल्प विषय है। अत: यह नय तो सबसे अधिक विषय वाला है। इसके बाद संग्रह नय को कहा है, इसका विषय सत् द्रव्यत्व आदि ही है, इनके परस्पर निषेध रूप जो असत् आदि हैं, वे इसके विषय नहीं हैं। अत: उससे (नैगम नय से) अल्प विषय वाला है। तथा इस (संग्रह नय) के बाद व्यवहार नय कहा गया है, जिसका विषय संग्रह नय के विषय के भेदों में से भी एक भेद मात्र है, अत: अन्य भेद इसके विषय में नहीं आये। इसलिये उससे (संग्रह नय से) भी इसका विषय अल्प है। इसके बाद ऋजुसूत्र नय कहा गया है, इसका विषय वस्तु की मात्र वर्तमान पर्याय है, अत: अतीत अनागत (पर्यायें) इसका विषय नहीं आये। अत: इसका विषय व्यवहार नय के विषय से भी अल्प है। इसके बाद शब्द नय का कथन किया। इसका विषय वस्तु की संज्ञा है, एक वस्तु का अनेक नाम होते हैं। यह नय काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन, उपग्रह आदि के भेद से अर्थ (वस्तु) को भेदरूप (भिन्न भिन्न) कहता है, अत: इन (काल, कारक आदि) में भेद होने पर वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को अभिन्न मानने वाले ऋजुसूत्र नय से भी इसका विषय अल्प हुआ, क्योंकि एक भेद लेने से अन्य भेद छूट गये। इसके बाद समभिरूढ नय कहा है। एक वस्तु के अनेक नाम होते हैं, उनको पर्याय शब्द कह कर उन पर्याय शब्दों को एक ही अर्थ मानने वाले शब्द नय से भी समभिरूढ नय का विषय अल्प हुआ, क्योंकि उन पर्याय शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न भी होते हैं, यह नय जिस शब्द को ग्रहण करता है, उसी अर्थरूप को कहता है, तब अन्य शब्द (पर्यायवाची अन्य शब्द) उसमें नहीं आये, अत: इसका विषय अल्प रहा। इसके बाद एवंभूत नय कहा है। इस नय का विषय जिस शब्द को ग्रहण किया, उस क्रियारूप परिणमित पदार्थ ही है, अत: अन्य क्रिया करते पदार्थ को भी एक ही मानने वाले समभिरूढ नय से भी इसका विषय अल्प हुआ। इस प्रकार ये नय उत्तरोत्तर अल्प विषय वाले हैं।

यहाँ **दृष्टान्त :** जैसे एक नगर में एक वृक्ष पर पक्षी बोलता था। उसके लिये किसी ने कहा, इस नगर में पक्षी बोलता है। किसी (दूसरे) ने कहा -इस नगर में एक वृक्ष है, उस पर पक्षी बोलता है। किसी (तीसरे) ने कहा- उस वृक्ष के एक बडा डाला है, उस पर पक्षी बोलता है। किसी (चौथे) व्यक्ति ने कहा -उस डाले में एक छोटी शाखा (डाल) है, उस पर बोलता है। किसी (पांचवें) व्यक्ति ने कहा - उस शाखा के एक भाग पर पक्षी बोलता है। किसी (छठे) व्यक्ति ने कहा -पक्षी अपने शरीर से बोलता है। किसी (सातवें) व्यक्ति ने कहा - उसके शरीर में कंठ है, उससे बोलता है। इस प्रकार विषय उतरोत्तर छूटता गया। इसी अनुक्रम से इन नयों के कथन जानना। नैगम नय ने तो वस्तु

का सत् असत् दोनों को कहा। संग्रह नय ने केवल सत् ही को कहा। व्यवहार नय ने सत् में भी एक भेद मात्र ही कहा। ऋजुसूत्र नय ने केवल वर्तमान को ही कहा। शब्द नय ने वर्तमान सत् में भी भेद करके एक कार्य को पकड़ा। समभिरूढ नय ने इस कार्य के भी अनेक नाम थे, उनमें से भी एक ही नाम को ग्रहण किया। एवंभूत नय ने उसमें भी जिस नाम को ग्रहण किया, उस ही क्रियारूप परिणमते मात्र को ग्रहण किया। इस प्रकार जिस किसी पदार्थ का कथन करना हो, उन सब कर ही इस प्रकार नय लागू कर लेने चाहिये।

तथा पूर्व पूर्व के नय तो कारणरूप हैं, और उत्तर उत्तर नय कार्यरूप हैं। उस कार्य की अपेक्षा (पूर्व पूर्व के नय) स्थूल भी कहे जाते हैं। इस ही प्रकार ये नय पूर्व पूर्व तो विरूद्ध महाविषय वाले हैं उत्तर उत्तर अनुकूल अल्प विषय वाले हैं, कारण कि पूर्व पूर्व वाले नय का (सम्पूर्ण) विषय अगले अगले वाले नय में नहीं है, अत: विरूद्ध हैं। तथा आगे आगे वाले नय का विषय पिछले पिछले वाले नय में गर्भित है, अत: उनके (अगले अगले वाले नय के पिछले पिछले वाले नय से) अनुकूलता है।

ये नय भेद क्यों होते हैं ? द्रव्य अनन्त शक्ति वाले हैं, उसमें एक एक शक्ति अपेक्षा भेद कल्पित किये जाने पर बहुत भेद होते हैं, अत; ये नयभेद होते हैं। इस प्रकार ये नय मुख्य गौण किये जाने पर परस्पर सापेक्ष होने पर सम्यक्दर्शन होने का कारण होते हैं। जैसे सूत के तार आदि पुरुष द्वारा समर्थ अर्थ क्रिया किये जाने पर यथायोग्य अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र आदि रूप हो जाते हैं, पर वैसा उपाय किये बिना वस्त्र आदि नाम प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उसी प्रकार ये नय आदि जानना।

यहां **कोई कहता है** – यह तारों का उदाहरण तो विषम उपन्यास है, अर्थात् मेल नहीं खाता है, क्योंकि तार तो अपेक्षा रहित भिन्न भिन्न (अलग अलग) भी अर्थमात्र अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि करते हैं, तथा अर्थक्रिया करते हैं। जैसे कोई तार तो अलग अलग (बहुत सी) सींखों को बांधने में, अथवा शस्त्र के घावों को सिलने में समर्थ होता है, और कोई वेलिखीय आदि तार (रस्से का तार) भारा आदि को बांधने में समर्थ होता है, तथा जब ये नय निरपेक्ष होते है, तब सम्यक्दर्शन की कुछ भी मात्रा को उत्पन्न नहीं कर पाते हैं।

तब **आचार्य उत्तर देते हैं** – यहाँ यह दोष नहीं है, क्योंकि जो कुछ हमने कहा है, उसका (सही) ज्ञान तुमको नहीं हुआ है, और अर्थ (कहे हुये) को कुछ भी समझे बिना यह उलाहना दे रहे हो। हमने तो ऐसा कहा है कि निरपेक्ष तार आदि कहे हैं, वे वस्त्र आदि कार्य नहीं हैं तथा आपने कहा –वह तो पट आदि का कार्य नहीं है, केवल तार आदि का ही अलग से कार्य है। उस कार्य को भी वे तार आदि अपने अपना अवयवों सहित न हो तो, उनसे नहीं हो सकता है। अत: हमारे ही पक्ष की

सिद्धि है । सापेक्ष हों तब ही कार्य को उत्पन्न करते हैं । कहे गये तार आदि में वस्त्र आदि कार्य शक्ति रूप से (विद्यमान) है । इस ही प्रकार नयों में निरपेक्ष नयों में ज्ञानरूप और शब्दरूपों में कारण के वश (होने सह) सम्यक्दर्शन के कारणपने के विशेषरूप परिणमन के सद्भाव में शक्तिरूप सम्यग्दर्शन के कारणपने का अस्तित्व है । अत: हमारा दृष्टान्त विषम नहीं है, सम ही है, मेल वाला है ।

तथा इन नयों के परस्पर मुख्यगौण की सापेक्षतापूर्वक विधि निषेध से सप्त भंग हो जाते हैं, उनका कथन करते हैं – नैगमनय के संग्रह आदि छह नयों से अलग-अलग छह सप्तभंग होते हैं । तथा संग्रह नय के व्यवहार आदि से पांच होते हैं । व्यवहारनय से ऋजुसूत्र आदि नयों से चार होते हैं। ऋजुसूत्र नय के शब्द नय आदि से तीन होते हैं । शब्द नय के समभिरूढ आदि से दो भंग होते हैं । एवं समभिरूढ नय के एवंभूत नय से एक ही भंग होता है । इस तरह मूल नयों के तो विधि निषेध अपेक्षा इक्कीस सप्तभंग हो जाती हैं । तथा नैगम नय के नौ भेद और संग्रह नय के पर – अपर अपेक्षा दो भेद होने से इनके विधि – निषेध अपेक्षा अठारह सप्तभंगी होती हैं । इसी प्रकार पर – अपर व्यवहार नय के अठारह सप्तभंगी हो जाती हैं । तथा ऋजुसूत्र नय के नौ सप्तभंगी होती हैं । शब्द नय का काल आदि की छह भेदों से चौपन (54) सप्तभंगी होती हैं । समभिरूढ नय से नौ और एवंभूत नय से नौ, इस तरह ये एक सौ सतरह (117) सप्तभंगी होती हैं । इसी तरह संग्रह नय के दो भेदों से व्यवहार नय के भेदों द्वारा बाईस (22) और व्यवहार नय के दो भेदों से ऋजुसूत्र आदि नयों द्वारा अठारह (18), तथा ऋजुसूत्र नय के शब्द के भेदों द्वारा छह, तथा शब्द नय के भेदों से समभिरुढ एवंभूत द्वारा बारह सप्तभंगी, इस प्रकार अठावन (58) सप्तभंगी, इस तरह सब मिलाकर एक सौ पचहत्तर (175) भेदों की अपेक्षा से, दोनों मिलाकर एक सौ छियानवे (175 + 21 =196) हुये । तथा उल्टी गणना करने पर भी ये ही भंग होते हैं । इस तरह उत्तरोत्तर भेदों से शब्द से (कथन करने से) संख्यात सप्तभंगी होती हैं । पहले प्रमाण सप्तभंगी में भंगों का जिस प्रकार विवेचन किया, उसी प्रकार यहाँ भी जानना।

विशेष इतना है कि जिस पदार्थ का कथन करना हो, उसका काल आदि आठ भेदों से सकलदेश करना चाहिये । यहाँ उनका विकलादेश किया समझना । जिस धर्म की अपेक्षा पदार्थ का कथन किया जावे उसी धर्म में सर्वधर्मों का काल आदि अपेक्षा अभेदवृत्ति करना तो सकलादेश है और उस धर्म ही के काल आदि का कथन करना, अन्य धर्म से भेदवृत्ति कहना, वह विकलादेश होता है । जिसे पहले उदाहरणपूर्वक कहा ही है । जैसे नैगमनय ने प्रस्थ का संकल्प किया, वहाँ संग्रह नय कहे कि प्रस्थ संकल्प मात्र नहीं है, सद्रूप है, वहाँ विधि – निषेध हुआ । तब कथंचित् प्रस्थ, कथंचित् अप्रस्थ, कथंचित् प्रस्थाप्रस्थ, कथंचित् अवक्तव्य, कथंचित् प्रस्थअवक्तव्य, कथंचित् अप्रस्थअवक्तव्य, कथंचित् प्रस्थाप्रस्थ अवक्तव्य – इस तरह सात भंग हुये । इसी प्रकार सभी नयों के विषय में विधि

निषेध लगाकर समझना।

यहाँ **कोई पूछता है** – द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों के भेदरूप नैगम आदि सात भेद (नय) बताये, उन्हें तो जान लिया। परन्तु शास्त्रों में निश्चयनय, व्यवहारनय की बहुत कथनी है और यह जाना नहीं कि ये निश्चयनय व्यवहारनयों (का विवरण) कहाँ कहा है ? और इनका विषय क्या है ?

उत्तर : 'नयचक्र' नामक गाथाबंध ग्रन्थ है, उसमें ऐसा कहा है कि निश्चय व्यवहारनय हैं, वे सर्व नयों में मूलभेद हैं। इन दो नयों से ही सभी नयभेद प्रवर्तते हैं। उनमें निश्चयनय के साधने के लिये कारणरूप द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नय हैं। वस्तु का स्वरूप ही द्रव्य पर्याय स्वरूप है, जो इन दोनों नयों द्वारा साधा जाता है। अत: ये दोनों नय तत्त्वस्वरूप हैं, सत्यार्थ हैं।

तथा व्यवहार नय उपनय है। इसके तीन भेद हैं (1) सद्भूत व्यवहार (2) असद्भूत व्यवहार (3) उपचरित व्यवहार। इनके उत्तर भेद आठ हैं। उनमें से सद्भूत व्यवहार नय के दो भेद हैं। उनमें गुणगुणी तथा पर्याय पर्यायवान द्रव्यों में कर्त्ता कर्म आदि कारकों की प्रवृत्ति के सद्भाव से संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से शुद्ध द्रव्य में भेद कहने वाला तो शुद्धसद्भूत व्यवहार नय है। उस ही तरह एक द्रव्य के एक ही प्रदेश है, भिन्न क्षेत्र नहीं है, तो भी संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश आदि कहने वाला भी शुद्ध सद्भूतव्यवहार (नय) है। तथा एक ही द्रव्य पर (अन्य) के निमित्त से उस ही सत् में विकार हुआ, उसकी अपेक्षा लेकर संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद कहना अशुद्ध सद्भूत व्यवहार है। इस प्रकार सद्भूत व्यवहार नय के दो भेद हुये।

तथा अन्य वस्तु के गुणों को अन्य वस्तु के कहे वह असद्भूत व्यवहार नय है। इसके तीन भेद हैं – उनमें जैसे बहुत से पुद्गल के परमाणुओं से मिलकर एक स्कंध नामक पर्याय बनी, उसे 'ये पुद्गल द्रव्य है' ऐसा कहता वह समानजातीय असद्भूत व्यवहार हुआ। तथा जहाँ एकेन्द्रिय आदि देह जो पुद्गल स्कंध हैं, उन्हें जीव कहना असमान जातीय असद्भूत व्यवहार हुआ। तथा जहाँ मतिज्ञान का मूर्तिक कहना, क्योंकि वह मूर्तिक से उत्पन्न होता है और रुकता है, वहाँ मतिज्ञान तो अमूर्तिक जीव का धर्म है, तथा मूर्तिकता पुद्गल का धर्म है, वहाँ मिश्र असद्भूत व्यवहार हुआ। तथा ज्ञेय में ज्ञान है ऐसा कहना वहाँ ज्ञेय तो जीव और अजीव दोनों हैं, अत: मिश्र व्यवहार भी हुआ। इस प्रकार असद्भूत व्यवहार के तीन भेद हुये।

तथा उपचार व्यवहार के भी तीन भेद हैं। उनमें द्रव्य, गुण, पर्याय में परस्पर उपचार किया जावे तब भेद होता है। एक प्रदेशी परमाणु को बहुप्रदेशी पुद्गल द्रव्य कहना, वहाँ द्रव्य में पर्याय का उपचार हुआ। तथा भवन को श्वेत कहना, वहाँ द्रव्य में गुण का उपचार। ज्ञान को मतिज्ञान कहना, वहाँ गुण में पर्याय का उपचार हुआ। स्कंध पर्याय को पुद्गल द्रव्य कहना, वहाँ पर्याय में द्रव्य का उपचार हुआ।

देह को सुन्दर देखकर उसको उत्तमरूप कहना, वहाँ पर्याय में गुण का उपचार हुआ। इत्यादि उपचार जानने।

तथा उपचार के उपचार से तीन भेदों को समझना। पुत्र आदि मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ऐसा तो समान जातीय उपचार है। तथा वस्त्र आभरण आदि मेरे हैं, ऐसा कहना वह विजातीय उपचार का उपचार है। तथा देश, गढ, राज्य, नगर मेरे हैं – ऐसा कहना मिश्र उपचार है। इस प्रकार व्यवहार नय अनेक रूपों में प्रवर्तता है।

तथा श्लोकवार्तिक में ऐसा कहा है – एवंभूत तो निश्चय है, क्योंकि जिसकी जो संज्ञा हो उस ही क्रियारूप परिणमित पदार्थ हो वही उसका विषय है, जैसे चैतन्य अपना चैतन्य भावरूप परिणमे उसे चैतन्य ही कहना। क्रोधी को क्रोधी ही कहना इत्यादि। तथा व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय को कहा है, क्योंकि दो भावों अथवा द्रव्यों के मिले बिना व्यवहार प्रवर्तता नहीं है और दो मिले तब अशुद्धता हो ही गयी। यह बात निर्देश आदि अधिकार में लिख ही चुके हैं।

यहाँ **प्रश्न** है – अध्यात्म ग्रन्थों में कहा है कि निश्चय नय सत्यार्थ है और व्यवहार नय असत्यार्थ है, त्यागने योग्य है – यह उपदेश किस प्रकार है ?

उत्तर : उपदेश (वस्तु स्वरूप का कथन) दो प्रकार से प्रवर्तता (किया जाता) है – उनमें एक तो आगम है, उसमें तो निश्चय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों ही नय परमार्थरूप से सत्यार्थ कहे हैं। तथा प्रयोजन और निमित्त के व अन्य द्रव्य गुण पर्यायों का अन्य द्रव्य गुण पर्यायों में आरोपण करना तो उपचार है, इसे ही व्यवहार कहते हैं, असत्यार्थ भी कहते हैं, गौण भी कहते हैं। दूसरा अध्यात्म उपदेश है, उसमें अध्यात्म ग्रन्थों का आशय यह है कि अपना आत्मा एक, अभेद, नित्य, शुद्ध, असाधारण चैतन्यमात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है, वह तो उपादेय है। तथा शेष भेद, पर्याय, अनित्य, अशुद्ध तथा साधारण गुण तथा अन्य द्रव्य – ये सब पर्यायनय के विषय हैं, वे सब होते हैं, क्योंकि यह आत्मा अनादि से कर्मबन्ध पर्याय में मग्न है। क्रमरूप ज्ञान से पर्यायों को ही जानता है। इसे अपने अनादि अनन्त द्रव्यत्व भाव का अनुभव नहीं है, अत: पर्याय मात्र में अपनत्व जानता मानता है। इसलिये इसे द्रव्यदृष्टि कराने के लिये पर्यायदृष्टि को गौण करके असत्यार्थ कहकर एकान्त पक्ष को छुड़ाने के लिये (व्यवहार नय को) झूठ कहा है। ऐसा तो है नहीं कि ये पर्यायें सर्वथा ही झूठ हैं, कुछ वस्तु ही नहीं हैं, आकाश के फूल के समान हैं। यदि अध्यात्म शास्त्र के वचन को सर्वथा, एकान्त मानकर पर्यायों को सर्वथा ही झूठा माने तो वेदांति और सांख्यमती के समान मिथ्यादृष्टि होगा। पहले तो पर्यायबुद्धि का एकान्त मिथ्यात्व था, अब उसे सर्वथा छोड़कर द्रव्यनय का एकान्त मिथ्यादृष्टि होगा और तब गृहीतमिथ्यात्व का सद्भाव होगा।

तथा उपनय के भेदों में सद्भूत असद्भूत उपचार किये जाते हैं, उन्हें कथंचित असत्य भी मानना, क्योंकि ऐसा कहा है कि प्रयोजन तथा निमित्त के वश प्रवर्तन कर अन्य को अन्य का कहना उपचार है, वह परस्पर द्रव्य के निमित्त-नैमित्तिक भाव है। वह तो सत्यार्थ ही है, उनसे संसार मोक्ष आदि तत्त्वों की प्रवृत्ति होती हैं। यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव झूठा हो तो संसार मोक्ष आकाश के फूल की तरह ठहरेंगे। तथा उस ही प्रकार जहाँ पुरुष का प्रयोजन है, उसके लिये जो प्रवृत्ति है वह भी कथंचित् सत्यार्थ है। यदि प्रयोजन तथा प्रयोजन का विषय पदार्थ सर्वथा असत्यार्थ हों तो आकाश के फूल की तरह झूठ ठहरेंगे। तथा एकेंद्रिय आदि जीवों को व्यवहार से जीव कहा है। यदि व्यवहार सर्वथा ही झूठा हो तो जीवों की हिंसा होना कहना झूठा ठहरेगा, क्योंकि परमार्थ से जीव तो नित्य और अमर है। एकेन्द्रिय आदि जीव (जीव को एकेन्द्रिय आदि) कहना झूठा है, झूठ के घात में हिंसा कैसी ? इसका कहाँ तक विस्तार किया जावे ? यदि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ कहा (माना) जावेगा तो सर्व व्यवहार का लोप करने वाले वे (जीव) तीव्र मिथ्यात्व के उदय से प्रगाढ मिथ्यादृष्टि हैं - जिनमत से प्रतिकूल हैं, उनकी संगति ही स्व-पर की घातक है, ऐसा समझना।

तथा 'नयचक्र' में नयों के भेद बताये हैं - द्रव्यार्थिक नय के दश (10) भेद हैं। उनमें (1) कर्मोपाधि निरपेक्ष नय -जैसे संसारी जीव को सिद्ध समान कहना। (2) उत्पाद व्यय निरपेक्ष नय - केवल ध्रौव्य रूप सत्ता को ग्रहण करना, जैसे द्रव्य सद्रूप नित्य है। (3) भेद निरपेक्ष नय - जैसे गुण पर्यायों से द्रव्य अभिन्न है। (4) कर्मोपाधि सापेक्ष नय - जैसे जीव रागादिरूप है। (5) उत्पाद व्यय सापेक्ष नय -जैसे सत् है वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य है। (6) भेद सापेक्ष नय - जैसे द्रव्य है वह गुण पर्यायवान है। (7) अन्वय द्रव्यार्थिक नय - जैसे द्रव्य गुण स्वरूप है। (8) स्वद्रव्यादि ग्राहक नय - जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य सद्रूप है। (9) परद्रव्यादि ग्राहक नय - जैसे परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य असद्रूप है। (10) परमभाव ग्राहक नय - जैसे जीवद्रव्य को शुद्ध, अशुद्ध, उपचार आदि से रहित चैतन्यमात्र कहना। इस तरह दश भेद हुये।

तथा पर्यायार्थिक नय के छह भेद हैं। (1) अनादि नित्य पर्यायग्राही नय - जैसे चन्द्रमा, सूर्य, आदि के विमान, मेरुपर्वत आदि नित्य हैं। (2) सादि नित्य पर्यायार्थिक नय - जैसे कर्मों का नाशकर सिद्ध पर्याय हुई, वह सादि नित्य पर्याय है। (3) सत्ता को गौणकर उत्पाद व्ययरूप पर्यायार्थिक नय - जैसे पर्याय समयस्थाई है। (4) उत्पाद व्यय ध्रुवरूप सत्ताग्राही पर्यायार्थिक नय - जैसे प्रतिसमय पर्याय उत्पाद व्यय ध्रुवरूप है। (5) कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय - जैसे संसारी जीव की (कारण शुद्ध) पर्याय सिद्ध की पर्याय (कार्य शुद्ध) के समान शुद्ध है। (6) कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध अनित्य पर्यायार्थिक नय - जैसे संसारी जीव उत्पन्न होता है, विनशता (मरता) है। इस

तरह पर्यायार्थिक नय के छह भेद बताये हैं।

इस तरह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण से, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों से तथा निर्देश आदि और सत् आदि अनुयोगों से तत्त्वार्थ का अधिगम (ज्ञान) होता है। तत्त्वार्थ का नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव – इन चार निक्षेपों से समझकर अधिगम करना चाहिये। वही अधिगमज सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति का कारण है। निसर्गज सम्यग्दर्शन तो मति –अवधि ज्ञान से होता है। और अधिगमज है वह गुरु के उपदेश के अधीन (के निमित्त से) है, क्योंकि श्रुतज्ञान रूप जो प्रमाण – नय आदि का ज्ञान गुरु के मुख से श्रवण करने पर होता है, अत: शास्त्र का श्रवण, पठन, पाठन निरन्तर करना योग्य है (करना चाहिये)। यही भव्य जीवों के लिये स्वर्ग मोक्ष का साधन है।

अब प्रमाण – नय से तत्त्वार्थ का अधिगम अर्थात् ज्ञान होता है, उसका स्वरूप बताते हैं – यह तत्त्वार्थाधिगम दो प्रकार का है – (1) स्वार्थ (2) परार्थ। उनमें स्वार्थ तो ज्ञानस्वरूप है, और परार्थ वचनात्मक है, वह भी दो प्रकार का है – (1) एक तो वीतरागी के होता है, उसको वीतराग कथा कहते हैं। (2) दूसरा वादी प्रतिवादी जिनके हार – जीत की इच्छा होती है, उनको होता है, उसे विजिगीषुकथा कहते हैं। उनमें वीतराग कथा तो गुरु शिष्य में होती है तथा दोनों ही विशेष ज्ञानी हों, उनके होती है। इस वीतरागियों की चर्चा की हद तो तत्त्वनिर्णय हो चुके वहाँ तक है। तथा वादी प्रतिवादियों की हद हार जीत हो चुके वहाँ तक है। तथा इस विजिगीषुकथा के चार अंग हैं –(1) वादी (2) प्रतिवादी (3) सभा के लोग (सभा में उपस्थित व्यक्ति) (4) सभापति। वादि प्रतिवादियों के बिना तो वाद प्रवर्तता ही नहीं है। सभा के लोग न होने पर साक्षी कौन होगा ? सभापति के बिना हार, जीत, निग्रह, अनुग्रह (निर्णय) कौन करे ? अत: चारों ही आवश्यक हैं।

यहाँ **नैयायिक कहता है** – वाद है वह तत्त्व निर्णय का कारण है, इससे तत्त्वनिर्णय दृढ होता है। जगत में सत्यार्थ तत्त्व की प्रभावना हो, तब लोक में प्रतिष्ठा हो, अत: यही वीतराग कथा है।

उससे कहते हैं – वीतराग कथा में तो सभा का और सभापति का नियम नहीं है, तथा विजिगीषु कथा में नियम ही है। तथा जो यह कहा कि वाद द्वारा सभी लोगों में तत्त्व की दृढता होती है, प्रभावना होती है, यह तो सत्य है, परन्तु जहाँ अपनीहार होती है, वहाँ स्वमत का विध्वंस भी होता है। अत: वाद को हार जीत का ही कारण है, वीतरागियों के यह वाद संभव नहीं है। तथा जहाँ ऐसी अपनी सामर्थ्य हो कि मैं वाद में हारूंगा नहीं, जीतूंगा ही, तो इसे बहुत सामग्री चाहिये। प्रथम तो यथार्थ हेतुवाद अहेतुवाद से स्वयं को तत्त्व का निर्णय होना चाहिये। दूसरे तपश्चरण आदि से जगत में अपनी प्रतिष्ठा हुई हो, ऐसा चाहिये। तथा कुछ इष्ट देवता के अतिशय चमत्कार की स्वयं को सिद्धि हुई होनी चाहिये। तथा अपने पक्ष का राजा आदि होना चाहिये, यदि पक्ष के बिना स्वयं सच्चा

भी हो तो निष्पक्षी को प्रबल अन्य पक्ष वाला झूठा कर दे (सत्य होते हुये भी उसे गलत कह दे) इत्यादि सामग्री हो, अपना जीतना का अवश्य निश्चय हो, तब वाद को जीतकर मत की प्रभावना करे तो उचित ही है। बिना सामग्री वाद करे एवं हार जावे तब स्वमत का विध्वंस ही होता है। अत: यह निश्चय जानो कि वाद एकान्त से तो तत्त्व निर्णय के लिये करना नहीं, हार – जीत की मुख्यता वाला है। तथा वीतराग कथा ही तत्त्व निर्णय का कारण है।

इस प्रकार इस प्रथम अध्याय में ज्ञान और दर्शन के स्वरूप का वर्णन किया तथा नयों का लक्षण कहा एवं ज्ञान का प्रमाणपना बताया है।

।। दोहा ।।

दर्शनबोध यथार्थता । नयलक्षण बणवाय ।।
ज्ञान पंच कै मानता । कही आदि अध्याय ।। 1 ।।

।। सवैया तेईसा ।।

जे पढि है अधिकार यहै नर ते चढि हैं निजरूप रमंता ।
जे कढि हैं मुख यामय वाक्य सु चढि हैं सब ऊपरि संता ।।
जे करि हैं निति पूजन भव्य सुपुण्य लहै परलोक गमंता ।
जे परि हैं थुति गाय सुपाय निबोध फुरै तिनिकूं जू अनंता ।।

इस प्रकार जिसमें तत्त्वार्थ का अधिगम है, ऐसे 'मोक्षशास्त्र' में प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

द्वितीय अध्याय

दोहा

उदयज उपशम मिश्र तजि, क्षायिक भाव उघारि ।
जीवभाव उज्जल कियो, नमूं ताहि मद छारि ।।

अर्थ : औदयिक, औपशमिक तथा मिश्र भावों को त्यागकर क्षायिकभाव को प्रकटकर जिसने जीवभाव को उज्ज्वल किया है, उसे मैं मद छोड़कर नमस्कार करता हूँ ।

इस प्रकार मंगल करके सर्वार्थसिद्धि टीकाकार (दूसरे अध्याय की) टीका लिखते हैं –

शिष्य पूछता है : हे भगवान ! सम्यग्दर्शन के विषयरूप भाव द्वारा कहे जीवादि तत्त्वों में सबसे पहले जो जीव कहा, उसका स्वतत्व अर्थात् निज यथार्थ असाधारण स्वरूप क्या है ? वह बताइये । ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य सूत्र कहते हैं –

।। औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।। २–१।।

अर्थ : (1) औपशमिक (2) क्षायिक (3) मिश्र (4) औदयिक (5) पारिणामिक – ये पांच भाव हैं, वे जीव के निजतत्त्व हैं । आत्मा में कर्म की निजशक्ति के कारणवश (कर्मों की) अनुद्भूति अर्थात् उदय न होना **उपशम** है । जैसे कतक आदि अर्थात् निर्मली आदि वस्तु के सम्बन्ध से जल में कर्दम का उपशम होकर जल के पैंदे में बैठ जावै, तब ऊपर का जल उज्ज्वल हो जाता है, उसी प्रकार उपशम (भाव को) जानना । तथा जहाँ कर्म की अत्यन्त निवृत्ति हो जावे, तत्त्व (जीव) में से कर्म अलग हो जावे, वह **क्षय** है । तथा उस ही (उपरोक्त उज्ज्वल हुये) जल को स्वच्छ पात्र में ले लिया जावे, तब कर्दम का अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसी प्रकार क्षय को जानना । तथा जहाँ (भाव) उपशम और क्षय दोनों (मिश्र) स्वरूप हो, वहाँ मिश्रभाव जानना । जैसे उस ही जल में कतक आदि द्रव्य डालने पर कर्दम की क्षीणाक्षीणवृत्ति अर्थात् कुछ कर्दम का तो पैंदे में बैठ जाना, कुछ गदलापन का रह जाना कुछ का निकल जाना, उसी प्रकार **क्षयोपशम** (भाव को) जानना । तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म के फल की प्राप्ति अर्थात् उदय में आना, प्रकट होना, वह **उदय** है। तथा द्रव्य के आत्मलाभ अर्थात् जिससे निजस्वरूप की प्राप्ति हो, वह परिणाम **पारिणामिक** भाव है । जैसे स्वर्ण के पीत आदि गुण, कंकाण, कुंडल आदि पर्याय हैं, वैसे ही परिणाम जानना । इसमें कर्म आदि का कुछ भी निमित्त नहीं होता, यह जानना । तथा जिसका प्रयोजन उपशम है, उसे

औपशमिक कहते हैं । यहाँ इनके प्रयोजन के अर्थ में इक् प्रत्यय लगाया गया है । इस ही प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक जानना । ये पांचों ही भाव जीव के स्वतत्त्व, असाधारण भाव कहे गये हैं ।

तथा इनके अनुक्रम का प्रयोजन बताते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकरण है। तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनों में औपशमिक सम्यग्दर्शन सबसे पहले होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि को सबसे पहले (सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर) औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है । अत: सूत्र में इसे सबसे पहले कहा है । इसके बाद क्षायिक का ग्रहण किया है, क्योंकि यह निर्मलता में इसकी (औपशमिक की) स्पर्धा (बराबरी) करता है, प्रतियोगी है। संसारी जीवों की अपेक्षा द्रव्यों (इन सम्यक्त्व के धारी जीवों) की गिनती की जावे तो औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीवों से क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीव असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि औपामिक सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, अत: एकत्रित किये जाने पर भी अल्प ही होते हैं, तथा क्षायिक सम्यक्त्व का काल संसारी जीव अपेक्षा तेंतीस सागर से कुछ अधिक है, अत: यहाँ जीवों की संख्या भी असंख्यातगुणी हो जाती है। इनके बाद मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक (सम्यक्त्व) का ग्रहण किया गया है, क्योंकि यह दोनों (के मिश्र) स्वरूप है । तथा इसके धारी जीव भी उनसे असंख्यातगुणे होते हैं । इसका काल छयासठ (66) सागर का है । तथा इनके बाद औदयिक को और अन्त में पारिणामिक भाव को ग्रहण किया है, क्योंकि यहाँ जीवों की संख्या उनसे अनन्तगुणी है ।

यहाँ कोई पूछता है : इस सूत्र में भावों की अलग अलग विभक्ति करके वाक्य बनाया गया है, उसका क्या कारण है ? द्वंद समास द्वारा निर्देश करना चाहिये – इस प्रकार 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिक – पारिणामिका:'कहना चाहिये था । ऐसा करने पर दो 'च' नहीं आते, तब सूत्र में अक्षर अल्प होते ।

उससे कहते हैं : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहाँ 'मिश्र' शब्द कहा है, जो दो अन्य गुणों की अपेक्षा है । अत: वाक्य में 'च' से पहले कहे गये औपशमिक और क्षायिक – इन दो का ही ग्रहण 'मिश्र' में करना, अन्य को शामिल नहीं करना । तथा यदि कहो कि 'क्षायोपामिक' शब्द क्यों नहीं कहा, 'मिश्र' शब्द क्यों कहा ? तो उत्तर देते हैं –'क्षायोपशमिक' कहने पर गौरव (सूत्र में बड़ापन) हो जाता है, सूत्र में अक्षर बढ जाते हैं, अत: वाक्य (सूत्र) में 'मिश्र' शब्द को ग्रहण किया है । तथा मिश्र को बीच में कहा, उसका प्रयोजन यह है कि इससे पहले वाले दो को ही ग्रहण करना है ।

तथा औपशमिक और क्षायिक भाव भव्य जीव को ही होते हैं । मिश्र भाव भव्य को भी होता है और अभव्य को भी होता है । औदयिक एवं पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य दोनों को होते हैं;

अत: 'मिश्र' को बीच में ग्रहण किया है।

यहाँ **कोई पूछता है :** 'भाव' शब्द की अपेक्षा स्वतत्व शब्द में लिंग तथा संख्या (की भिन्नता) का प्रसंग आता है, क्योंकि भाव शब्द पुरुषलिंग है, अत: स्वतत्त्व को भी पुरुषलिंग ही होना चाहिये तथा भावों की संख्या बहुत है, अत: स्वतत्त्व को भी बहुवचन होना चाहिये।

उससे कहते हैं : स्वतत्त्व शब्द उपात्तलिंग संख्यारूप है, इसका लिंग पलटता नहीं है। तथा तत्त्व शब्द भाववाची है, अत: भाव को एक ही वचन होता है, क्योंकि 'तस्य भावस्तत्त्वं' ऐसा होने से संख्या भी नहीं पलटती, अत: दोष नहीं है। तथा यहाँ ऐसा विशेष जानना कि जीव के पांच भाव कहे हैं। अत: (जीव) चैतन्य मात्र ही नहीं है (जैसा कि अन्य एकांत मती मानते हैं)। सांख्यमती पुरुष को स्वचैतन्य मात्र मानते हैं। वैशेषिक मतवाले बुद्धि आदि विशेष गुणों का भी पुरुष के अभाव मानते हैं। वैदान्तमती आनन्दमात्र ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। बौद्धमती चित् को प्रभाकर मात्र मानते हैं। पर सर्वत्र एकान्त से ये सब बनते नहीं हैं। जीव का स्वरूप पांच भावरूप ही प्रमाणसिद्ध है, ऐसा जानना।

आगे **शिष्य पूछता है** कि आपने आत्मा के औपशमिक आदि पांच भाव कहे हैं, वे उत्तरभेदों सहित हैं या अभेदरूप हैं ?

ऐसे पूछने पर **उत्तर** दिया : वे भेद सहित हैं।

पुन: (शिष्य) **पूछता है :** यदि ऐसा है तो उनके भेद बताईये ?

ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा: यथाक्रमम् ।। २–२ ।।

अर्थ: उपरोक्त सूत्र में जो पांच भाव कहे हैं, उनके क्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं। यहाँ दो आदि संख्याशब्दों का द्वंद समास करके एवं भेद शब्द के साथ स्वपदार्थवृत्ति तथा अन्य पदार्थवृत्ति जानना। कैसे ? वह बताते हैं। दो, नव, अठारह, इक्कीस तथा तीन – इस प्रकार तो द्वंदवृत्ति हुई। ये ही भेद – इस प्रकार स्वपदार्थवृत्ति हुई। ये बताये वे ही भेद हैं – इस प्रकार भेद शब्द संख्या ही का सम्बन्धी हुआ। ऐसा सम्बन्ध हो तब पांचों भावों का बहुवचन षष्ठीविभक्ति करके कहना कि ये भेद पांच भावों के हैं। तथा वह ही भेद जिनके –यहाँ अन्यपदार्थवृत्ति हुई, क्योंकि ये भेद पूर्वोक्त भावों के हैं, तब भेदों का सम्बन्ध क्रमश: अलग–अलग भावों से करना। इस प्रकार औपशमिक भाव के दो भेद हैं। क्षायिक भाव के नव भेद हैं। मिश्रभाव के अठारह भेद हैं। औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं, ऐसा समझना।

आगे शिष्य पूछता है : यदि ऐसा हैं तो औपशमिक भाव के दो भेद कौन से हैं ?

ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सम्यक्त्वचारित्रे ।। २-३ ।।

अर्थ : औपशमिक भाव के भेद (1) औपशमिक सम्यक्त्व (2) औपशमिक चारित्र - ये दो हैं। सम्यक्त्वचारित्र का लक्षण तो जैसा पहले कहा वही जानना।

प्रश्न : उनको औपशमिकपना कैसे है ?

तब कहते हैं : चारित्रमोह दो प्रकार का है (1) कषायवेदनीय (2) नोकषायवेदनीय। यहाँ कषायवेदनीय के भेदों में से तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार को ग्रहण करना। तथा दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं (1) मिथ्यात्व (2) सम्यग्मिथ्यात्व (3) सम्यक्त्व प्रकृति - इन सात प्रकृतियों का उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

यहाँ **कोई पूछता है :** अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के कर्म के उदय से कलुषता है, उसको उपशम कैसे होगा ?

समाधान : काललब्धि आदि के निमित्त से होता है। प्रथम तो कर्मसहित भव्य आत्मा का संसार अर्द्धपुद्गल परिवर्तन जितना मात्र शेष रहने पर वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने योग्य होता है। यदि संसार (इससे) अधिक बाकी हो तो सम्यकत्व का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार एक काललब्धि तो यह है। दूसरी काललब्धि इस प्रकार है - जिसके कर्म की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बंधती हो, सत्ता के कर्म की (स्थिति उत्कृष्ट) हो एवं जघन्य स्थिति बंध की तथा सत्ता की हो, तो उस अवसर में सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता (अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मों के अथवा जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता)। तब कहाँ होता है ? जब अन्त: कोड़ाकोड़ी अर्थात् एक कोडाकोडी सागर से कम स्थिति लिये कर्म बंध होता हो, तथा विशुद्ध परिणामों के वश सत्ता में पड़े कर्मबंध की स्थिति संख्यात हजार सागर कम (अन्त: कोडाकोडी सागर) रह जाती है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व के योग्य होता है। तथा तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा है। जो भव्यजीव पंचेन्द्रिय हो, संज्ञी हो, पर्याप्त अवस्था सहित हो, सर्व विशुद्ध परिणाम हों, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। तथा 'आदि' शब्द से जातिस्मरण आदि (सम्यक्त्व के निमित्तों) को ग्रहण करना। तथा समस्त मोहनीयकर्म के उपशम से उपशम चारित्र होता है। तथा सूत्र में सम्यक्त्व को आदि में कहा है, क्योंकि चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है। आत्मा पहले सम्यक्त्व अवस्थारूप होता है, तब आत्मा के चारित्र अवस्था होती है।

यहाँ सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विशेष कथन करते हैं - प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है, फिर मिथ्यात्व कर्म के तीन विभाग करता है (1) मिथ्यात्व (2) सम्यग्मिथ्यात्व (3) सम्यक्त्व प्रकृतिमिथ्यात्व। यह कहाँ उत्पन्न होता है ? नारकी तो वहाँ उत्पन्न

होने के अन्तर्मुहूर्त बाद उपजाता है। पहली, दूसरी, तीसरी पृथ्वी (नरक) वाला कोई तो जातिस्मरण से, कोई धर्मश्रवण से, कोई वेदना से पीडित हुआ (सम्यक्त्व) उपजाता है। नीचे की चार पृथ्वियों वाले धर्मश्रवण को छोड़कर दो ही कारणों से (सम्यक्त्व) उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच पैदा होने के बाद चार से लेकर आठ दिन के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। वहाँ जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिंब दर्शन –ये तीन कारण हैं। देवगति में उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। वहाँ भवनवासी से लेकर सहस्त्रार स्वर्ग तक तो जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन, तथा देवों की ऋद्धि को देखने से –इन चार कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। आणत आदि चार स्वर्गों में देवों की ऋद्धि दर्शन को छोड़कर शेष तीन कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। नव ग्रैवेयक में जातिस्मरण, धर्मश्रवण इन दो ही कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, ऐसा जानना।

आगे जो क्षायिक भाव को नव प्रकार का कहा था, उसके भेदों का स्वरूप बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।। २–४ ।।

अर्थ : केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा 'च' शब्द से क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र – इन नव प्रकार का क्षायिकभाव है। यहाँ 'च' शब्द पिछले सूत्र में जो सम्यक्त्व और चारित्र कहा था, उनका ग्रहण करने के लिये कहा गया है। ज्ञानावरण नामक कर्म के अत्यन्त क्षय से तो केवलज्ञान क्षायिक होता है। उसी प्रकार दर्शनावरण नामक कर्म के अत्यन्त क्षय से केवलदर्शन क्षायिक होता है। तथा दानान्तराय नामक कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला **क्षायिक अभयदान** होता है। लाभान्तराय नामक कर्म के अत्यन्त अभाव से जिनके कवलाहार की क्रिया नहीं है, ऐसे केवली भगवान जिन को शरीर को बलप्रदान करने के कारणरूप, दूसरे मनुष्यों को नहीं हो ऐसा, परम सुन्दर, सूक्ष्म अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रति समय सम्बन्ध को प्राप्त हो ऐसे नोकर्म के समयप्रबद्ध का आना **क्षायिकलाभ** है। भोगान्तराय नामक कर्म के समस्त अभाव से अतिशयवान पुष्पवृष्टि आदि अनेक विशेषों वाले अनन्त क्षायिक भोग है। उपभोगान्तराय नाम के निरवशेष प्रलय होने से सिंहासन, चामर, छत्र त्रय आदि विभूतियों का होना क्षायिक अनन्त **उपभोग** है। वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक अनन्त**वीर्य** प्रगट होता है। पूर्व में कही मोहनीयकर्म की सातों प्रकृतियों का अत्यन्त नाश होने से **क्षायिक सम्यक्त्व** होता है। चारित्रमोह के अत्यन्त अभाव से **क्षायिक चारित्र** प्रकट होता है। इस प्रकार क्षायिक भाव नव हैं।

यहाँ **प्रश्न :** क्षायिक दान आदि भाव से अभयदान आदि होते हैं तो सिद्धों के भी अभयदान आदि का प्रसंग प्राप्त होगा ।

आचार्य **उत्तर** देते हैं : यह दोष यहाँ नहीं होता है, क्योंकि अरिहन्तों के शरीर नामक नामकर्म तथा तीर्थंकर नामक नामकर्म का उदय पाया जाता है, उसकी अपेक्षा ऐसा कथन किया है । सिद्धों में इन कर्मों का अभाव होने के कारण इनका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है ।

पुन: **प्रश्न :** यदि ऐसा है तो सिद्धों में इन भावों की प्रवृत्ति किस प्रकार है ?

उत्तर : परम उत्कृष्ट अनन्तवीर्य तथा अव्याबाध स्वरूप से ही उनकी सिद्धों में प्रवृत्ति है, जैसे केवलज्ञान रूप से अनन्तवीर्य की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार इसे भी जानना ।

आगे क्षायोपशमिक भाव के जो 18 भेद कहे हैं, उन भेदों के निरूपण के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा: सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।। २–५ ।।

अर्थ : ज्ञान के चार भेद (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान), अज्ञान के तीन भेद (कुमति, कुश्रुत, विभंग), दर्शन के तीन भेद (चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन), अन्तराय (कर्म) के क्षयोपशमरूप लब्धि पांच भेद – इस तरह पन्द्रह (15) भेद तो ये हुये तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम –ये तीन मिलाकर क्षयोपशमभाव के अठारह भेद हैं ।

चार, तीन, तीन तथा पांच इस प्रकार द्वंदवृत्ति से तथा ये भेद जिनके हैं, इस तरह भेद शब्द से वृत्ति करना । पूर्व सूत्र से 'यथाक्रम' शब्द की अनुवृत्ति मानना । चार आदि संख्याओं को ज्ञान आदि के साथ (क्रम से) गिनने । इस प्रकार चार ज्ञान–मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय हैं, तीन–अज्ञान कुमति, कुश्रुत, विभंग हैं, तीन दर्शन–चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन हैं, तथा पांच लब्धि–दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य हैं – इस तरह पन्द्रह हुए । सर्वघाति स्पर्धकों का तो उदयाभावी क्षय, तथा उन्हीं का सत्तारूप उपशम एवं देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर क्षयोपशमिक भाव होता है । यहाँ ज्ञान आदि की प्रवृत्ति अपने आवरण तथा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के कारण होती है । सम्यक्त्व से यहाँ वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करना । यह अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क के तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों के उदयाभावी क्षय से एवं सत्तारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय से सत्तारूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर तथा हास्य आदि नोकषायों का यथासंभव उदय होने पर जो त्यागरूप परिणाम आत्मा में होते हैं, वह क्षयोपशमिक चारित्र है । तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान की आठ कषायों के उदयाभावी क्षय,

तथा सत्तारूप उपशम एवं प्रत्याख्यान कषाय का उदय होने तथा संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने तथा नोकषाय का यथासंभव उदय होने पर जो आत्मा के विरताविरत परिणाम होते हैं, वह क्षयोपशमिक संयमासंयम है। इसे देशविरत भी कहते हैं।

यहाँ **कोई पूछता है :** स्पर्द्धक क्या होते हैं ?

समाधान : कर्म परमाणुओं में फल देने की शक्तिरूप रस के अविभागी प्रतिच्छेद के समूह की पंक्ति क्रमरूप वृद्धि तथा हानि को स्पर्द्धक कहा जाता है। एक समय में उदय में आये कर्म परमाणुओं से एक समयप्रबद्ध में सिद्धराशि के अनन्तवें भाग, तथा अभव्य राशि से अनन्तगुणे परमाणु होते हैं। उनमें से सबसे जघन्य गुण जिसमें हों ऐसा एक परमाणु लो। बुद्धि में अनुभाग का छेदन करते जाने पर जहाँ ऐसा छेद (टुकड़ा) हो जावे जिसका पुन: छेदन न हो सके, ऐसे अविभाग प्रतिच्छेद सर्व जीवों से भी अनन्तगुणे हैं, उनकी एक राशि करने पर उसका नाम 'वर्ग' है। तथा समान अविभाग प्रतिच्छेद वाले समूहरूप परमाणुओं के समूह को वर्गणा कहते हैं। कम से कम अविभाग प्रतिच्छेद वाले परमाणु को जघन्य वर्ग कहते हैं। इसके समान परमाणुओं वाले वर्ग के समूह का नाम 'जघन्य वर्गणा' है। जिसमें जघन्य वर्ग से एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक पाया जावे, ऐसे परमाणुओं के समूह को द्वितीय वर्गणा कहते हैं। इस ही प्रकार एक एक अविभागप्रतिच्छेदों के क्रम से जितनी वर्गणा हों उतनी वर्गणाओं के समूह का जघन्य स्पर्द्धक कहते हैं। इससे ऊपर जघन्य वर्गणा के वर्गों में जितने अविभाग प्रतिच्छेद थे, उससे दो गुणे जिस वर्गणा के वर्ग में अविभाग प्रतिच्छेद हों, वहाँ से द्वितीय स्पर्द्धक का प्रारम्भ होता हैं। वहाँ भी एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढने के क्रमरूप वर्गों के समूहरूप जितनी वर्गणायें हों, उनके समूह को द्वितीय स्पर्द्धक कहते हैं। तथा इसी प्रकार प्रथम स्पर्द्धक की प्रथम वर्गणा के वर्गों में जितने अविभाग प्रतिच्छेद थे, उनके तीनगुणे जिस वर्गणा के वर्गों के अविभाग प्रतिच्छेद हों, वहाँ से तीसरे स्पर्द्धक का प्रारंभ होता है। इस ही प्रकार की वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं। ऐसे स्पर्द्धक अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग एक उदयस्थान में होते हैं, ऐसा जानना।

आगे जो औदयिक भाव के इक्कीस भेद बताये थे, उनके नाम बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदा :।। २–६।।

अर्थ : गति के चार भेद, कषाय के चार भेद, लिंग अर्थात् वेद के तीन भेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध तथा छह लेश्या – इस प्रकार औदयिक भाव इक्कीस भेदों वाला है। यहाँ कषाय की तो पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति समझना। इसके सम्बन्ध से (यथाक्रम के कथन से) गति के चार भेद (1) नरकगति (2) तिर्यंचगति (3) मनुष्यगति (4) देवगति। ये अपने-अपने

नामकर्म की प्रकृति के उदय से होती हैं, अत: औदयिक हैं। तथा कषाय के चार भेद (1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ - ये भी अपनी-अपनी मोहनीय प्रकृति के उदय से होते हैं, अत: औदयिक हैं। लिंग के तीन भेद (1) स्त्रीलिंग (2) पुरुषलिंग (3) नपुंसकलिंग - ये भी अपनी-अपनी प्रकृति के उदय से होते हैं, अत: औदयिक हैं। मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व नामक मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से होता है, इसका परिणाम तत्त्वार्थ का अश्रद्धान होना है। तथा ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय से पदार्थों का (यथार्थ) ज्ञान नहीं होना अज्ञान है। चारित्रमोह के सर्वघाति स्पद्धकों के उदय से होने वाला असंयम औदयिक असंयम है। सामान्य कर्मों का उदय के कारण असिद्धत्व औदयिक है। तथा लेश्यायें द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार की हैं। यहाँ जीव के भावों का अधिकार (कथन) होने से द्रव्य लेश्याओं को ग्रहण नहीं करना चाहिये, भाव लेश्याओं को ही ग्रहण करना चाहिये। कषायों के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति लेश्या है, जो छह प्रकार की है (1) कृष्ण (2) नील (3) कपोत (4) पीत (5) पद्म (6) शुक्ल।

यहाँ **प्रश्न :** आगम में उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली (गुणस्थानवालों) को शुक्ल लेश्या बताई गयी है। यहाँ कषायों के उदय का अभाव होने से औदयिकपना संभव नहीं होगा।

आचार्य **उत्तर** देते हैं : यह दोष यहाँ नहीं आता। वहाँ पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा कथन है। जो योगों की प्रवृत्ति पहले कषायों से अनुरंजित थी, वह ही उपचार से यहाँ जानना। अत: औदयिक ही कही गयी हैं। तथा योगों के अभाव के कारण अयोगकेवली लेश्या रहित हैं, ऐसा निश्चय होता है।

यहाँ **कोई पूछता है :** अन्य प्रकृतियों के उदय में होने वाले भावों को औदयिक भावों में क्यों नहीं कहा ?

समाधान : उन्हें इन्हीं भावों में गर्भित जानना। शरीर आदि पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का तो यहाँ जीव के भावों का कथन होने के कारण अधिकार ही नहीं है। तथा जाति आदि जीवविपाकी प्रकृतियों को गति में गर्भित जानना। दर्शनावरणी के उदय को मिथ्यादर्शन कहने में गर्भित किया गया है, क्योंकि अतत्त्वश्रद्धान का नाम भी मिथ्यादर्शन है, तथा अन्यथा देखने का नाम भी मिथ्यादर्शन है। हास्य आदि वेद के सहचारी हैं, अत: वेद में गर्भित हो गये। तथा वेदनीय, आयु, गौत्र का उदय भी अघातिया है, उसे भी गति में गर्भित जानना।

आगे, पारिणामिक भाव के तीन भेदों के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं -

।। जीवभव्याभव्यत्वानि च ।। २-७ ।।

अर्थ : जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व - ये पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं। ये तीन पारिणामिक

भाव अन्य द्रव्यों से असाधारण आत्मा के समझना। इनमें कर्म का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है, ये द्रव्य के परिणाम की ही अपेक्षा सहित हैं। जीवत्व तो चैतन्य को कहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन आदि भावोंरूप परिणमेगा, उसे भव्य कहते हैं। जिसे सम्यग्दर्शन आदि (कभी) नहीं होंगे, उसे अभव्य कहते हैं। ये तीनों जीव के पारिणामिक भाव हैं।

यहाँ **प्रश्न :** अस्तित्व, नित्यत्व, प्रदेशत्व इत्यादि भाव भी पारिणामिक हैं, उन्हें भी इस सूत्र में ग्रहण करना चाहिये था।

उत्तर : इनका ग्रहण नहीं करना चाहिये अथवा 'च' शब्द से ग्रहण किया भी है।

पुनः **प्रश्न :** यदि ग्रहण किया है तो तीन की संख्या से विरोध आयेगा।

उत्तर : जीव के असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं। अस्तित्व आदि जीव के (भाव) भी हैं और अजीव के भी हैं, अतः साधारण हैं, अतः 'च' शब्द से इनका अलग से ग्रहण किया गया है।

यहाँ **तर्क :** औपशमिक आदि भाव जीव के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है। ये भाव कर्मबंध की अपेक्षा रखते हैं, अमूर्तिक को कर्मबंध युक्त नहीं है।

उत्तर : आत्मा अमूर्तिक ही है, ऐसा एकान्त नहीं है। यहाँ अनेकान्त है। आत्मा कर्मबंध पर्याय की अपेक्षा उस कर्म के बंधन से कथंचित् मूर्तिक है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्तिक है।

यहाँ पुनः **तर्क :** यदि ऐसा है तो कर्मबंध के बंधन से आत्मा का एकत्व निश्चित हुआ, तब अभेद हुआ, तब भेद (कर्म से अलग होना) कैसे संभव होगा ?

उत्तर : यह दोष नहीं है, क्योंकि बंधपर्याय की अपेक्षा एकत्वपने के होने पर भी लक्षण भेद से आत्मा के एवं कर्म के नानापणा, अनेकपणा है, ऐसा निश्चित किया जाता है। सिद्धान्त में ऐसी गाथा है, जिसका अर्थ (इस प्रकार है) – बंध की अपेक्षा जीव के और कर्म के एकत्वपणा है तथा लक्षणभेद से नानापना है, अतः जीव का अमूर्तिकत्व अनेकान्त से सिद्ध होता है।

इस प्रकार जीव के पांच भाव कहने से, सांख्यमती आदि जो एकान्त से आत्मा को शुद्ध ही कहते, मानते हैं, उनका निराकरण हुआ। यदि सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बंध, मोक्ष और मोक्ष के उपाय आदि का कथन सब मिथ्या ठहरेगा। तथा आत्मा को पांच भावरूप कहने से स्याद्वाद नय से बंध, मोक्ष आदि सब ही कथंचित् प्रकार सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सात सूत्रों द्वारा जीव के पांच भावों का वर्णन किया।

आगे जो बंध अपेक्षा (आत्मा और कर्म में) एकत्व है, तथा लक्षण भेद से आत्मा और बंध अलग अलग हैं, ऐसा जाना जाता है, तो जीव का लक्षण क्या है, जिससे इसे अलग जाना जा सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं –

।। उपयोगो लक्षणम् ।। २-८ ।।

अर्थ : जीव का लक्षण उपयोग है । उभयनिमित्त अर्थात् बाह्य एवं अभ्यंतर कारणों के वश उत्पन्न हुये चैतन्य के अनुविधायी जुड़े हुये चैतन्य ही का परिणाम उपयोग कहा जाता है । इसके द्वारा आत्मा और (कर्म) बंध में एकत्व (दिखाई देते) होते हुये भी आत्मा को अलग जान लिया जाता है, जैसे स्वर्ण और चांदी का एक पिंड होने पर भी पीत एवं श्वेतवर्ण आदि के द्वारा भेद जान लिया जाता है, वैसे ही (आत्मा और बंध में) भेद जाना जाता है।

यहाँ 'तत्त्वार्थवार्तिक' टीका के अनुसार कुछ कथन करते हैं - यहाँ बाह्य और अभ्यन्तर दो कारण कहे हैं, उनमें से भी बाह्य के दो भेद हैं (1) आत्मभूत (2) अनात्मभूत । वहाँ आत्मभूत तो शरीर के सम्बन्धरूप इन्द्रियों को कहा जाता है, तथा दीपक, प्रकाश आदि को अनात्मभूत कहा जाता है । तथा अभ्यन्तर कारण के भी आत्मभूत, अनात्मभूत दो भेद होते हैं । इनमें द्रव्यमन, वचन, काय के योग पुद्गलरूप हैं, इनको अनात्मभूत कहा जाता है, और आत्मा के चैतन्यभाव से तन्मय आत्मप्रदेशों में वीर्यान्तराय, ज्ञान, दर्शन के आवरण के क्षयोपशम तथा क्षय के अनुसार होने वाली उज्ज्वलतारूप भावयोग को आत्मभूत कहा जाता है । इनका यथासंभव सन्निधान हो, वह आत्मा का चैतन्यस्वभाव है । इसके अनुविधान अर्थात् अन्वयरूप से परिणमने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं ।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है : चैतन्य के परिणाम सुख, दु:ख, मोहरूप भी हैं, उन परिणामों को भी ग्रहण करना चाहिये था । अगले सूत्र में उपयोग के भेद ज्ञान और दर्शन बताये हैं, तब पूर्वापर विराध होता है ।

समाधान : यहाँ चैतन्य सामान्य के ग्रहण से सब ही का ग्रहण हो जाता है । परन्तु अगले सूत्र में जो ज्ञान, दर्शन ही के भेद किये हैं, उन्हें ही यहाँ ग्रहण करना, क्योंकि सामान्य का जो विशेष सर्व ही अवस्थाओं में व्यापक हो, उसी लक्षण को प्रकरण में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार विरोध नहीं होता है ।

यहाँ पूछते हैं : लक्षण क्या होता है ?

उससे कहते हैं : जहाँ बहुत सी वस्तुयें मिली हुई हों, उनमें से जिस (विशेष) चिह्न से (वांछित) वस्तु को अलग जाना जा सके, उस चिन्ह को लक्षण कहते हैं । यह लक्षण भी आत्मभूत और अनात्मभूत के भेद से दो प्रकार का होता है, जैसे अग्नि के उष्णता तो आत्मभूत है । दंडी पुरुष का दंड, यह अनात्मभूत है । यहाँ आत्मा के उपयोग लक्षण को आत्मभूत जानना ।

यहाँ **कोई कहता हैं :** उपयोग तो (आत्मा का) असाधारण धर्म है, अत: लक्षण नहीं है, गुण और गुणी में अन्यपना (भेद) होता है, अत: लक्ष्य और लक्षण में भेद है ।

उससे कहते हैं : सर्वथा भेद होने पर अनवस्था दोष होता है, अत: कथंचित भेदाभेदात्मक होने से लक्ष्य-लक्षण भाव की सिद्धि होती है । जिनके मत में आत्मा एकान्तरूप से नित्य, अभेद, ज्ञानस्वरूप है, उनके मत में ज्ञान के परिणाम जो अनेक ज्ञेयाकार होना, ऐसे उपयोग की सिद्धि नहीं होती, तब सर्व ही व्यवहार का लोप होता है । अत: चैतन्य के परिणाम को उपयोग मानने पर सर्वसिद्धि होती है । उपयोग तो लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है ।

यहाँ **कोई कहता है :** लक्ष्य आत्मा है ही नहीं (आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है) तब लक्षण किसका ? बिना लक्ष्य के लक्षण कहना खरगोश के सींग के समान, मैंढक के चोटी के समान, बांझ के पुत्र के समान, आकाश के फूल के समान अभावरूप (अस्तित्व रहित) है । तथा यदि आत्मा को माना भी जावे, तो ज्ञान दर्शन तो अनवस्थित हैं, वे लक्षण कैसे बनेंगे ? अनवस्थित को भी यदि लक्षण माना जावेगा तो लक्षण का अभाव होने पर लक्ष्य के भी अभाव का प्रसंग आवेगा ।

उससे कहते हैं : आत्मा का अभाव कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा का अभाव कारणपने के अभाव के कारण माना जावे तो आत्मा के नारक आदि पर्याय तो मिथ्यादर्शन आदि कारण से होती ही हैं, तथा नरक आदि पर्याय हैं वे द्रव्य के आश्रय के बिना, निराश्रय होती नहीं । अत: इनका आश्रय आत्मा द्रव्य ही है । तब कारणपने का अभाव कैसे कहा जा सकता है ? तथा सत् है वह बिना कारण भी होता है, जब सत् (अस्तित्ववान) है तो कारण की क्या आवश्यकता है । तथा मैंढक के चोटी के अभाव का दृष्टान्त दिया, वह मैंढक आदि तथा चोटी आदि का सत्त्व मानकर मैढक आदि के (चोटी आदि से)सम्बन्ध का अभाव माना गया है । यहाँ सत्त्व और असत्त्व दोनों पक्षों का ग्रहण है । अत: यह दृष्टान्त भी मिलता नहीं है, क्योंकि यह जीव कर्म के वश से अनेक जाति के सम्बन्धों को प्राप्त करता है । जब मैंढक हुआ तब तो चोटी का सम्बन्ध नहीं हुआ, तथा अन्य स्त्री पर्यायें प्राप्त की तब चोटी प्राप्त की, तब वह मैंढक का ही जीव था, स्त्री पर्याय में आया तब पूर्व पर्याय की अपेक्षा स्त्री को मैंढकी कहें, उसके चोटी कहें तो दोष नहीं है । ऐसा ही आकाश में फूल के दृष्टान्त के साथ भी घटित होता है, क्योंकि कर्म उदय से जीव वृक्ष हुआ, तब जीवपुद्गल के समुदाय को फूल नाम से कहा । इस प्रकार फूल जैसे पुद्गल द्रव्य से व्याप्त है, उसी प्रकार आकाश से भी व्याप्त कह सकते हैं ।

यहाँ **कोई पूछता है :** वृक्षरूप पुद्गल के किये उपकार के कारण वृक्ष का फूल कहा जाता है ।

तब कहते हैं : आकाश के किये अवगाहन उपकार की अपेक्षा आकाश का फूल भी कहा जावे तो क्या दोष है ? वृक्ष से तो (फूल) छूटता भी है, आकाश में तो सदा रहता है, अत: नित्य सम्बन्ध है । यदि कहा जावे कि फूल आकाश से भिन्न वस्तु है, अत: आकाश का नहीं कहा जा सकता । यदि

ऐसा कहते हो तो वृक्ष से भी फूल भिन्न पदार्थ है, अत: वृक्ष का भी नहीं कहा जा सकता – इत्यादि युक्ति से यह दृष्टान्त भी बनता नहीं। अत: कारण के अभाव के कारण आत्मा का अभाव मानना तो बनता नहीं है। तथा अनवस्थित उपयोग के लक्षणपने के अभाव कहा जावे, तो चैतन्य का परिणाम ज्ञेयाकार रूप परिणमता ही है, सामान्य उपयोग तो नित्य ही रहता है। इस ही से वस्तु का भेदाभेदात्मक स्वरूप निर्बाध रूप से सिद्ध है।

यदि कहा जावे कि आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है, अत: अभाव मानना चाहिये। तो **कहते हैं–** शुद्धात्मा तो सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानगोचर है, तथा कर्म नोकर्म बंध सहित आत्मा अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के भी गम्य है।

यदि कहा जावे – इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, अत: अप्रत्यक्ष है, और इन्द्रियज्ञान तो परोक्ष है। तथा मानस प्रत्यक्षगम्य कहा जाता है, वह भी व्यवहारनय से सिद्ध होता ही है। परमार्थ से तो मानसप्रत्यक्ष परोक्ष ही है। इस ही प्रकार अन्यवादियों द्वारा कल्पित आत्मा का अभाव सिद्ध करने वाले हेतु हैं, वे सब बाधासहित हैं, क्योंकि आत्मा प्रतीतिसिद्ध है। तथा इसका जो उपयोग लक्षण भी प्रतीति सिद्ध है। इसकी विशेष चर्चा 'श्लोकवार्तिक' तथा 'तत्त्वार्थवार्तिक' ग्रन्थों से जानना।

यहाँ **कोई पूछता है :** पहले जीव का स्वतत्त्व भाव कहा, अब लक्षण कहा तो स्वतत्त्व में और लक्षण में क्या (विशेष) अन्तर है ?

समाधान : स्वतत्त्व तो लक्ष्य आत्मा ही है और लक्षण है वह लक्षण ही है। लक्षण है वह लक्ष्य नहीं होता है, क्योंकि लक्ष्य लक्षण में कथंचित् भेदाभेद पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। वहाँ क्षायिक तथा क्षयोपशमिक भाव में ज्ञान और दर्शन को अलग-अलग कहा है, उन दोनों में सामान्य रूप से व्याप्त उपयोग को यहाँ लक्षण कहा है। चैतन्य शक्ति की लब्धि तो नित्य है। उसकी व्यक्तता पांच भावोंरूप अनेक है। उनमें छद्मस्थ का उपयोग भी अनित्य है। उसकी स्थिति एक ज्ञेय में उत्कृष्टरूप से अन्तर्मुहूर्त मात्र कही गयी है। तथा अनुभवगोचर है, अत: प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध हो उसे ही लक्षण (बनाया) जाता है। आत्मा लक्ष्य है यह शक्ति व्यक्तिमय है और लक्षण व्यक्त ही होता है। अत: आत्मा की सिद्धि वादी और प्रतिवादी दोनों में प्रसिद्ध उपयोग ही से होती है। अत: उपयोग को लक्षण कहा है।

आगे, जो (आत्मा का लक्षण) उपयोग कहा है, उसके भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद: ।। २ – ९ ।।

अर्थ : पिछले सूत्र में जो उपयोग का कथन किया है, वह ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञान के आठ भेद हैं और दर्शन के चार भेद हैं। उपयोग दो प्रकार का है (1) ज्ञानोपयोग (2)

दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद –(1) मतिज्ञान (2) श्रुतज्ञान (3) अवधिज्ञान (4) मन:पर्यय ज्ञान (5) केवलज्ञान (6) मत्यज्ञान (मति अज्ञान) (7) श्रुताज्ञान (श्रुत अज्ञान) (8) विभंगज्ञान हैं। तथा दर्शनोपयोग चार प्रकार का है (1) चक्षुदर्शन (2) अचक्षुदर्शन (3) अवधिदर्शन (4) केवलदर्शन।

यहाँ **प्रश्न :** दर्शन में और ज्ञान में क्या भेद है ?

उससे कहते हैं : साकार और अनाकार के भेद से भेद है। ज्ञान तो साकार है, क्योंकि ज्ञेय के आकार होता है। दर्शन अनाकार है, क्योंकि वह सत्तामात्र को आकार से रहित ग्रहण करता है। ये दोनों छद्मस्थ जीव के तो अनुक्रम से वर्तते हैं। पहले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान होता है। तथा निरावरण केवली भगवान के ये दोनों एककाल में युगपत् प्रवर्तते हैं। यहाँ सूत्र में दर्शन से पहले ज्ञान का कथन किया है, क्योंकि ज्ञान पूज्य और प्रधान है, एवं यहाँ सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है, अत: (ज्ञान को पहले) कहा है। तथा पहले ज्ञान को पांच प्रकार का कहा था, पर यहाँ उपयोग के कथन में विपर्ययज्ञान का भी ग्रहण किया है, अत: आठ प्रकार का कहा है। इस प्रकार दो सूत्रों द्वारा कहा गया उपयोग लक्षण जीव को शरीर से भिन्न सिद्ध करता है, जैसे उष्णजल की अवस्था में द्रव्यपना और उष्णपना जल और अग्नि के भेद को सिद्ध करता है (उसी प्रकार)। जहाँ दो वस्तुओं का एक पिंड हो, वहाँ लक्षण भेद से ही भिन्नता देखी जा सकती है, ऐसा जानना।

आगे ऐसे उपयोग से सहित जो जीव उपयोगवान है, वह दो प्रकार के हैं, उसका सूत्र कहते हैं –

।। संसारिणो मुक्ताश्च ।। २ – १० ।।

अर्थ : उपयोग वाले जीव संसारी और मुक्त अर्थात् सिद्ध – इस तरह दो प्रकार के हैं।

'संसरण' अर्थात् परिभ्रमण परिवर्तन संसार है। यहाँ लक्षण ऐसा है कि अपने भावों से बांधे कर्मों के वश (जीव की) भव से भवांतर प्राप्ति को संसार कहते हैं। ऐसा संसार जिसके हो, वे संसारी कहे जाते हैं। यह परिवर्तन पांच प्रकार का है (1) द्रव्य परिवर्तन (2) क्षेत्र परिवर्तन (3) काल परिवर्तन (4) भव परिवर्तन (5) भाव परिवर्तन। उनमें **द्रव्य परिवर्तन** दो प्रकार का है (1) नोकर्म परिवर्तन (2) कर्म परिवर्तन। पहले **नोकर्म परिवर्तन** का कथन करते हैं – तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल परमाणु के स्कंध एक जीव ने एक समय में ग्रहण किये, वे स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गंध आदि तीव्र, मंद, मध्यम भाव से जैसे बंधे थे, वे द्वितीय आदि समयों में खिरें तथा द्वितीय आदि समय में बिना ग्रहण किये परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करे, उनका उल्लंघन करके पहले ग्रहण किये थे, उनमें से ग्रहीत भी और नवीन ग्रहण किये वे भी, दोनों के मिले हुये ग्रहण करे, उसको मिश्र कहते हैं, उन्हें भी अनन्तबार अनन्तबार ग्रहण कर उनका उल्लंघनकर, तथा बीच में गृहीत ग्रहण किये थे, वे गृहीत ग्रहण होते जावें, वे अनन्तबार ग्रहण में आवें, उनको उल्लंघन करके,

जिसमें जो पहले समय परमाणु ग्रहण किये थे, वे ही, वैसे ही स्पर्श आदि के अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्या लिये तथा उतने ही परमाणु वाले समयप्रबद्ध को ग्रहण करे, ऐसा होने में जो काल व्यतीत हुआ, तब एक नोकर्म परिवर्तन होता है ।

तथा कर्म द्रव्य परिवर्तन का कथन करते हैं – एक समय में एक जीव ने अष्टविध (आठ प्रकार के) कर्मभाव से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे आवलीमात्र से एक समय अधिक काल बाद द्वितीय आदि समयों में निर्जरित हुये, पुन: ऊपर कहे ही विधान के अनुसार अनन्तबार अगृहीत, गृहीत, मिश्र ग्रहण करते, जब कोई ऐसा समय हो जिसमें पहले समय में उस जीव ने जैसे स्पर्श आदि के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या लिये उतने ही समयप्रबद्ध में (कर्मपुद्गल परमाणु) आवें जावें, तब उतना ही काल एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है । इस प्रकार द्रव्य परिवर्तन का कथन किया । यहाँ अन्य ग्रन्थ में गाथा है, उसका अर्थ (इस प्रकार है)– इस पुद्गल परिवर्तनरूप संसार में इस जीव ने निश्चितरूप से सब ही पुद्गलों को अनुक्रम से ग्रहण कर करके छोड़ा है ।

आगे **क्षेत्र परिवर्तन** का कथन करते हैं – कोई सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव सब से जघन्य अवगाहना जितने शरीर को प्राप्त कर, इस लोक के मध्य के आठ प्रदेशों को अपने शरीर के मध्यप्रदेश करके उत्पन्न हुआ । बाद में क्षुद्रभव की आयु जो स्वांस के अठारह भाग है, (पूरी कर) मरा । वह ही जीव उतनी ही अवगाहना लेकर फिर उत्पन्न हुआ, मरा । इस ही प्रकार तीसरी बार, चौथी बार इत्यादि अपने शरीर (में जितने अर्थात्) घनांगुल के असंख्यातवें भाग असंख्यात प्रदेश हैं, उतनी ही बार उत्पन्न हुआ । बीच में अन्य अवगाहना तथा अन्य क्षेत्र में अनन्तबार उत्पन्न होता रहा , उन्हें गिनना नहीं है । तथा फिर एक–एक प्रदेश बढ़ता (बढ़ती अवगाहना लिये) सर्व लोक के क्षेत्र का स्पर्श कर अनुक्रम से उत्पन्न हो, अनुक्रमरहित उत्पन्न हो, उन्हें गिनना नहीं है । इस प्रकार सर्व लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, उसमें उसे जितना कुछ अनन्त काल बीते, उसे एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं । यहाँ अन्य ग्रन्थ में गाथा है, उसका अर्थ (इस प्रकार है) – इस क्षेत्र संसार में भ्रमते यह जीव अनन्त अवगाहनारूप शरीर को प्राप्त कर इस लोक के क्षेत्र में अनुक्रम से उत्पन्न हुआ है, वहाँ ऐसा कोई क्षेत्र रहा नहीं, जहाँ उत्पन्न न हुआ हो ।

आगे **काल परिवर्तन** का कथन करते हैं – कोई जीव उत्सर्पिणी काल के पहले समय में उत्पन्न हुआ, अपनी आयु पूरी होने पर मरा । वही जीव दूसरे उत्सर्पिणी काल के दूसरे समय में उत्पन्न होकर फिर आयु पूर्ण कर मरा । वही जीव तीसरे उत्सर्पिणी काल के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ (तथा मरा)। इस ही प्रकार वही जीव चौथे उत्सर्पिणी काल के चौथे समय में जन्मा । इस ही प्रकार अनुक्रम से दश कोड़ाकोड़ी सागर के उत्सर्पिणी काल के समयों में निरन्तर जन्म ले, बीच – बीच में बिना

अनुक्रम के अन्य-अन्य समयों में जन्म ले, उन्हें गिनना नहीं है। इस ही प्रकार अवसर्पिणी काल के समयों में जन्म ले, उसके भी दश कोड़ाकोड़ी सागर बीतें। तथा जिस प्रकार जन्म लिया उसी प्रकार उन ही समयों में अनुक्रम से मरे। इसमें जितना कुछ अनन्त काल बीते उसे एक काल परिवर्तन कहते हैं। यहाँ अन्य ग्रन्थ में गाथा है, उसका अर्थ (लिखते हैं)- यह जीव काल परिवर्तन नामक संसार में भ्रमता उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों की पंक्ति में अनेक बार जन्मा और मरा, उसमें कोई समय अवशेष नहीं रहा, इतना भ्रमा।

आगे **भव परिवर्तन** का कथन करते हैं - नरक गति में सबसे जघन्य आयु दशहजार वर्ष की है। उस आयु को प्राप्तकर प्रथम नरक के पहले पटल में उत्पन्न हुआ। बाद में अन्य गतियों में भ्रमण करता हुआ पुन: किसी काल में उस ही आयु को प्राप्त कर उत्पन्न हुआ। इस ही प्रकार दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी बार उस ही आयु सहित उस ही स्थान पर उत्पन्न हो। बीच में अन्य स्थान पर उत्पन्न हो तो उसे गिनना नहीं है। इसके बाद दश हजार वर्ष से एक समय की अधिक आयु प्राप्त कर उत्पन्न हो, फिर दशहजार वर्ष से दो समय अधिक की आयु प्राप्तकर उत्पन्न हो। इस ही अनुक्रम से तेंतीस सागर तक का समय जन्मकर तथा मरणकर पूर्ण करे। बीच-बीच में अनुक्रम से रहित अन्य आयु अथवा अन्य गति प्राप्तकर उत्पन्न हो, उसे गिनना नहीं। इस ही प्रकार भ्रमते फिर इस ही प्रकार तिर्यंच गति में जघन्य आयु जो अन्तर्मुहूर्त है, वह पाकर उत्पन्न हो। ऊपर कहे क्रम से यहाँ भी तीन पल्य प्रमाण आयु के समयों में अनुक्रम से जन्मे, मरे। फिर इस ही प्रकार मनुष्य गति की तीन पल्य की आयु के समयों में अनुक्रम से उपजे, मरे। फिर इस ही प्रकार देवगति की ग्रैवेयकों की आयु इकतीस सागर तक आयु के समयों में वहाँ उत्पन्न हो तथा मरण करे। इस तरह जितना अनन्तानन्त काल बीते उसे एक भव परिवर्तन कहते हैं। यहाँ भी अन्य ग्रन्थ की गाथा है, जिसका अर्थ (लिखते हैं) -यह जीव भव परिवर्तन नामक संसार में मिथ्यात्व सहित नरक की जघन्य आयु लेकर ग्रैवेयकों की उत्कृष्ट आयु तक अनेक बार भवों की स्थिति की आयु प्राप्तकर करके भ्रमा है।

आगे **भाव परिवर्तन** का कथन करते हैं - जीव के परिणामों को भाव कहते हैं। कोई जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति के अपने योग्य जघन्य अंत:कोटाकोटी अर्थात् कोड़ाकोड़ी सागर से कम और करोड़ सागर से अधिक की स्थिति को प्राप्त हो। इसके लिये जो कारण हैं, वे कषायाध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं। उन एक-एक स्थान में अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। उनमें अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि तथा इस ही प्रकार हानि भी। इस तरह षट्स्थानप्रति (वाली) हानि - वृद्धि संभव होती है, ऐसे हैं। इस अंत:कोटाकोटी सागर की स्थिति बांधने के लिये कारणरूप वे

कषायभाव के स्थान असंख्यात लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने हैं। इन कषाय स्थानों में प्रत्येक में अनुभागबंधाध्यवस्थान जो अनुभाग बंध के लिये कारण हैं, ऐसे परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। कोई जीव जघन्य स्थिति को बांधे, वहाँ उसके लिये कारणरूप जो कषायस्थान हैं, उनमें से जघन्यस्थान को लो। वहाँ उस कषायस्थान में अनुभागबंध के लिये जो स्थान कारण हैं, उनमें से भी सबसे जघन्यस्थान को लो। वहाँ जो उस प्रकृतिबंध के लिये जो कारण हैं, वे योगस्थान भी श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात हैं। वे अविभाग प्रतिच्छेद की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि रहित, तथा अनन्तगुणवृद्धि रहित चार स्थान रूप ही हैं। उनमें से उस प्रकृति के योग्य एक स्थान लो। तथा योगस्थान पलटे तब द्वितीय, तृतीय इस तरह जगतश्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र जो योगस्थान हैं, वे अनुक्रम से हों। बीच-बीच में अन्य कषायस्थान, अन्य अनुभागस्थान, अन्य योगस्थान हों, उन्हें नहीं गिनना है। इस प्रकार जब श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान हो चुकें तब एक अनुभागस्थान बदले। इस प्रकार असंख्यातलोक प्रमाण अनुभाग स्थानों में प्रत्येक में योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते जावें, तब अनुभागस्थान असंख्यातलोक प्रमाण हो चुकें, तब एक कषायस्थान पलटे। इस प्रकार दूसरा कषाय स्थान हो। दूसरे कषाय स्थान में भी इसी प्रकार अनुभाग स्थान तथा योगस्थान हो चुकें, तब तीसरे कषायस्थान में अनुभागस्थान योगस्थान हो। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायस्थान हो चुकें तब एक स्थितिस्थान पूर्ण होकर दूसरा स्थितिस्थान हो। दूसरे स्थितिस्थान में (स्थिति) अंत:कोटाकोटी (सागर) से एक समय अधिक लो। तथा उस ही प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायस्थानों में प्रत्येक में असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागस्थान हो, तथा उन प्रत्येक अनुभागस्थान में असंख्यात योगस्थान हो जावे, तब तीसरा स्थितिस्थान एक समय और अधिक (अर्थात् अंत:कोटाकोटी सागर से दो समय अधिक) का लो। तथा ज्ञानावरणीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। उनके क्रम से एक-एक समय की स्थिति बढते इस ही प्रकार कषायस्थान हों। बीच में जीव के अन्य अन्य भाव हों, उन्हें गिनना नहीं। इस प्रकार सर्व कर्मों की मूलप्रकृतियों की स्थिति तथा उत्तर प्रकृतियों के कारण रूप कषायस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान क्रम से पलट-पलटकर हो चुके। उसमें जितना अनन्तानन्त काल बीते, उसे एक भाव परिवर्तन कहते हैं।

इन (परिवर्तनों) का काल उत्तरोत्तर अनन्तानन्त गुणा होता है। द्रव्यपरिवर्तन का अनन्तकाल, उससे अनन्तगुणा क्षेत्रपरिवर्तन का काल, उससे भी अनन्त गुणा काल परिवर्तन का काल, उससे भी अनन्त गुणा भव परिवर्तन का काल, उससे भी अनन्त गुणा भाव परिवर्तन का काल है, ऐसा जानना। यहाँ अन्य ग्रन्थ में गाथा है, उसका अर्थ (लिखते हैं)- मिथ्यात्व के कारण जीव ने इस भाव संसार में भ्रमते सर्व प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंध के जितने स्थान हैं, वे सब ही प्राप्त किये हैं।

ऐसे पांच प्रकार संसार से जो जीव रहित हो गये वे सिद्ध हुये, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं ।

यहाँ संसारियों का ग्रहण पहले किया है, क्योंकि मुक्त अवस्था संसारपूर्वक है, तथा संसारियों के भेद बहुत हैं, एवं संसारी जीव अनुभवगोचर भी हैं । मुक्त (जीव) अत्यन्त परोक्ष हैं । इन हेतुओं के कारण संसारियों को पहले ग्रहण किया है ।

आगे कहते हैं कि ये संसारी जीव दो प्रकार के हैं । इसका सूत्र –

।। समनस्कामनस्का: ।। २–११ ।।

अर्थ : संसारी जीव समनस्क अर्थात् मनसहित और अमनस्क अर्थात् मनरहित इस प्रकार दो प्रकार के हैं । मन दो प्रकार का है – (1) द्रव्यमन (2) भावमन । उनमें जिसमें पुद्गल विपाकी कर्मप्रकृति की अपेक्षा है, ऐसे हृदयस्थान में खिले हुये कमल के आकार का सूक्ष्म पुद्गल प्रचयरूप से होता है, वह तो द्रव्यमन है । तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की जिसमें अपेक्षा है, ऐसी आत्मा की विशुद्धि भावमन है । इस मन के सहित हों, वे समनस्का हैं, और जिनके मन विद्यमान नहीं है, वे अमनस्का हैं । इस प्रकार मन के सद्भाव, अभाव की अपेक्षा संसारी जीवों के दो भेद हैं । यहाँ समास में समनस्का पहले कहा गया है, वह पूज्यपने के कारण कहा गया है । समनस्क को गुणदोष का विचार होता है, अत: प्रधान है ।

आगे पुन: संसारी जीवों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। संसारिणस्त्रसस्थावरा : ।। २ – १२ ।।

अर्थ : संसारी जीव त्रस तथा स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

यहाँ **कोई कहता है :** सूत्र में 'संसारी' का ग्रहण निरर्थक है, क्योंकि पिछले सूत्र में संसारी के भेद कहे हैं, अत: प्रकरण से ही जाना जाता है ।

समाधान : यह (शब्द) निरर्थक नहीं है, क्योंकि यह इससे ठीक पहले वाले सूत्र में समनस्क और अमनस्क कहे हैं, वे संसारी (जीव के भेद) हैं, ऐसा ज्ञान कराने के लिये हैं । यदि इसे पूर्व सूत्र का विशेषण न किया जावे तो उससे भी पिछले सूत्र में 'संसारिणो मुक्ताश्च' ऐसा कहा है, वहाँ इस सूत्र का यथासंभव सम्बन्ध हो, तब समनस्क तो संसारी हैं और अमनस्क (सभी) मुक्त हैं, ऐसा अनिष्ट अर्थ हो जावेगा । अत: इस सूत्र की आदि में 'संसारी' का ग्रहण युक्त है । तथा यह जैसे पूर्व सूत्र की अपेक्षा है, वैसे ही अगले की भी अपेक्षा है, क्योंकि संसारी ही त्रस और स्थावर दो प्रकार के होते हैं। उनमें त्रस नामक नामकर्मकी प्रकृति के उदय से तो त्रस होते हैं एवं स्थावर नामक नामकर्म की प्रकृति के उदयवश स्थावर होते हैं।

यहाँ **कोई कहता है** – इन शब्दों का अर्थ तो इस प्रकार है कि पीड़ित हो, भयसहित हो, चले,

भगे वह तो त्रस और जिनका स्वभाव स्थिर रहने का हो, वे स्थावर । तब ऐसा ही अर्थ क्यों नहीं बताया ?

समाधान : ऐसा कहने पर आगम से विरोध आता है । आगम में कायानुवाद की अपेक्षा कथन करते ऐसा कहा है कि द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली तक के सब त्रस हैं । अत: चलने न चलने की अपेक्षा से त्रस और स्थावरपना नहीं है, कर्मोदय की अपेक्षा से ही है ।

तथा इस सूत्र में आदि (शुरु) में त्रस का ग्रहण किया है, वह इसके अक्षर अल्प होने तथा इसके पूज्य प्रधानता (होने से किया है) क्योंकि इसके सर्व उपयोग संभव होने से पूज्यपना है, उसकी यहाँ अपेक्षा है ।

यहाँ विशेष : चलने ही की अपेक्षा त्रस कहा जावे तो पवन आदि त्रस कहे जावेंगे । और गर्भ आदि में (जीव) स्थावर निश्चित होगा । तथा यदि स्थित रहने की अपेक्षा ही स्थावर कहा जावेगा तो पवन आदि स्थावर नहीं होंगे । अत: कर्मोदय की अपेक्षा ही (ये भेद करना) युक्त है । तथा यदि सर्व जीवों को स्थावर ही कहा जावे, त्रस न कहा जावे, क्योंकि जीव क्रिया से रहित सर्वगति है, तो जीव तत्त्व के नाना भेद संभव नहीं होंगे । अत: क्रिया सहित कथंचित् असर्वगति ही मानना योग्य है । यदि सभी जीवों को त्रस ही माना जावे, स्थावर नहीं माना जावे तो वनस्पतिकायिक आदि जीव नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि चलते को ही जीव कहने पर सोता हुआ, मूर्छित, अंडा आदि स्थिर भी जीव नहीं ठहरेंगे । यदि कहा जावे कि उनका आकार (आहार) विशेष है, अत: जीव हैं तो वनस्पति के भी जल आदि आहार मिलने, न मिलने से हरित होना, सूख जाना, ऐसे लक्षण से जाना जाता है कि ये जीव हैं । अत: स्थावर और त्रस दो भेद मानना ही युक्त है ।

आगे क्रम के अनुसार तो पहले त्रस के भेद बताना बनता है, परन्तु उसका उल्लंघन करके एकेंद्रिय स्थावर के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं, क्योंकि एकेंद्रिय के बहुत भेद नहीं कहने हैं । अत: इनको पहले कहते हैं –

।। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: ।। २ –१३ ।।

अर्थ : (1) पृथ्वी (2) अप् (जल) (3) तेज (4) वायु (5) वनस्पति – ये पांच स्थावर जीव हैं । स्थावर नामक नामकर्म की प्रकृति के पृथ्वीकाय आदि भेद कहे हैं । उनके उदय के निमित्त से जीवों को पृथ्वीकायिक आदि संज्ञा (नाम) जानना । इनके शब्द पृथन् आदि धातुओं से प्राप्त होते हैं, फिर भी रूढि के वश पृथन् आदि अर्थात् विस्तार आदि अर्थों की यहाँ अपेक्षा नहीं करनी है । इन पृथ्वी आदि के आर्ष अर्थात् ऋषियों के आगम में चार–चार भेद बताये हैं । उन्हें भी बताते हैं – पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव । अप्, अप्काय, अप्कायिक, अप्जीव । तेज,

तेजकाय, तेजकायिक, तेजजीव । वायु, वायुकाय, वायुकायिक, वायुजीव । वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक, वनस्पतिजीव । अचेतन पुद्गल अपने स्वभाव ही से कठिनता आदि गुणों सहित हैं, उसे पृथ्वी कहते हैं, क्योंकि अचेतनपने के कारण पृथ्वीकाय नामकर्म की प्रकृति का उदय न होने पर भी पृथन क्रिया अर्थात् फैलने आदि क्रिया से सहित होने से पृथ्वी ही हैं । अथवा दूसरा अर्थ यह भी है कि जिसमें अगले तीन भेद पाये जावें ऐसे सामान्य को भी **पृथ्वी** कहते हैं । तथा जिस शरीर में पृथ्वीकायिक जीव था, यह मरा, तब उसका शरीर रहा, उसे **पृथ्वीकाय** कहते हैं, जैसे मृत मनुष्य का काय (शरीर) हो, उसी प्रकार (यह जानना) । तथा जिसके पृथ्वीकाय हो, ऐसे जीव को **पृथ्वीकायिक** कहते हैं, यह पृथ्वी शरीर के सम्बन्ध सहित है । तथा पृथ्वीकाय नामक नामकर्म की प्रकृति का जिसको उदय आने पर अन्य काय के शरीर से छूटा, पर पृथ्वीकाय शरीर का ग्रहण नहीं किया, इस अन्तराल में कार्मण योग में स्थित है, अत: उसे **पृथ्वीजीव** कहते हैं । इस ही प्रकार अप्काय आदि में भी अर्थ ग्रहण कर लेना । ये पांच स्थावर जीव है । इनके चार प्राण होते हैं (1)स्पर्शन इन्द्रिय प्राण (2) कायबल प्राण (3) उच्छवासनिश्वास प्राण (4) आयु प्राण ।

इतना विशेष है कि अनादि कर्म संयोग के कारण केवलज्ञान से घटते-घटते ज्ञान का अपकर्ष करें (जघन्यतम सीमा ग्रहण करें) तब भी सूक्ष्मज्ञान एकेंद्रिय को (अवश्य) रहता है ।

यहाँ **प्रश्न :** घटते घटते जड़ ही क्यों नहीं रह जाता (ज्ञान का पूर्ण नाश क्यों नहीं हो जाता) ?

उससे कहते हैं : घटना तो स्वयं में ही होता है । जड़ तो अन्य द्रव्य है । प्रध्वंसाभाव तो सत्त्व में ही कहा जाता है । तथा सत्त्व का अत्यन्त अभाव कभी युक्त (संभव) नहीं है ।

कोई पूछता है : कर्म के अत्यन्त अभाव कैसे होता है ?

उससे कहते हैं : पुद्गल ही कर्मरूप हुआ था, उनके कर्मभाव का नाश हो जावे तब भी पुद्गल परमाणुओं का तो अभाव नहीं होता । इस तरह एकेंद्रिय में ज्ञान का परम अपकर्ष निश्चित किया जाता है । अत: स्थावर जीवों का सद्भावयुक्त है (स्थावर जीवों में ज्ञान का सद्भाव रहना युक्त है)

आगे, त्रस जीव कौन से हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। द्वीन्द्रियादयस्त्रसा: ।। २ – १४ ।।

अर्थ : द्वीन्द्रिय जीव से लेकर तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेंद्रिय जीव (सब) त्रस हैं ।

जिसके दो ही इन्द्रियां हैं, उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं । तथा द्वीन्द्रिय जिनके आदि (प्रारम्भ) में है, उन्हें द्वीन्द्रिय आदि कहते हैं । यहाँ 'आदि' शब्द आगम में इनकी व्यवस्था होने का वाचक है – इस प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिंय, चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रिय । यहाँ तद्गुणसंविज्ञान समास का ग्रहण है, अत: द्वीन्द्रिय को भी इसमें शामिल करना, क्योंकि इस समास में आदि (जिसका आदि कहा गया है, उस)

का भी ग्रहण हो जाता है ।

यहाँ **प्रश्न :** इनके कितने - कितने प्राण हैं ?

तब कहते हैं : द्वींद्रिय के छह प्राण हैं, चार प्राण तो वे ही हैं, जो एकेंद्रिय के बताये थे, तथा रसना इन्द्रिय और वचनबल ये दो अधिक होकर छह प्राण हो जाते हैं । त्रीन्द्रिय के घ्राण इन्द्रिय और बढ़कर सात प्राण हैं । चतुरिन्द्रिय के चक्षुइन्द्रिय और बढ़ जाने से आठ प्राण हैं । तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में जो असंज्ञी (मन रहित) हैं, उनके कर्ण इन्द्रिय और बढ़कर नव प्राण हैं, तथा संज्ञी मन सहित सभी जीवों) के मनबल और बढ़कर दश प्राण हैं ।

इस तरह पांच सूत्रों द्वारा सब ही संसारी जीवों का कथन किया ।

यहाँ **कोई पूछता हैं :** विग्रहगति अन्तराल में इन्द्रियां नहीं होती, उनका ग्रहण कैसे हुआ ?

उसको कहते हैं : त्रस और स्थावर नामकर्मों का उदय विग्रहगति में भी है । यदि इन बिना हो तो जीव मुक्त ठहरेगा, अत: वे भी इनमें शामिल हो जाते हैं ।

आगे, ऊपर दो इन्द्रिय आदि कहा था, उस 'आदि' शब्द में कहाँ तक शामिल किया जावे ? उनकी संख्या की मर्यादा बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। पंचेंद्रियाणी ।। २ - १५ ।।

अर्थ : इन्द्रियां पांच हैं । इन्द्रिय शब्द का अर्थ तो पहले बताया ही था । इंद्र अर्थात् संसारी जीव आत्मा के लिंग को बताने का चिन्ह, तथा इन्द्र अर्थात् नामकर्म के द्वारा रचे गये आकार इन्द्रियां हैं । 'पांच' शब्द से यह नियम बताया है कि इन्द्रियां पांच ही हैं, हीनाधिक नहीं ।

यहाँ **अन्यमती कहता है :** कर्मइन्द्रिय अर्थात् वचन, हाथ, पांव, वायु, उपस्थ इनको भी कहा जाना चाहिये था ।

उससे कहते हैं : यहाँ नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ आत्मा के उपयोग का प्रकरण है । अत: उपयोग के कारणों को ही ग्रहण करना है, क्रिया के साधनों को नहीं । यदि क्रिया के साधन भी ग्रहण किये जावें तो अनवस्था दोष आवेगा, अंगोपांग नामकर्म द्वारा रचित जो क्रिया के साधन हैं, उन सभी को ग्रहण करना पड़ेगा, वचन आदि पांच ही का ग्रहण कैसे होगा ?

आगे इन इन्द्रियों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।।द्विविधानि ।। २ - १६ ।।

अर्थ : इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय - इस तरह दो प्रकार की हैं । यहाँ 'विध' शब्द प्रकारवाची है । उसका समास इस प्रकार होता है, जिसके दो प्रकार हों उसे द्विविध कहते हैं, ऐसा अर्थ हुआ । वे कौन से (दो प्रकार) हैं ? वे (1) द्रव्येन्द्रिय (2) भावेन्द्रिय हैं ।

अब द्रव्येन्द्रिय के स्वरूप का निर्णय करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।। २ –१७ ।।

अर्थ : द्रव्येन्द्रिय (1) निर्वृत्ति (2) उपकरण – इस तरह दो प्रकार की हैं। जो कर्म द्वारा रचित हों, उन्हें निर्वृत्ति कहते हैं। ये भी दो प्रकार की हैं (1) बाह्यनिर्वृत्ति (2) अभ्यन्तर निर्वृत्ति। उत्सेध अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण तथा शुद्ध आत्मप्रदेश जो भिन्न–भिन्न नेत्र आदि इन्द्रियों के आकार से अवस्थित हों, उन्हें तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा उन आत्मप्रदेशों में जिनका नाम इन्द्रिय है, ऐसे जो भिन्न–भिन्न आकार नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुये विशेष अवस्था को प्राप्त जो पुद्गल का संचित समूह वह बाह्यनिर्वृत्ति है। तथा जो निर्वृत्ति का उपकार करे वह उपकरण भी दो प्रकार का है (1) अभ्यन्तर उपकरण (2) बाह्य उपकरण। उनके काला सफेद जो आंखों में गोलाकार मंडल आदि हैं, वे तो अभ्यन्तर उपकरण हैं, तथा पलक तथा नेत्र जिससे ढके जावें ऐसा डोला इत्यादि बाह्य उपकरण हैं। इस ही प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी जान लेना।

आगे भावेन्द्रिय का कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।। २ – १८ ।।

अर्थ : भावेन्द्रिय (1) लब्धि (2) उपयोग – इन दो रूप है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के विशेष की प्राप्ति तो लब्धि है, तथा जिसे निकट होते आत्मा द्रव्य इन्द्रियरूप निर्वृत्ति व्यापार करे, प्रवर्तन करे ऐसी लब्धि जिसको निमित्त हो, ऐसे आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

भावार्थ : ज्ञेय के आकार परिणमनरूप ज्ञान हो, वह उपयोग कहा जाता है। ऐसे ये दोनों भावेन्द्रिय हैं।

यहाँ **कोई पूछता है :** उपयोग तो इन्द्रिय का फल है, उसे इन्द्रिय कैसे कहा ?

समाधान : जो कारण का धर्म हो, उसे कार्य में भी देखा जाता है, जैसे घट के आकाररूप परिणमित ज्ञान को घट कहा जाता है, उसी प्रकार। तथा 'इन्द्रिय' शब्द का स्वार्थ (खुद का अर्थ) है, वह भी उपयोग में मुख्य है, इसलिये भी इन्द्रिय कहते हैं, जैसे इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिंग हो उसे इन्द्रिय कहते हैं, यह अर्थ भी उपयोग में मुख्यरूप से है, इसलिये जीव का लक्षण उपयोग है, ऐसा कहा है।

आगे इन्द्रियों की संज्ञा (नाम) और क्रम के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।। २ – १९ ।।

अर्थ : पांच इन्द्रियों के नाम स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र हैं। इनके नामों की निरुक्ति अर्थ बताते हैं – लोक में इन्द्रियों की पराधीन विवक्षा देखी जाती है, जैसे लोक में कहा जाता है –' मैं इन

नेत्रों से भली प्रकार देखता हूँ, तथा मैं इन कानों से भली प्रकार सुनता हूँ'। अत: परतंत्रता से स्पर्शन आदि के कारणपना बन जाता है। वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय के लाभ के अवलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा विषय को स्पर्शे, उसे स्पर्शन कहते हैं। इस ही प्रकार जिसके द्वारा अपने विषय का आस्वादन करे, उसे रसना कहते हैं। इस ही प्रकार जिसके द्वारा सूंघे, उसे घ्राण कहते हैं। जिसे द्वारा देखे उसे चक्षु कहते हैं। ऐसे ही जिसके द्वारा सुने उसे श्रोत्र कहते हैं। तथा लोक में स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन विवक्षा भी है, जैसे लोक में कहा जाता हैं – 'ये मेरे नेत्र भली प्रकार देखते हैं, ये मेरे कान भली प्रकार सुनते हैं' इत्यादि। अत: स्वतंत्र अर्थ करने पर कर्त्ता अर्थ भी होता है, जैसे जो विषयों को स्पर्शे उसे स्पर्शन कहते हैं। इस ही प्रकार जो आस्वादे उसे रसना कहते हैं। सूंघे उसे घ्राण कहते हैं, देखे उसे चक्षु कहते हैं, सुने उसे श्रोत्र कहते हैं। सूत्र में इनके नाम अनुक्रम से कहे हैं, वह एकेंद्रिय आदि जीवों के ये जिस क्रम से एक-एक बढती हैं, उसका ज्ञान कराने के लिये है, जिसे आगे कहेंगे।

यहाँ विशेष : स्पर्शन को आदि में कहा, क्योंकि यह शरीरव्यापी है। रसना, घ्राण, चक्षु अल्प व्यापी हैं। श्रोत्र को अन्त में कहा, क्योंकि यह बहुत उपकारी है। धर्म श्रवण आदि के उपकार के कारण इसकी प्रधानता है। इन इन्द्रियों के परस्पर विषय भेद भी है, अत: ये अपने-अपने विषय का ग्रहण करती हैं। तथा अभेद भी है, क्योंकि भाव इन्द्रियां तो एक आत्मा ही का परिणाम है, और द्रव्य इन्द्रियां एक पुद्गल का परिणाम है।

आगे इन इन्द्रियों के विषय बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्था: ।। २ –२० ।।

अर्थ : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द – ये पांच इन्द्रियों के पांच विषय हैं। यहाँ स्पर्श आदि शब्दों के द्रव्य और पर्याय की प्रधान विवक्षा में कर्मसाधन तथा भावसाधन है। द्रव्यप्रधान विवक्षा में तो कर्मसाधन है। स्पर्श किये जाने को स्पर्श कहते हैं। आस्वादने को रस कहते हैं। सूंघने को गंध कहते हैं। वर्णिये, जो देखा जाता है, उसे वर्ण कहते हैं। जो शब्द रूप होता है, उसे शब्द कहते हैं। तथा पर्याय की प्रधान विवक्षा में भावसाधन है। स्पर्शना स्पर्श है, रसना रस है, सूंघना गंध है, वर्णना वर्ण है, शब्द होना शब्द है। तथा इनका जो क्रम कहा है, वह इन्द्रियों के क्रम के अनुसार कहा है।

आगे कहते हैं – मन अनवस्थित है, अत: यह इन्द्रिय नहीं है। इस तरह इसके इन्द्रिय होने का निषेध किया है। तो यह मन उपयोग का उपकारी है अथवा नहीं है। यदि कहते हो उपकारी है, क्योंकि मन के बिना इन्द्रियों के विषयों में विशिष्ट अपने प्रयोजनरूप प्रवृत्ति नहीं होती है। तब पूछते हैं – मन और इन्द्रियों के केवल सहकारी (सहायता करना) मात्र ही प्रयोजन है या कुछ और भी

प्रयोजन है ? ऐसा पूछने पर मन का प्रयोजन दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। श्रुतमनिन्द्रियस्य ।। २ – २१ ।।

अर्थ : अनिन्द्रिय अर्थात् मन का श्रुत अर्थात् श्रुतगोचर पदार्थ है, वह विषय है, प्रयोजन है। श्रुतज्ञान को जो विषय रूप अर्थ है, उसे श्रुत कहते हैं। यह (श्रुत) अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय है, क्योंकि जिसने श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम को प्राप्त किया है, ऐसे आत्मा द्वारा सुने गये पदार्थ में मन के अवलम्बन स्वरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है अथवा श्रुतज्ञान को भी श्रुत कहते है । यह ज्ञान अनिन्द्रिय (मन) का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है । यह प्रयोजन मन के स्वत: आधीन ही साध्य है । इन्द्रियों की अधीनता इसमें नहीं है ।

यहाँ **कोई कहता है :** सुनना तो श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है ।

समाधान : सुनना तो श्रोत्र इन्द्रिय का ही विषय है, वह तो मतिज्ञान है । इसके बाद जीवादि पदार्थों का विचार करना वह श्रुतज्ञान है, जो मन का ही विषय है ।

आगे, जिनका अलग-अलग विषय कहा, उन इन्द्रियों के स्वामी कौन हैं, यह बतावें । तब सबसे पहले कही गयी स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामित्व के नियम के लिये सूत्र कहते हैं –

।। वनस्पत्यन्तानामेकम् ।। २ – २२ ।।

अर्थ : जिनके अन्त में वनस्पति है वे जो पहले कही गयी पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति हैं, इनके एक अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय है । एक अर्थात् पहली स्पर्शन इन्द्रिय पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के जीवों के होती है । उस स्पर्शन इन्द्रिय के उत्पत्ति का कारण बताते हैं – वीर्यान्तराय स्पर्शन इन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने तथा शेष इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय होने, तथा शरीर नामक नामकर्म के उदय के लाभ का अवलम्बन होने पर एकेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय के वशवर्तिपना होने पर जीव के एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है । अत: स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामी पांच स्थावर काय के जीव हैं, ऐसा जानना ।

आगे अन्य इन्द्रियों के स्वामियों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।। २ – २३ ।।

अर्थ : कृमि अर्थात् लट आदि, पिपीलिका अर्थात् चींटी आदि, भ्रमर अर्थात् भंवरा आदि, मनुष्य आदि के स्पर्श इन्द्रिय के बाद एक-एक बढती इन्द्रियां हैं । एक एक वीप्सा अर्थात् बारबार कहने के अर्थ में दो बार 'एक' शब्द कहा गया हैं । यहाँ कृमि से आरम्भ करके और इन्द्रियों में स्पर्शन को साथ लेकर एक-एक इन्द्रिय अधिक जानना । तथा 'आदि' शब्द को सबके साथ जोड़ना। यहाँ कृमि अर्थात् लट आदि जीवों के एक रसना इन्द्रिय अधिक है, अर्थात् स्पर्शन और

रसना ये दो (इन्द्रियां) हैं। पिपीलिका अर्थात् चींटी आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण –इस तरह तीन इन्द्रियां हैं। भ्रमर आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु –ये चार इन्द्रियां है। तथा मनुष्य आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र –ये पांच इन्द्रियां हैं। इस तरह एक एक बढती यथाक्रम संख्या जानना। इसकी उत्पत्ति स्पर्शन की उत्पत्ति की तरह ही कर्मों के निमित्त से होती है। तथा आगे आगे जो जो इन्द्रियां जिनके नहीं हैं, उनके उन उन इन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय होता है।

आगे दो भेद (त्रस और स्थावर) तथा इन्द्रियों के भेद से पांच प्रकार के संसारी जीवों में पंचेन्द्रिय के भेद नहीं कहे गये हैं, उनको बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। सञ्ज्ञिनः समनस्काः ।। २ – २४ ।।

अर्थ : पंचेद्रिय जीवों में जो मनसहित हैं, वे संज्ञी हैं। मन का कथन पूर्व में किया था, वह जानना। उस मन सहित हों अर्थात् समनस्क हैं, वे संज्ञी हैं। संज्ञी कहने की सामर्थ्य ही से (परिशेष न्याय से) अनशेष संसारी जीव रहे, वे असंज्ञी हैं, ऐसा सिद्ध हो जाता है, अतः इनके लिये अलग कोई सूत्र नहीं कहा है।

यहाँ कोई **तर्क** करता है : 'संज्ञी' कहने मात्र ही से अर्थ तो आ जावेगा, पर जो समनस्क विशेषण कहा वह अनर्थक है, क्योंकि मन का व्यापार हित की प्राप्ति और अहित के परिहार की परीक्षा करना है, तथा संज्ञा भी यही है।

समाधान : ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'संज्ञा' शब्द के अनेक अर्थ हैं, अतः व्यभिचार आता है। वहाँ सर्व प्रथम तो संज्ञा नाम को कहा जाता है, तब नाम जिनके हो वह संज्ञी, तथा सर्व ही प्राणी नाम सहित होते हैं, तब ऐसा कहने से अति (व्याप्ति) का प्रसंग होगा। तथा यदि कहा जावे कि संज्ञा संज्ञान अर्थात् भले ज्ञान को कहते हैं, तो यहाँ भी अति प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि संज्ञान सब ही प्राणियों को है। तथा आहार आदि की अभिलाषा को भी संज्ञा कहते हैं, यहाँ भी अति प्रसंग ही होता है, क्योंकि ऐसा (आहार आदि की अभिलाषा) भी सब ही प्राणियों को पाई जाती है। अतः समनस्क विशेषण कहना सफल है। तथा ऐसा (यह विशेषण) कहने से गर्भ में स्थित जीव, अंडे में स्थित जीव, मूर्छित हुये तथा सोती हुई अवस्था में प्रणियों के हित अहित की परीक्षा का अभाव होने पर भी मन का सद्भाव होने से संज्ञीपना कहना बन जाता है।

यहाँ विशेष : शिक्षा, क्रिया, आलाप को ग्रहणरूप संज्ञा जिसके हो वही संज्ञी है। कोई कहता है कि जिसके स्मरण (याद रखना) हो वह संज्ञी है, वहाँ ऐसा समझना कि स्मरण सामान्य तो सब ही प्राणियों के है, तत्काल का जन्मा हुआ बच्चा माता के स्तन के लग जाता (दूध खींच लेता) है, यह

पूर्व आहार से ही आया (के स्मरण से ही हुआ) है, अत: आहार की अभिलाषारूप संस्कार का स्मरण उसको है। इत्यादि (इसी प्रकार) उदाहरण सभी जीवों के अनेक जन्मों में अनुभव में आते हैं, अत: अभिलाषा रूप संज्ञा तो सब ही के स्मरण सामान्य है। तथा स्मरण विशेष जो शिक्षा, क्रिया, आलाप में हैं, वे तो संज्ञी हैं ही।

इस प्रकार जीव का स्वरूप, तत्त्व, स्वलक्षण, भेद, इन्द्रियां, मन एवं इन्द्रियों के स्वामियों का कथन किया। वहाँ सामान्य कथन तो संग्रह नय अपेक्षा और विशेष कथन व्यवहार नय अपेक्षा, तथा दोनों को प्रमाण से जानना।

आगे पूछते हैं कि प्राणियों को हिताहित का विचार मन के विचारपूर्वक होता है, तो नये शरीर को ग्रहण करने के लिये उद्यमी हुआ, तब पहले वाला शरीर तो छूट गया (नया अभी मिला नहीं) तब मन तो है नहीं, फिर भी इसके कर्म का आस्रव होता है, वह किस कारण होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर कहते हैं –

।। विग्रहगतौ कर्मयोग: ।। २ – २५ ।।

अर्थ : विग्रहगति अर्थात् (पिछले शरीर के छूट जाने और नये शरीर की प्राप्ति) अन्तराल में अनाहारक अवस्था में कार्माणयोग है। विग्रह देह को कहते हैं, उसके अर्थ (प्राप्ति के लिये) जो गति अर्थात् गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा विग्रह अर्थात् व्याघात, कर्म का आस्रव होने पर भी नोकर्म पुद्गल का निरोध अर्थात् रूकना। इस प्रकार विग्रह करके गमन करना वह विग्रहगति है। तथा सभी शरीरों की उत्पत्ति कराने के लिये बीजरूप शरीर कार्माण शरीर है, उसे कर्म कहते हैं। तथा योग है, वह वचन–मन–काय की पुद्गलवर्गणा जिसको निमित्त है, ऐसे आत्मप्रदेशों की चंचलता है। उस कार्माण शरीर द्वारा किया योग विग्रहगति में होता है। अत: विग्रहगति में कर्म का ग्रहण भी होता है। इससे देशान्तर का संक्रमण (एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन) भी होता है।

यहाँ विशेष : कोई पूछता है कि आत्मा तो सर्वगति है, उसके गमन क्रिया नहीं होती है, तथा पूर्व शरीर के छूटने और उत्तर (नये) शरीर के ग्रहण के बीच अन्तराल भी नहीं होता है।

समाधान : आत्मा गमनक्रिया सहित प्रत्यक्ष देखने में आता है, क्योंकि आत्मा शरीर प्रमाण है, यह तो अनुभवगोचर है। तथा शरीर के साथ इसका गमन है। अन्य शरीर ग्रहण करे तब अन्तराल में कार्मण शरीर न हो तो वहाँ मुक्तजीव के समान कर्म का ग्रहण भी न हो, तब नवीन शरीर क्यों ग्रहण करे ? अत: (आत्मा) गमन भी करता है, और अन्तराल में कार्मणयोग भी है, यह निश्चित है।

आगे (विग्रह गति) में एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमन करते जीव पुद्गलों का गमन श्रेणीबद्ध सीधा होता है, या जैसे – तैसे (कैसे भी)? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। अनुश्रेणी गतिः ।। २-२६ ।।

अर्थ : (विग्रह गति में) जीवों का और पुद्गलों (कार्मण शरीर के पुद्गलों) का गमन आकाश के श्रेणीबद्ध प्रदेशों में ही होता है, विदिशाओं में नहीं होता। लोक के मध्य से लेकर ऊर्ध्व अधः तिर्यक् आकाश के प्रदेशों का अनुक्रम से पंक्ति रूप अवस्थान को श्रेणी कहते हैं। यहां 'अनु' शब्द श्रेणी के अनुक्रम को बताता है। जीव तथा पुद्गल की गति सीधी होती है, यह अर्थ है।

प्रश्न : जब यहाँ जीव का अधिकार (कथन चल रहा) है, तो फिर पुद्गल का ग्रहण कैसे किया ?

उत्तर : यहाँ गमन के संबंध में कथन है और गमन जीव का भी होता है और पुद्गल का भी। अतः दोनों को ग्रहण करना। यदि जीव की ही गति मानी जावे तो गति का ग्रहण अनर्थक होगा; क्योंकि गति के संबंध में तो प्रश्न है ही तथा अगले सूत्र में जीव का ग्रहण किया गया है, अतः यहां पुद्गल की भी प्रतीति होती है।

पुनः **प्रश्न :** चन्द्रमा और अन्य ज्योतिष देवों का मेरु की प्रदक्षिणा करते समय तथा विद्याधर आदि का बिना श्रेणी भी गमन होता है। तब ऐसा कैसे कहा है कि गमन श्रेणीबद्ध ही होता है ?

उत्तर : यहाँ काल और क्षेत्र का नियम करके (विशेष काल और विशेष क्षेत्र अपेक्षा) कहा है। तहाँ जीवों के मरण के (बाद के) काल में अन्य भव के लिये (क्षेत्र से क्षेत्रान्तर) गमन होता है तथा मुक्त जीव के ऊर्ध्व गमन होता है, श्रेणीरूप ही गमन होता है। वहां उस काल में यह नियम है तथा ऊर्ध्वलोक से अधोलोक, अधोलोक से ऊर्ध्वलोक तिर्यकलोक से ऊपर नीचे गमन करता है वह श्रेणीरूप ही करता है तथा पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन करता है तब सीधा ही गमन करता है। ऐसा देश (आंशिक) नियम है तथा (अन्य काल में) अन्य प्रकार गमन करे तब यह नियम नहीं है। गमन सीधा भी हो वक्र भी हो।

आगे इस ही का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। अविग्रहा जीवस्य ।। २-२७ ।।

अर्थ : मुक्त जीव की गति अविग्रहा अर्थात् वक्रता रहित है। श्रेणीबद्ध गमन करके एक समय में सिद्धक्षेत्र में जा स्थित होता है। विग्रह व्याघात को कहते हैं। उसे कौटिल्य अर्थात् वक्रता भी कहते हैं। इसप्रकार का विग्रह जहां नहीं हो उसे अविग्रह कहते हैं। ऐसी अविग्रह गति मुक्त जीव की होती है।

यहाँ मुक्त जीव का नाम कैसे जाना ?

पिछले सूत्र में संसारी का नाम है, इससे जाना जाता है कि यहाँ मुक्त जीव (का कथन) है।

तर्क : अनुश्रेणी गति नामक सूत्र से ही अन्य गति का निषेध हुआ, फिर इस सूत्र से क्या प्रयोजन है ?

समाधान : पिछले सूत्र में अनुश्रेणी गति का तो कथन किया। वहां इस सूत्र से ऐसा जाना जाता

है कि कहीं श्रेणी के बिना भी गमन होता है, इसके लिये यह सूत्र है।

वह **पुनः कहता है** – देश काल का नियम वहां भी बताया ?

उससे कहते हैं – वहां सूत्र में देश काल का नियम नहीं कहा था; अतः इस सूत्र से बताया है।

आगे कर्म से रहित असंग आत्मा का तो प्रतिबंध रहित लोक के अंत तक गमन नियत समय में है वह जाना तथा देह सहित जो संसारी जीव है उनकी गति प्रतिबंध सहित है या मुक्त आत्मा की तरह सीधी है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।। २–२८ ।।

अर्थ : संसारी जीव की गति विग्रह सहित है मोड लेती है। वहां चार समय से पहले पहले तीन (तक) मोडे वाली है। यहां 'प्राक् चतुर्भ्यः' शब्द तो काल अर्थात् समय के नियम के लिये है। प्राक् शब्द का अर्थ मर्यादा है। चौथे समय से पहले विग्रह वाली गति होती है, चौथे समय में मोड नहीं है।

प्रश्न : चौथे समय में विग्रह गति क्यों नहीं है ?

उत्तर : प्राणी को सर्वोत्कृष्ट विग्रह जिसमें निमित्त है ऐसे क्षेत्र जिसे निष्कुट कहा जाता है वहां उत्पन्न होना हो, वहां अनुश्रेणी गति के अभाव के कारण इषुगति का अभाव होने से निष्कुट क्षेत्र में पहुंचने के लिये तीन मोडे वाली विग्रहगति का आरंभ करता है। उसके अतिरिक्त कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें (तीन) मोड लेकर पहुंचे। अतः विग्रह तीन ही समय तक है चौथे समय में नहीं है। यहां सूत्र में 'च' शब्द है वह संसारी जीव की गति विग्रह सहित भी है और विग्रह रहित भी है ऐसे समुच्चय के लिये है।

यहां विशेष : जो गतियां कही गयी है उनके नाम आगम में १. इषुगति २. पाणिमुक्ता ३. लांगलिका ४. गोमुत्रिका है। उनमें **इषुगति** तो विग्रह रहित होती है, जैसे इषु अर्थात् तीर चले तो सीधा अपने लक्ष्य पर पहुंचता है। इसका काल एक समय है, यह संसारी जीव के भी होती है और मुक्त जीव के भी होती है। पाणिमुक्ता में एक मोड होता है। इसका काल दो समय है। जैसे पाणि अर्थात् हाथ में जल आदि द्रव्य लेकर उसे डाला जावे तो एक मोड ले । यह संसारी के ही होती है तथा **लांगलिका** गति में दो मोड होते है, इसका काल तीन समय है। जैसे लांगल अर्थात् हल में दो मोड होते हैं वैसे। यह भी संसारी जीव के ही होती है। **गोमूत्रिका** गति का काल चार समय है, इसमें तीन मोड होते हैं, चौथे समय में निष्कुट क्षेत्र में पहुंच जाता है। जैसे गाय पेशाब करती चले तब पेशाब में कई मोड होते हैं, उसकी यहां उपमा दी है। तीन को बहु कहा जाता है अतः तीन ही मोड है। यह गति भी संसारी के ही होती है।

आगे पूछते हैं विग्रह गति के काल का तो नियम बताया, अविग्रहगति के काल का नियम क्या

है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। एकसमयाऽविग्रहा ।। २–२९ ।।

अर्थ : अविग्रहगति का काल एक समय है। एक है समय जिसका उसे एक समय कहते हैं। जिसमें विग्रह विद्यमान नहीं है, उसे अविग्रहा कहते हैं। ऐसे गतिसहित जीव पुद्गलों की गति अव्याघात अर्थात् रुकने मुडने के बिना एक समय काल मात्र की होती है। इसे ही ऋजुगति भी कहते हैं जो क्षेत्र की अपेक्षा लोक के अन्त तक हो सकती है। अधोलोक से लेकर ऊर्ध्वलोक तक लोक का अन्त चौदह राजू का है। यदि जीव पुद्गल सीधा गमन करे तो एक समय में चौदह राजू पहुंचे – ऐसा भावार्थ है।

आगे अनादिकर्म बंध की संतति में मिथ्यादर्शन आदि कारणों के वश कर्म को ग्रहण करते हुये इस जीव को विग्रह में भी अनाहारक होने का प्रसंग प्राप्त होता है। अत: उसके नियम के लिये सूत्र कहते हैं –

।। एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक: ।। २–३० ।।

अर्थ : विग्रह गति में यह जीव एक समय अथवा दो समय अथवा तीन समय के लिये अनाहारक रहता है, नोकर्मवर्गणा का आहार (को ग्रहण) नहीं करता है। समय का कथन चल रहा होने से यहाँ समय का संबंध कर लेना चाहिये तथा सूत्र में **'वा'** शब्द विकल्प के अर्थ में है। जहाँ तक इच्छा (आवश्यक) हो वहाँ तक ग्रहण कर लेना विकल्प है। जैसे पाणिमुक्ता गति करे तो एक समय ही अनाहारक रहे। लांगलिका गति करे वह दो समय ही अनाहारक रहता है। गोमूत्रिका गति करे वह तीन समय तक अनाहारक रहता है। चौथे समय तो आहारक ही होता है; क्योंकि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जहाँ के लिये फिर मुड़ना पड़े। औदारिक, वैक्रियक, आहारक – इन तीन शरीरों तथा आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलवर्गणा का ग्रहण आहार कहा जाता है। अत: जिसके ऐसा आहार नहीं है, वह अनाहारक है तथा कर्मवर्गणा का ग्रहण जब तक शरीर होता है, तब तक निरंतर होता है। अत: उत्पन्न होने के लिये क्षेत्र की अपेक्षा यदि ऋजुगति ही हो तो (वह जीव वहाँ) आहारक ही है। विग्रहगति में तीन समय तक अनाहारक रह सकता है। इस तरह छह सूत्रों में गमन विशेष का निरूपण किया।

आगे (इस प्रकार) भवान्तर के लिये गमन करते जीव के नवीन शरीर उत्पत्ति के प्रकारों (भेदों) के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं –

।। सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ।। २–३१ ।।

अर्थ : जीव नवीन शरीर धारण करे उसका जन्म तीन प्रकार (भेदों वाला) है – संमूर्छन, गर्भ,

उपपाद। ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक - इन तीनों लोकों में जहाँ तहाँ (चारों ओर से शरीर बनने योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर) अवयवसहित देह (शरीर) बन जावे उसे संमूर्छन कहते हैं। संमूर्छन का अर्थ अवयवों की रचना होना है तथा स्त्री के शरीर में वीर्य और खून का गरल अर्थात् मिश्रण होना, मिलना वह गर्भ है। अथवा माता द्वारा उपयुक्त किये आहार का जिसमें गरणा अर्थात् निगलना होता हो, उसे गर्भ कहते हैं। तथा जिसमें प्राप्त होकर ही, उत्पन्न होते ही उठे-चले – ऐसे देव-नारकियों के उत्पन्न होने के स्थान को उपपाद कहते हैं। संसारी जीवों के जन्म के ये तीन प्रकार हैं। जो शुभ-अशुभ परिणामों के निमित्त से बंधे कर्मों के भेदों के उदय से किये होते हैं।

यहाँ विशेष – जन्म के ये भेद सामान्य रूप से किये गये हैं। इन्हीं के विशेष भेद किये जावें तो अनेक है। गर्भ जन्म और उपपाद जन्म के कारण तो प्रकट हैं। संमूर्छन जन्म के बाह्य कारण प्रत्यक्षगोचर नहीं है, कहीं भी उत्पत्ति हो जाती है – ऐसा जानना।

आगे (यहाँ तक) संसार को भोगने की प्राप्ति के आश्रयभूत जन्म का कथन (अधिकार) था अब इनकी योनियों के भेद कहने चाहिये। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। सचित्तशीतसंवृता: सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनय: ।। २-३२ ।।

अर्थ : सचित, शीत, संवृत तथा इनके इतर (प्रतिपक्षी) अचित, उष्ण, विवृत एवं तीनों के मिश्र ये योनियों के नव भेद हैं।

आत्मा के चैतन्य के विशेषरूप परिणाम को चित कहते हैं। उस चित सहित हो उसे सचित कहते हैं। शीत स्पर्श का विशेष है, जैसे वर्ण का भेद शुक्ल है। शीत द्रव्यवाचक भी है, और गुणवाचक भी है। अत: शीत कहने से शीतल द्रव्य को भी ग्रहण करना। आच्छादित ढके हुये को संवृत कहते हैं अर्थात् जिसके प्रदेश दिखने में न आवे। इतर से सहित हो उसे सेतर कहते हैं। प्रतिपक्षी सहित अर्थात् अचित, उष्ण, विवृत। तथा दोनों के मिले हुये को मिश्र कहते हैं - अर्थात् सचित्तोचित, शीतोष्ण, संवृतविवृत। इसतरह कुल नव हुये। यहाँ सूत्र में च शब्द से मिश्र को भी योनियों में ही गिनना (इस अर्थ में है)। यदि च शब्द न हो तो सचित्त आदि कहे उन ही का मिश्र शब्द विशेषण ठहरेगा, अत: मिश्र भी योनियाँ ही है, इनका समुच्चय च शब्द करता है तथा एकश शब्द है, वह वीप्सा अर्थात् पुन:-पुन: ग्रहण के अर्थ में है। अत: मिश्र शब्द का ग्रहण तीनों स्थानों पर अनुक्रम से करना है। इससे ऐसा जाना जाता है - सचित अचित मिश्र शीत उष्ण मिश्र संवृत विवृत मिश्र। तथा ऐसा मत मानना कि सचित शीत का मिश्र इत्यादि। सूत्र में तत शब्द है, वह ये योनियाँ जन्म के प्रकार हैं, यह ज्ञात कराने के लिये है। ये नव योनियाँ तीन प्रकार के जन्म जो कहे हैं, उन्हीं के प्रकार हैं – ऐसा समझना।

यहाँ **कोई कहता है** – योनि और जन्म में भेद नहीं है, अविशेष है।

समाधान : आधार-आधेय के भेद से भेद है। यहाँ योनियाँ तो आधार है और जन्म के प्रकार आधेय हैं; क्योंकि सचित् आदि योनियों के आधार से आत्मा संमूर्छन आदि जन्म कर शरीर आहार इन्द्रियों आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। देव नारकियों की तो अचित् योनि होती है क्योंकि इनके उत्पन्न होने के स्थान के पुद्गल स्कंध अचित होते हैं। गर्भज प्राणियों की मिश्र योनि है, क्योंकि इनके उत्पन्न होने के स्थान माता के उदर में वीर्य और शोणित तो पुद्गल है, अत: अचित् है और माता का आत्मा चित्तवान है, इस कारण मिश्र कही जाती है। संमूर्छन प्राणी तीनों ही प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। कुछ तो सचित योनि में उत्पन्न होते हैं, जैसे असाधारण शरीर वाले जीवों के एक ही शरीर में बहुत जीव होते हैं, अत: परस्पर आश्रय के कारण सचित हैं। कई अचित योनि में उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पन्न होने के स्थान पुद्गल स्कंध ही हैं। कई मिश्रयोनि (में उत्पन्न होते) हैं।

देव-नारकियों की शीत और उष्ण दोनों प्रकार की योनियां हैं। उनके उत्पन्न होने के स्थान कुछ तो शीत हैं, कुछ उष्ण हैं। तेजस्काय जीवों की योनि उष्ण ही है। अन्य प्राणी कई तो शीत योनि में उत्पन्न होते हैं, कई उष्ण में और कई मिश्र (शीतोष्ण) में उत्पन्न होते हैं। देव-नारकी तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत है। देव-नारकी तो संपुट में उत्पन्न होते हैं, एकेन्द्रिय भी ढकी योनि में ही उत्पन्न होते हैं। विकलत्रय विवृत योनि में उत्पन्न होते हैं। गर्भज मिश्र योनि में उत्पन्न होते हैं, कई प्रदेश गूढ (ढके) होते हैं, कई प्रदेश उघडे (खुले) होते हैं। इनके चौरासी लाख भेद हैं, जो आगम में बताये गये हैं। इस संबंध में एक गाथा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है -

नित्यनिगोद, इतर निगोद एवं धातु अर्थात् पृथ्वी, अप, तेज, वायु – इन छह की तो सात-सात लाख योनियाँ है। इस तरह बयालीस लाख हुई तथा वनस्पति के दश लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों की बावन लाख योनियाँ हुई तथा विकलत्रयों में दो इन्द्रिय की दो लाख, तीन इन्द्रिय की दो लाख, चार इन्द्रिय की दो लाख इस प्रकार छह लाख योनियाँ है तथा देवों की चार लाख, नारकियों की चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार लाख, मनुष्यों की चौदह लाख – इसतरह पंचेन्द्रियों की छब्बीस लाख योनियाँ है। कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हुई। इनका विशेष स्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञानियों के गम्य है।

आगे इन नव योनिसंकट में तीन प्रकार से जन्म ग्रहण करते संसारी जीवों के जन्म का नियम बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ: ।। २-३३ ।।

अर्थ : जरायुज, अंडज, पोतज इन तीन प्रकार के प्राणियों के गर्भजन्म ही है। जो जाल के समान परिवरण अर्थात् जाल से वेष्टित हों तथा जिसमें मांस और शोणित हो उसे तो जरायु कहते हैं।

इसमें जिनका जन्म हो, उन्हें जरायुज कहते हैं। तथा नख के ऊपर की त्वचा जैसा ऊपर से कठिन हो त्वचा में खून से वेष्टित हो गोलाकार हो वह अंड है। उसमें उत्पन्न हो, वह अंडज कहा जाता है। तथा जो ऊपर से वेष्ठित न हो तथा योनि में से निकलते ही संपूर्ण अवयव शरीर सहित चलने आदि की सामर्थ्य सहित हो उसे पोत कहते हैं। ये तीनों गर्भ की योनियाँ है।

आगे पूछते हैं - जरायुज, अंडज और पोत जीवों का तो गर्भ से उत्पन्न होने का नियम बताया उपपाद जन्म किनका होता है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। देवनारकाणामुपपादः ।। २-३४ ।।

अर्थ : देव और नारकी जीवों के उपपाद जन्म है। देवों के और नारकियों के उपपाद जन्म होता है, अन्य जन्म नहीं होता - ऐसा नियम है।

आगे पूछते हैं इनके अतिरिक्त अन्य जीवों के कौनसा जन्म है। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।। २-३५ ।।

अर्थ : गर्भ जन्म वाले और देव नारकियों के अतिरिक्त जो भी जीव शेष रहे उनके सम्मूर्छन जन्म है। गर्भज और औपपादिक जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों के सम्मूर्छन जन्म है। इसतरह से तीनों ही सूत्र नियम बताने के लिये है। ये नियम दोनों ओर से है। कैसे हैं ?

जरायुज, अंडज, पोत के ही गर्भजन्म है अथवा इनके गर्भ ही जन्म है अन्य नहीं। देव-नारकियों के ही उपपाद जन्म है अथवा इनके उपपाद जन्म ही है, अन्य जन्म नहीं है। और शेष रहे जीवों के सम्मूर्छन जन्म ही है अथवा इन्हीं के सम्मूर्छन जन्म ही है, अन्य जन्म नहीं। इस तरह दोनों तरफ से नियम है। इसप्रकार पाँच सूत्रों द्वारा जन्म और उन जन्म सहित जीवों का निरूपण किया।

आगे पूछते हैं- संसारी जीवों के तीन प्रकार के जन्म कहे तथा अनेक भेदों सहित नव योनियाँ बताई। उन (संसारी) जीवों के शुभ और अशुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुये तथा बंध का फल भोगने के आधार शरीर कौन-कौन से हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।। २-३६ ।।

अर्थ : औदारिक, वैक्रियक, आहार, तैजस और कार्मण - ये पाँच प्रकार के शरीर कर्मफल भोगने के लिये आधार है। विशिष्ट नामकर्म अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय हुये शीर्यते अर्थात् गले, सडे, झडते ये शरीर हैं। औदारिक आदि शरीर नामक नामकर्म की प्रकृतियाँ है। उनके उदय में औदारिक आदि की प्रवृति होती है। अत: ये पाँच नाम हैं। स्थूल को उदार कहा जाता है। बड़ा दिखाई देने वाले को उदार कहते हैं, अत: उदार में (बडे रूप में) हुआ हो अथवा जिसका प्रयोजन उदार हो, उसे औदारिक कहते हैं तथा अणिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के संबंध से एक-अनेक

छोटा-बडा अनेक प्रकार का शरीर बना सकने को विक्रिया कहते हैं। यही जिसका प्रयोजन है, उसे वैक्रियक कहते हैं तथा सूक्ष्म पदार्थों के निर्णय के लिये अथवा असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के द्वारा रचा जाने वाला (शरीर) आहारक है। जो तेज (दीप्ती) का कारण है, अन्य देह (औदारिक आदि देहों) को दीप्ती करने में निमित्त तथा तेज में उत्पन्न (शरीर) को तैजस कहते हैं। तथा कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है। कर्मों का कार्य यों तो सभी प्रकार के शरीर है; परन्तु रूढिवश विशेषरूप से कार्मण शरीर को ही कर्म के कार्य रूप निरुक्ति की गयी है।

यहाँ **कोई पूछता है** – अन्य शरीरों को कार्मण निमित्त है, कार्मण को निमित्त कौन है ?

समाधान : कार्मण को कार्मण ही निमित्त है अथवा जीव के मिथ्यादर्शन आदि परिणाम निमित्त है।

आगे जैसे औदारिक शरीर की इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि (को इन्द्रियाँ जानती) है, इसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है, वैसे अन्य शरीरों का ग्रहण क्यों नहीं होता ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। परं परं सूक्ष्मम् ।। २-३७ ।।

अर्थ : औदारिक शरीर से आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म हैं। यहाँ परं शब्द के अनेक अर्थ हैं, तथापि विवक्षा से व्यवस्था के अर्थ का ज्ञान होता है। तथा वीप्सा अर्थात् दो बार परं शब्द कहा गया है, वह औदारिक तो स्थूल है, उससे सूक्ष्म वैक्रियक है, उससे सूक्ष्म आहारक है,* उससे सूक्ष्म कार्मण है – इसका ज्ञान कराने के लिये कहा गया है।

आगे कहते हैं – कोई यह समझेगा कि ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है तो इनके प्रदेश अर्थात् परमाणु भी हीन-हीन होंगे। ऐसी आशंका को दूर करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।। २-३८ ।।

अर्थ : तैजस से पहले शरीर औदारिक से लेकर आहारक तक में परमाणु असंख्यात असंख्यात गुणे हैं। परमाणु को प्रदेश कहते हैं (प्रदेश वास्तव में परमाणु का पर्यायवाची नहीं है पर एक परमाणु द्वारा रोके गये क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं; अत: उपचार से ऐसा कहा गया है)। तथा संख्या से अतीत हो, उसे असंख्यात् कहते हैं। जहाँ असंख्यात् का गुणाकार हो, उसे असंख्येय गुणा कहते हैं। यह परमाणुओं (की संख्या अपेक्षा) असंख्यात् गुणा समझना अवगाहना (को असंख्यात् गुणा) न समझना। तथा परं परं शब्द की अनुवृति पिछले सूत्र से समझना। तथा कार्मण शरीर तक के निषेध के लिये प्राक् तैजसात् कहा है। इसप्रकार ऐसा अर्थ हुआ – औदारिक शरीर के परमाणुओं से असंख्यात् गुणे परमाणु वैक्रियक शरीर में हैं तथा वैक्रियक शरीर से असंख्यात् गुणे परमाणु आहारक शरीर में हैं।

---

* 'उससे सूक्ष्म तैजस शरीर है' – इतना अंश ढूंढारी प्रति में छूटा हुआ है, जो होना चाहिये।

यहाँ **कोई प्रश्न करता है** – असंख्यात् के असंख्यात् भेद हैं। उनमें से असंख्यात् के गुणाकार में कौनसा भेद गिनना है ?

समाधान : यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग का गुणाकार है।

पुन: प्रश्न : परे परे (शरीरों को) सूक्ष्म कहा और परमाणु अधिक-अधिक बताये, तब परे-परे (क्रम में अगले अगले शरीर) बडे होने चाहिये ?

उत्तर : बंधान की ऐसी ही विशेषता है, यदि खींच कर गाढा बांधें तो छोटा हो जावे यदि ढीला बांधें तो बडा दिखे जैसे रूई का पिंड तो बडा दिखता है, पर वजन कम होता है और लोहे का पिंड छोटा दिखता है, पर वजन बहुत होता है, इसी प्रकार जानना।

आगे अगले दो शरीर तैजस और कार्मण के परमाणु इसी समान (गुणाकार) में है अथवा कुछ विशेषता है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। अनंतगुणे परे ।। २-३९ ।।

अर्थ : अगले दो तैजस और कार्मण शरीरों में परमाणु पहले की अपेक्षा अनंत-अनंत गुणे है। यहाँ प्रदेश अपेक्षा ऐसी तो पिछले सूत्र से अनुवृति होती है। अत: आहारक शरीर से तैजस शरीर में परमाणु अनंत गुणे है और तैजस शरीर से कार्मण शरीर में परमाणु अनंत गुणे हैं। यहाँ गुणाकार अभव्य राशि से अनंत गुणा और सिद्ध राशि का अनंतवां भाग ऐसा अनंत है।

आगे यदि कोई ऐसी आशंका करे कि मूर्तिकद्रव्य का संचय होने पर जैसे भालि (कील आदि) दीवार में प्रवेश करने से रुक जाती है, वैसे ही शरीर सहित जीव गमन करे तब मूर्तिक पुद्गल के स्कंधों से रुक जाता होगा। उससे कहते हैं कि ये दो शरीर ऐसे हैं, जो रुकते नहीं है। इसका सूत्र कहते हैं –

।। अप्रतिघाते ।। २-४० ।।

अर्थ : तैजस और कार्मण ये दो शरीर अप्रतिघाते अर्थात् रुकने से रहित है। मूर्तिक द्वारा रोके जाने को प्रतिघात कहते हैं। यह (प्रतिघात) जहाँ न हो वह अप्रतिघात है। तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर अप्रतिघात हैं; क्योंकि ये सूक्ष्म परिणमन रूप हैं। जैसे अग्नि लोहे के पिंड में प्रवेश कर जाती है, वैसे ही ये वज्रपटल में भी प्रवेश कर जाते है, रुकते नहीं हैं।

यहाँ **कोई कहता है** – वैक्रियक और आहारक शरीर भी किसी से रुकते नहीं तो उन्हें भी ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान : यहाँ विवक्षा सर्वक्षेत्र में नहीं रुकने की है। जैसे तैजस और कार्मण शरीर सर्व लोक में अप्रतिघाती है, वैसे वैक्रियक-आहारक शरीर नहीं है। इनका गमन केवल त्रस नाडी में ही है, शेष (क्षेत्र में) प्रतिघाती ही हैं।

आगे पूछते हैं कि इन दोनों शरीरों में यही विशेषता है या और भी कुछ विशेषता है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं–

।। अनादिसंबंधे च ।। २– ४१ ।।

अर्थ : इन दोनों शरीरों का संबंध अनादि से है। (अन्य) शरीर छूटकर नवीन बनते है, वैसे ये नहीं है। यहाँ **च** शब्द विकल्प के अर्थ में है, अत: ऐसा अर्थ हुआ कि अनादि संबंध भी है और सादि संबंध भी है। कार्य–कारण की अनादि संतान की अपेक्षा तो अनादि संबंध है तथा विशेष की अपेक्षा सादि संबंध है, जिसे बीज और वृक्ष की तरह का जानना। जैसे औदायिक, वैक्रियक, आहारक शरीर के कदाचित होते हैं, वैसे तैजस, कार्मण शरीर नहीं है। इनका संबंध नित्य है, संसार का नाश होने तक इनका संबंध रहता है। जिनके मतों में शरीर का अनादि संबंध ही है तथा सादि संबंध ही है – ऐसा (एकान्त) पक्षपात है, वहाँ जिनके (मत में) अनादि संबंध है, वहाँ अन्त नहीं होगा तब मुक्त आत्माओं के अभाव का प्रसंग आवेगा। तथा यदि (एकान्त) रूप से शरीर से सादि संबंध माना जावेगा तो पहले आत्मा शुद्ध ठहरेगा, तब नवीन शरीर का ग्रहण क्यों हुआ ? ऐसा दोष आता है।

आगे पूछते हैं कि ये तैजस और कार्मण शरीर कुछ ही प्राणियों के होता है या सबके ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सर्वस्य ।। २–४२ ।।

अर्थ : ये दोनों शरीर सब ही संसारी जीवों के होते हैं। यहाँ सर्व शब्द निरवशेषवाची (कोई भी शेष नहीं है, ऐसा बताने वाला) है। समस्त ही संसारी जीवों के तैजस और कार्मण दोनों शरीर है।

आगे ये औदारिक आदि पाँचों शरीर सभी संसारी जीवों के अविशेष रूप से होते हैं (ऐसा सामान्य कथन होने से) सब ही शरीर एक ही काल में होते हैं – ऐसा प्रसंग आता है। अत: जो शरीर एक जीव के एक काल में संभव है, यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य: ।। २–४३ ।।

अर्थ : इन तैजस और कार्मण दोनों को आदि लेकर (से शुरू कर) एक जीव के एक काल में दो शरीर भी होते हैं, तीन शरीर भी होते हैं, चार तक शरीर हो सकते हैं, इसतरह भाज्यरूप समझना। पांचों (शरीर एक साथ) नहीं होते। यहाँ तत् शब्द जिन तैजस–कार्मण शरीर का प्रकरण है, उनके ग्रहण के लिये है। वे जिनके आदि है – ऐसे को तदादि कहते हैं तथा भाज्य अर्थात् विकल्परूप विभाग करने के लिये है। कहाँ तक (विभाग/विकल्प) करें ? चार तक करना है। अत: ऐसा अर्थ हुआ कि एक काल में कुछ जीवों के तो तैजस, कार्मण दो ही शरीर है, वे तो विग्रहगति के अन्तराल में ही होते हैं तथा कुछ जीवों के औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर

होते हैं – ये (तीन) मनुष्य और तिर्यचों के होते हैं तथा कुछ जीवों के वैक्रियक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर होते हैं, जो देव और नारकियों के होते हैं। तथा कई जीवों के औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर होते हैं, वे (किसी-किसी) प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनियों के होते हैं। इसप्रकार भाज्यरूप है।

आगे पुन: इन्हीं के विशेष की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। निरुपभोगमन्त्यम् ।। २-४४ ।।

अर्थ : अन्तिम जो कार्मण शरीर है, वह उपभोग रहित है। जो अन्त में हो, उसे अन्त्य कहते हैं। यहाँ सूत्र पाठ में कार्मण को अन्त में कहा है, अत: (वही) अन्त्य है तथा इन्द्रियों द्वार से (के द्वारा) शब्द आदि का ग्रहण उपभोग है। इसका जिसके अभाव हो, वह निरुपभोग है। ऐसा कार्मण शरीर है; क्योंकि विग्रह गति अन्तराल में इन्द्रियों के क्षयोपशमरूप लब्धि होने पर भी द्रव्येन्द्रियों का अभाव होने से वहाँ शब्द आदि के उपभोग का अभाव है।

यहाँ कोई **तर्क** करता है – तैजस भी निरुपभोग है, कार्मण शरीर को ही निरुपभोग क्यों कहा ?

समाधान : यहाँ उपभोग के विचार में तैजस शरीर का अधिकार नहीं है; क्योंकि यह शरीर योग में भी निमित्त नहीं है – ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं कि तीन प्रकार के जन्म बताये है, जिनमें ये शरीर प्राप्त होते हैं, वहाँ तीनों ही जन्मों में अविशेषरूप से उत्पन्न होते हैं या कुछ विशेष है ? वहाँ कहते हैं कि विशेष है, उसका सूत्र कहते हैं –

।। गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ।। २-४५ ।।

अर्थ : आदि का (पहला) औदारिक शरीर गर्भ और सम्मूर्छन (जन्म) से उत्पन्न होता है। सूत्र पाठ में जो आदि में हो उसे आद्य कहते हैं; अत: औदारिक शरीर को ग्रहण करना। जो गर्भ जन्म से तथा सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न होते हैं, वे सभी औदारिक शरीर होते हैं।

आगे इसके अनंतर ही जो वैक्रियक शरीर कहा है, वह किस जन्म से उत्पन्न होता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं –

।। औपपादिकं वैक्रियिकम् ।। २-४६ ।।

अर्थ : वैक्रियक शरीर उपपाद जन्म में उत्पन्न होता है। जो उपपाद में होता है, उसे औपपादिक कहते हैं, उन सबको वैक्रियक जानना।

आगे पूछते हैं – यदि वैक्रियक (शरीर) औपपादिक है तो जो उपपाद के बिना न उत्पन्न हो, उसे वैक्रियकपने का अभाव कहा जाएगा ? ऐसा कहने पर सूत्र द्वारा उत्तर देते हैं –

।। लब्धिप्रत्ययं च ।। २-४७ ।।

अर्थ : लब्धि से उत्पन्न हुआ हो, उसे भी वैक्रियक कहते हैं। यहाँ **च** शब्द से वैक्रियक के संबंध में कथन समझना। तप विशेष से (ऐसी) ऋद्धि की प्राप्ति हो, उसे लब्धि कहते हैं। ऐसी लब्धि जिसके लिये कारण हो, उसे लब्धप्रत्यय कहते हैं। अत: वैक्रियक शरीर लब्धि प्रत्यय भी होता है - ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं - वैक्रियक शरीर ही लब्धि प्रत्यय होता है या अन्य भी ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। तैजसमपि ।। २-४८ ।।

अर्थ : तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है। यहाँ अपि शब्द से लब्धि प्रत्यय का संबंध करना। तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है - ऐसा जानना।

यहाँ विशेष : तैजस शरीर के दो भेद कहे हैं - नि:सरण स्वरूप, अनि:सरण स्वरूप। इनमें नि:सरण स्वरूप दो प्रकार का है - शुभ तैजस, अशुभ तैजस। ये तो लब्धि प्रत्यय होते हैं, इनमें अनि:सरण स्वरूप (तैजस शरीर) सभी संसारी जीवों के पाया जाता है, अत: लब्धि प्रत्यय से भिन्न है।

आगे वैक्रियक शरीर के आगे जो आहारक शरीर कहा है, उसके स्वरूप का निर्धारण करने के लिये तथा उसके स्वामी का कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।। २-४९ ।।

अर्थ : शुभ, विशुद्ध और व्याघातरहित यह आहारक शरीर प्रमत्तसंयत मुनियों को ही होता है (मुनियों में से कुछ को सभी को नहीं)। यहाँ शुभ शब्द तो आहारक काय योग शुभकर्म ही का कारण है, इसलिये कहा। इसके होने पर शुभ प्रकृति ही का बंध होता है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है, जैसे अन्न को प्राण कहा जाता है तथा विशुद्ध जो कहा है, वह यह पुण्यकर्म के उदय ही से होता है, अत: विशुद्ध अर्थात् निर्मल तथा पापकर्म से मिला नहीं, अत: निर्दोष कर्म का कार्य होने से विशुद्ध कहा जाता है। यहाँ भी कारण में कार्य का उपचार है, जैसे कपास के तार को कपास ही कह देते हैं तथा दोनों रीति से (आहारक शरीर से अन्य पदार्थों का तथा अन्य पदार्थों से आहारक शरीर का) व्याघात अर्थात् रुकना नहीं होता, अत: अव्याघात कहा है। इस आहारक शरीर से अन्य रुकता नहीं है तथा अन्य से यह (आहारक शरीर) रुकता नहीं है। तथा च शब्द है, वह समुदाय के लिये है। किसी काल तो यह लब्धि विशेष के सद्भाव का ज्ञान कराने के लिये होता है, किसी काल सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय कराने के लिये होता है तथा संयम की रक्षा के लिये होता है। इन पहले कहे प्रयोजनों का समुच्चय च शब्द करता है। तथा जिस काल मुनि के आहारक शरीर के प्रवर्तन का

अवसर होता है, उस काल मुनि प्रमादसहित होता है, अत: यह शरीर प्रमत्तसंयत के ही होता है – ऐसा कहा गया है। यहाँ क्रियारूप प्रवर्तने को प्रमाद कहा गया है। ऐसा मत समझना कि अविरत की तरह प्रमाद होता है। एवकार से यह नियम किया है कि यह प्रमत्तसंयत के ही होता है, अन्य के नहीं होता तथा ऐसा भी मत समझना कि प्रमत्तसंयमी मुनि के आहारक शरीर ही होता है, औदारिक नहीं होता। औदारिक शरीर तो (मुनि के) है ही। इसप्रकार चौदह सूत्रों से पाँच शरीरों का निरूपण किया।

यहाँ विशेष : कई अन्यवादी कार्मण शरीर का होना मानते ही नहीं है। कहते है कर्म आत्मा ही का अदृष्ट नाम का गुण है। उसका शुभाशुभ फल है। यह मान्यता युक्त नहीं है। द्रव्यादृष्ट तो पौद्गलिक कार्मण है। उसके निमित्त से भावादृष्ट जीव का गुण है तथा कुछ अन्य मती कहते हैं भावकर्म ही आत्मा के क्रोध आदि भाव है, द्रव्य कर्म नहीं है। यह मान्यता भी युक्त नहीं है। जीव को बंदीखाने की तरह पराधीन करने वाला पुद्गल की पर्याय रूप द्रव्यकर्म भी है तथा कुछ अन्यमती शरीर को स्वप्नमात्र कहते हैं। यह भी युक्त नहीं है, यदि स्वप्न मात्र ही हो तो जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु जागने पर कुछ नहीं दिखती वैसे यह शरीर भी नहीं दिखना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं। तथा कई अन्यमती आत्मा के ज्ञानमात्र शरीर मानते हैं; पर यह भी युक्त नहीं है। पुद्गल शरीर के अभाव में शरीर और आत्मा का भेद कैसे जाना जावे ? ज्ञान तो आत्मा का धर्म है, इस स्वरूप से कभी अलग होता नहीं (ज्ञान आत्मा के बाहर कहीं दिखता नहीं)। इसी प्रकार अन्य लोग शरीर को अन्य प्रकार भी कहते हैं। वे इन पाँचों शरीरों में सभी अन्तर्भूत हो जाते हैं। अन्य कुछ है नहीं।

आगे पूछते हैं कि इसप्रकार शरीर को धारण करते संसारी जीव को सभी गतियों में तीनों प्रकार के लिंग होते हैं या वेदों (लिंगों) का कुछ नियम है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।। २–५० ।।

अर्थ : नारकी जीव तथा सम्मूर्छन जीव नपुंसकलिंगी ही होते हैं। नारकियों का कथन तो आगे करेंगे। जो नरकों में उत्पन्न हो, वह नारक है। तथा सम्मूर्छन अर्थात् अवयव सहित शरीर का यत्र तत्र कहीं भी जिनका उत्पन्न होना हो, वे सम्मूर्छन कहे जाते हैं तथा चारित्र मोह की नोकषाय नामक कर्म प्रकृति के भेद नपुंसकवेद के उदय और अशुभ नामक नामकर्म के उदय से स्त्री भी न हो पुरुष भी न हो ऐसे नपुंसक नारक होते हैं। सम्मूर्छन नपुंसक ही होते हैं। ऐसा नियम है तथा स्त्री पुरुष को होने वाला मनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श के संबंध से होने वाला (विषय) सुख इनको रंच मात्र भी नहीं होता है।

आगे पूछते हैं कि यदि ऐसा नियम है तो इसका यह अर्थ हुआ कि (पिछले सूत्र में) कहे नारक सम्मूर्छन को छोडकर शेष सभी (संसारी जीव) तीनों वेद सहित है। अत: जहाँ नपुंसकलिंग का अत्यंत अभाव है, उनका कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। न देवाः ।। २-५१ ।।

अर्थ : देव नपुंसकलिंगी नहीं होते। स्त्री संबंधी और पुरुष संबंधी जो उत्कृष्ट (निरतिशय) सुख है, उसे देव शुभगति नामकर्म के उदय में भोगते हैं, इसलिये उनमें नपुंसक नहीं होते।

आगे पूछते हैं कि जो जीव शेष रहे उनमें कितने लिंग (वेद) हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। शेषास्त्रिवेदाः ।। २-५२ ।।

अर्थ : नारकी, सम्मूर्छन और देव इनके अतिरिक्त शेष रहे जो गर्भज तिर्यंच तथा मनुष्य हैं, वे तीनों वाले होते हैं। जिनके तीन वेद है, उन्हें त्रिवेद कहते हैं। वे वेद कौनसे हैं ? स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

यहाँ **कोई पूछता है** – इन वेदों का क्या अर्थ है ?

उससे कहते हैं – जो वेदा जाता है, उसे वेद कहते हैं। उसका अर्थ (दूसरा नाम) लिंग है, जो दो प्रकार का है - द्रव्य लिंग व भाव लिंग। द्रव्यलिंग तो नामकर्म के उदय से हुये योनि तथा मेहन आदि आकार युक्त होता है तथा भाव लिंग नोकषाय नामक वेदकर्म के उदय से हुये आत्मा के परिणाम हैं। जिसमें गर्भधारण होता है, वह तो स्त्री है तथा जो अपत्य अर्थात् पुत्र आदि को उत्पन्न करावे, वह पुरुष है तथा इन दोनों शक्तियों से रहित है, वे नपुंसक हैं तथा इनकी संज्ञा (नाम) है, वे रूढि से चले आ रहे हैं तथा रूढि शब्दों की व्युत्पत्ति की जावे तो उस व्युत्पत्ति मात्र प्रयोजन के लिये ही है, जैसे गाय शब्द की निरुक्ति की जावे तो जो चले उसे गऊ कहते हैं। यहाँ निरुक्ति रूढि ही से है, क्योंकि बैठी - सोती गऊ को भी गऊ ही कहा जाता है। इसप्रकार रूढि जानना चाहिये। यदि ऐसा न माना जावे और गर्भधारण क्रिया ही को प्रधान माना जावे तो बालिका, वृद्ध स्त्री, तिर्यंचणी, मनुष्यणी तथा देवांगना तथा कार्मणकाय योग में स्थित स्त्रीनि (स्त्रियों) के गर्भधारण नहीं होने से स्त्रीपणा नहीं कहा जा सकेगा। तथा पुत्र आदि उत्पन्न किये बिना इनको पुरुष नहीं कहा जा सकेगा। इसलिये यहाँ नाम में रूढि ही प्रधान (ये नाम रूढि वश ही हैं)। ये तीन वेद इस प्रकार शेष गर्भजों के होते हैं। इनके भाव अनुभव की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि स्त्री तो अंगार की अग्नि के समान सदैव चमकती रहती है तथा पुरुष के (वेदभाव) तृण की अग्नि की तरह चमकता तो है, पर अल्पकाल में बुझ जाता है तथा नपुंसक के (वेदभाव) ईंटों के भट्टे की अग्नि की तरह प्रज्वलित ही रहता है, बुझता नहीं है, वैसे है।

आगे इन जन्म योनि शरीर लिंग के संबंध सहित जो देव आदि प्राणी हैं, वे विचित्र पुण्य-पाप के वश चार गतियों में शरीर धारण किये यथाकाल आयु को पूर्ण करके अन्य शरीर को धारण करते हैं या बिना आयु पूर्ण किये भी अन्य शरीर को धारण करते हैं ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं -

।। औपपादिक चरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।। २-५३ ।।

अर्थ : औपपादिक अर्थात् देव एवं नारकी तथा चरमोत्तमदेह अर्थात् जिनके शरीर चरम होकर

उत्तम है तथा असंख्यात् वर्ष की जिनकी आयु है – ऐसे भोगभूमिया – ये सब अनपवर्त्यायु अर्थात् आयु पूर्ण करके ही मरते हैं। इनकी आयु छिदती नहीं है। औपपादिक (उपपाद जन्मवाले) तो देव नारकी हैं – यह पहले कह ही चुके हैं तथा चरम शब्द अन्तिम का वाचक है। इसका विशेषण यहाँ उत्तम कहा गया है अर्थात् उत्कृष्ट है। इसप्रकार जिनके चरम उत्तम देह हो, वे चरमोत्तम कहे जाते हैं। ऐसा कहने से जिनका उस ही जन्म से निर्वाण होना है – ऐसे चरम (अंतिम) शरीर वाले जिनके संसार का अंत हुआ है, ऐसे तद्भवमोक्षगामी – ऐसा अर्थ हुआ तथा असंख्येय अर्थात् संख्या से रहित उपमा प्रमाण अर्थात् जिसको पल्य आदि से जाना जाता है – ऐसे असंख्यात वर्ष की आयु वाले उत्तरकुरु आदि भोगभूमियों में उत्पन्न हुये मनुष्य–तिर्यंच – ये सब अनपवर्त्यायुष्क हैं। विष, शस्त्र आदि बाह्य कारणों से जो घट जावे उसे अपवर्त्य कहते हैं। इनका आयु बाह्य कारणों से घटता नहीं है – ऐसा नियम है। अन्य के संबंध में नियम नहीं है। यहाँ चरम देह का जो उत्तम विशेषण है, वह उत्कृष्टता के अर्थ में है, अन्य अर्थ में नहीं है। कुछ लोग 'चरमदेहा' ऐसा पाठ भी पढते हैं।

यहाँ विशेष – चरम शब्द के साथ उत्तम विशेषण लगाया है, जो उत्कृष्ट का वाचक है। यहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसा कहा है कि (इससे) चक्रवर्ती आदि का ग्रहण होता है।

तब यहाँ **कोई कहता है** – अंतिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त तथा अंतिम वासुदेव (नारायण) श्रीकृष्ण इत्यादि की आयु का अपवर्तन हुआ था, अत: यहाँ अव्याप्ति हुई।

समाधान : चरम शब्द का उत्तम विशेषण है, अत: चरम शरीरी तद्भवमोक्षगामी हो उनके शरीर का उत्तम विशेषण है। अत: दोष नहीं है।

यहाँ **तर्क :** काल आये बिना तो मरण होता नहीं है।

समाधान : जैसे आम का फल पाल में देने पर शीघ्र पक जाता है, उसी प्रकार कारण के वश जो आयु बांधी थी, उसकी उदीरणा होकर पहले ही मरण हो जाता है – ऐसा जानना। तथा जैसे चतुर वैद्य वायु आदि रोगों का काल आये बिना ही वमन विरेचन आदि का प्रयोग कर श्लेष्मा आदि का निराकरण करता है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना। यदि ऐसा न हो तो वैद्यक शास्त्र मिथ्या ठहरेगा।

यहाँ **पुन: कहते हैं** – रोग से दु:ख हो उसके दूर करने के लिये वैद्यक का प्रयोग किया जाता है।

उससे कहते हैं – दु:ख हो उसका भी इलाज करते हैं और दु:ख न हो वहाँ अकालमरण न होने के निमित्त भी प्रयोग करते हैं।

यहाँ **कोई कहता है** – अकालमरण जिसके लिये आयु की उदीरणा रूप क्षय निमित्त है, उसका इलाज कैसे होगा?

उससे कहते हैं – असाता वेदनीय के उदय से आये दु:ख का इलाज कैसे हो ? जैसे असाता वेदनीय कर्म का उदय तो अंतरंग कारण और बाह्य वात आदि विकार होने पर उसके प्रतिपक्षी औषध आदि का प्रयोग करने पर दु:ख मिट जाता है, उसीप्रकार आयु कर्म का उदय अंतरंग कारण होते हुये भी बाह्य जीवितव्य के लिये कारण रूप पथ्य आहार आदि का विच्छेद होने पर आयु की उदीरणा होकर मरण हो जावे तथा पथ्य आहार आदि की प्राप्ति होते उदीरणा न होकर जीवितव्य रहता है, तब अकालमरण नहीं होता है – ऐसा जानना।

यहाँ **कोई कहता है** – आयु होने पर भी मरण हो तो वहाँ कर्म का फल दिये बिना नाश ठहरेगा ?

उससे कहते है – असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर भी इलाज से (दु:ख) मिटे तब कर्म फलरहित कैसे नहीं हुआ ?

तब **पुन: वह कहता है** – कडवी औषध के ग्रहण की पीडामात्र दु:ख असातावेदनीय कर्म देता है, अत: बिना फल नहीं हुआ।

उससे कहते हैं – उसी प्रकार आयुकर्म ने भी जीवनमात्र तो फल दिया ही है, अफल कैसे ठहरा ? विशिष्ट फल का देना दोनों ही कर्मों के समान हुआ, अत: सिद्ध हुआ कि कुछ लोगों (जीवों) की अपमृत्यु भी हीती है, जितनी पूर्वभव में आयुकर्म की स्थिति बांधी थी, उसकी बाह्य विष शस्त्र आदि के निमित्त से स्थिति घट कर उदीरणा होने पर मरण हो जाता है। यहाँ दृष्टांत ऐसा भी है – जैसे जल आदि से गीला वस्त्र चौडा करके ताप में सुखाया जाने पर शीघ्र सूख जाता है, वैसे ही जानना।

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

!! दोहा !!

इस दूजे अध्याय में, जीव तत्त्व का रूप।
वर्णन है बहुभेदतैं, जानूं भव्य अनूप।।

!! सवैया : !!

जीव के स्वतत्व भाव लक्षण दृगबोध घाव भवी सिद्ध आदि भेद कहे विस्तारसूं।
इंद्रियनि का दोयरूप विषय का अपाररूप गतिभेद भिन्न भिन्न गहो इतवार सूं।।
जन्मयोनि नानाभांति भव में अनेक जाति देह के विधान जीव लहै जु विकार सूं।
वेद का नियम आयु घटै बधै ताकी रीति दूजे अधिकार भाषी मुनिशा विचारसूं।।२।।

जिसमें ऐसे तत्त्वार्थ का अधिगम है – ऐसे दश अध्यायवाले मोक्षशास्त्र का द्वितीय अध्याय संपूर्ण हुआ।

तृतीय अध्याय

(दोहा)

अधो मध्य ऊरध सकल, जीवनिवास निवारि।
कहे भव्य उपकारकूं, नमूं ताहि तन टारि।। १।।

इस प्रकार मंगल के लिये नमस्कार करके तीसरे अध्याय की वचनिका लिखते हैं। सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में (पहले अध्याय के इक्कीसवें सूत्र में) जो भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां इत्यादि सूत्र में नारक जीवों का कथन किया है। वहाँ शिष्य पूछता है – वे नारकी कौन है ? उसके प्रतिपादन के लिये प्रथम तो उनके आधार का निर्देश करते हैं अर्थात् वे जहाँ बसते हैं, उन पृथ्वियों के नाम कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।। ३–१ ।।

अर्थ : अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा – ये सात पृथ्वियां (क्रमशः) नीचे नीचे तथा तीन वातवलय और आकाश के आधार पर स्थित हैं। यहाँ रत्नादि शब्दों में द्वंद्व समास की वृत्ति है, उन सबके प्रभा शब्द साथ में जोड़ना है। तथा साहचर्य के कारण उनके ऐसे नाम हैं (अर्थात् इन पृथ्वियों की प्रभा इनके नाम वाली वस्तु के समान होने से ऐसे नाम हैं)। अतः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ऐसे नाम सिद्ध हुये है।

यहाँ भूमि शब्द का ग्रहण तो आधार का ज्ञान कराने के लिये है। स्वर्ग के पटलों के अलग–अलग विमान हैं, वहाँ भूमि का आश्रय नहीं है, पर यहाँ ऐसा नहीं है। नारकियों के आवास भूमि के आश्रय है तथा इन भूमियों के अवलम्बन का ज्ञान कराने के लिये घनाम्बुवातादि शब्द का ग्रहण किया है। घन अंबु, वात, आकाश – ये जिनके प्रतिष्ठा अर्थात् आधार हैं, वे ऐसे (उपरोक्त सात पृथ्वियां) है। ये भूमि तो घनोदधि वातवलय के आधार हैं। घनोदधि वातवलय घन वातवलय के आधार है। घनवातवलय तनुवातवलय के आधार है। तनुवातवलय आकाश के आधार है और आकाश स्वयं ही के आधार है। आकाश सबसे बड़ा है, अतः अन्य आधार की कल्पना नहीं है। ये तीनों ही वातवलय प्रत्येक बीस–बीस हजार योजन मोटे हैं तथा सप्त शब्द का ग्रहण अन्य संख्या के

निरांकरण के लिये है। सात ही है, आठ नहीं है और न नौ है (अर्थात् सात से हीनाधिक नहीं है)। तथा अधोऽधो शब्द तिर्यक् फैलाव तथा ऊर्ध्व के निषेध के लिये है (अर्थात् नीचे-नीचे है, तिर्यक आदि रूप नहीं है)।

यहाँ विशेष : रत्नप्रभाभूमि चित्र, वज्र, वैडूर्य, लोहित, होत, हेमसार, गल्व, गोमेध, प्रवाल, ज्योति, रसांजन, भूल, काकस्फटिक, चन्दनबर्बक, बकुल, शिलामय - इन सोलह प्रकार के रत्नों की प्रभा सहित है, अत: इसका नाम रत्नप्रभा कहा जाता है। यह एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसमें तीन भाग हैं। ऊपर तो खरभाग है, जो सोलह हजार योजन मोटा है, यह तो चित्र आदि जो रत्न (ऊपर) कहे हैं, उनसे रचित है। इसके नीचे पंकभाग है, जो चौरासी हजार योजन मोटा है। इसके नीचे अब्बहुल भाग है, जो अस्सी हजार योजन मोटा है। पहले खरभाग में ऊपर के एक हजार योजन और नीचे के एक हजार योजन को छोड़कर बीच के चौदह हजार योजनों में किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत, पिशाच - ये सात जाति के व्यंतर (देव) और नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप, दिक्कुमार - ये नव जाति के भवनवासी (देवों) के आवास है। पंकभाग में राक्षस व्यंतर और असुरकुमार जातियों के भवनवासियों के निवास हैं तथा अब्बहुल भाग में नरक है तथा दूसरी शर्कराप्रभा भूमि की मोटाई बत्तीस हजार योजन की है। तीसरी बालुकाप्रभा भूमि की मोटाई अट्ठाईस हजार योजन की है। चौथी पंकप्रभा भूमि की मोटाई चौबीस हजार योजन की है। पांचवीं धूमप्रभाभूमि की मोटाई बीस हजार योजन ही है। छठी तम:प्रभा भूमि की मोटाई सोलह हजार की है। सातवीं महातम:प्रभा भूमि की मोटाई आठ हजार योजन की है। तथा इन भूमियों के बीच की दूरियां भिन्न-भिन्न असंख्यात करोड़ योजन है तथा तिर्यक् भी इतनी ही है अर्थात् इनके एक-एक राजू का अंतराल है। सातवीं पृथ्वी के नीचे तो सात राजू तिर्यक् है, पहली पृथ्वी के ऊपर मध्य लोक एक राजू तिर्यक् है।

यहाँ **अन्यमती कहते हैं** - पृथ्वी कछुए के आधार है, वराह के दांतों पर है। पर यह कहना प्रमाण सिद्ध नहीं है, क्योंकि कछुए, वराह के भी अन्य आधार कल्पने (होने) का प्रसंग आता है तथा कुछ लोग कहते हैं- पृथ्वी का गोला तो घूमता रहता है और ज्योतिषचक्र स्थिर है। यह कहना भी बाधा सहित है तथा कई ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी नीचे नीचे चली जा रही है अवस्थित नहीं है। वह कहना भी बनता नहीं है - इत्यादि अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गयीं है, वे असत्य हैं।

यहाँ **कोई पूछता है** - आपने जैसा कहा है, उसकी प्रामाणिकता कैसे है ?

उससे कहते हैं - हमारा कथन सर्वज्ञ के आगम की परंपरा से निर्बाध है और स्याद्वाद न्याय से युक्ति से भी सिद्ध है। इसकी विशेष चर्चा श्लोकवार्तिक में है, वहाँ से जानना।

आगे पूछते हैं – इन भूमियों में सर्वत्र नारकियों के आवास है अथवा कहीं कहीं हैं ? ऐसा पूछने पर इसके निर्धार के लिये सूत्र कहते हैं –

।। तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्चचैवयथाक्रमम् ।।३–२।।

अर्थ : इन भूमियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, एक लाख से पांच कम और पांच इतने नरक अर्थात् बिल हैं। रत्नप्रभा आदि भूमियों में (क्रम से) इतनी इतनी संख्या में नरक अर्थात् बिल गिनने चाहिये (हैं)। इस प्रकार रत्नप्रभा में तीस लाख (बिल) हैं। शर्कराप्रभा में पच्चीस लाख है। बालुकाप्रभा में पन्द्रह लाख हैं। पंकप्रभा में दश लाख हैं। धूमप्रभा में तीन लाख हैं। तम:प्रभा में एक लाख से पांच कम हैं। महातम:प्रभा में केवल पांच ही (बिल) हैं। तथा रत्नप्रभा में तेरह प्रस्तर हैं, जिन्हें पाथडा कहते हैं। आगे आगे दो दो कम (प्रस्तर) हैं। इस प्रकार दूसरे में ग्यारह, तीसरे में नव, चौथे में सात, पांचवें में पांच, छठे में तीन, सातवें में एक प्रस्तर है तथा इन भूमियों की अन्य विशेषतायें लोकनियोगशास्त्र से जानना चाहिये।

यहाँ **कुछ विशेष लिखते हैं** – रत्नप्रभा के अब्बहुल भाग में ऊपर नीचे एक–एक हजार योजन छोड़कर बीच में बिल हैं, वे इंद्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक – इस तरह तीन प्रकार के हैं। वहाँ प्रस्तर तेरह हैं। इन तेरहों (सभी) के बीचों बीच इन्द्रक है, उनके नाम सीमंतक, सीर, परोरुक, भ्रांत, उद्भ्रांत, संभ्रांत, असंभ्रांत, विभ्रांत, तप्त, त्रस्त, व्युत्क्रांत, अवक्रांत, विक्रांत है। शर्कराप्रभा में ग्यारह प्रस्तर हैं। उन सभी के बीचों बीच ग्यारह इन्द्रक हैं, जिनके नाम सतनक, संस्तनक, वनक, घाट, संघाट, जिव्ह, उज्जिव्हिक, आलोल, लोलुक, स्तन, आलोलुक है तथा बालुकाप्रभा में नव प्रस्तर हैं, इनके नव इन्द्रकों के नाम तप्त, त्रस्त, तपन, आतपन, आदिदाघ, प्रज्वलित, संजवलित, उज्ज्वलित, संप्रज्वलित है। पंकप्रभा में सात प्रस्तर हैं। इसमें सात इन्द्रकों के नाम आर, मार, तार, वर्चस, वैमनस्क, खाट, अखाट हैं। धूमप्रभा में पांच प्रस्तर हैं, वहाँ पांच इन्द्रक हैं, जिनके नाम तम अभ्र, झष, अंत, तमिस्र है। तम:प्रभा में तीन प्रस्तर हैं, उसमें तीन इन्द्रक हैं, जिनके नाम हिम, वर्दल, लल्लक है तथा महातम: प्रभा में एक प्रस्तर है, जिसमें अप्रतिष्ठान नामक एक इन्द्रक है। इन इन्द्रकों के चारों दिशाओं में चार श्रेणी है। (पहले नरक के पहले प्रस्तार में) चारों दिशा संबंधी श्रेणीबद्ध बिल उनचास–उनचास हैं और (चारों) विदिशा संबंधी बिल अड़तालीस अड़तालीस हैं। आगे सातवीं पृथ्वी तक के प्रस्तरों में एक–एक घटता (श्रेणीबद्ध और विदिशा संबंधी) बिल है, इस प्रकार सातवीं पृथ्वी में श्रेणीबद्ध तो एक एक रह गया है और विदिशा में रहा ही नहीं है, इस तरह इनकी संख्या अलग अलग पृथ्वियों संबंधी (श्रेणीबद्ध और विदिशा संबंधी बिल की संख्या) ऊपर कहे अनुसार गणना कर लेना। सप्तम पृथ्वी में जो चार श्रेणीबद्ध रहे, उनमें पूर्व दिशा वाले का नाम

काल, दक्षिण दिशा वाले का नाम महाकाल, पश्चिम दिशा वाले का रौरव और उत्तर दिशा वाले (श्रेणीबद्ध बिल) का महारौरव है तथा सर्व बिल चौरासी लाख हैं। इनमें इन्द्रक तो उनचास, श्रेणी बद्ध नव हजार छह सौ चार तथा प्रकीर्णक तिरासी लाख नब्बे हजार तीन सौ सैंतालीस हैं। इनमें सर्वभूमि में पांचवें भाग बिला तो संख्यात् हजार संख्यात् हजार योजन विस्तार वाले हैं। शेष चार भाग बिला असंख्यात लाख असंख्यात लाख योजन विस्तार वाले हैं। इन सभी बिलों के नाम अशुभ ही अशुभ हैं।

आगे इन भूमियों में नारकी जीवों के अन्य विशेष क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। नारका नित्याशुभतरलेश्या परिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।। ३–३ ।।

अर्थ : इन भूमियों के नारकी सदा अशुभतर लेश्या परिणाम देह वेदना विक्रिया वाले हैं। लेश्या आदि का अर्थ तो पहले कहा जा चुका है, वही जानना। अशुभतर विशेषण इनकी अधिकता के अर्थ में है। अत: तिर्यंचों के जैसी अशुभ लेश्या आदि है, उनसे अधिक–अधिक नारकियों के होती है। ऊपर के नारकियों के ये जैसे हैं, उनसे अधिक – अधिक नीचे – नीचे होते हैं। नित्य शब्द दु:ख निरंतर चलता ही जाता है, इस अर्थ में है। पहली दूसरी पृथ्वियों के जीवों के तो कापोत लेश्या है। तीसरी पृथ्वी के ऊपरी भाग के नारकियों के तो कापोत लेश्या है, निचले भाग के नारकियों के नील लेश्या है। चौथी पृथ्वी वालों के नील लेश्या ही है। पांचवी पृथ्वी के ऊपर के भाग वालों के नील लेश्या है। निचले भाग वालों के कृष्ण लेश्या है। छठी पृथ्वी वालों के कृष्ण लेश्या है। सातवीं पृथ्वी वालों के परमकृष्ण लेश्या है। इस तरह ये द्रव्यलेश्या तो आयुपर्यन्त एक सी होती है और भाव लेश्या अन्तर्मुहूर्त में पलटती रहती है। परिणाम स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द हैं, ये क्षेत्र विशेष के निमित्त के वश अतिदु:ख के कारण है और अशुभतर है। उनकी देह अशुभनामकर्म के उदय से अत्यंत अशुभतर है तथा आकृति हुडकसंस्थानरूप है। उनकी ऊँचाई प्रथम पृथ्वी में तो सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है तथा नीचे – नीचे ऊँचाई दो गुनी–दो गुनी है। नारकी जीवों के अभ्यंतर तो असाता वेदनीय का उदय होने तथा बाह्य अनादि की शीतोष्ण पृथ्वियों के स्वभाव से उत्पन्न तीव्र वेदना है। पहली दूसरी तीसरी चौथी पृथ्वियों के बिल तो उष्ण ही हैं। पांचवीं पृथ्वी के ऊपरी भाग में दो लाख बिला उष्ण वेदना वाले हैं, नीचे के एक लाख बिला शीतवेदना वाले हैं। छठी और सातवीं पृथ्वियों में शीत वेदना ही है। ये नारकी विक्रिया करते हैं, वे स्वयं तो ये मानते हैं कि मैं शुभ विक्रिया ही करूंगा, परन्तु परिणमते अशुभविक्रियारूप ही हैं तथा स्वयं तो ये जानते हैं कि मैं सुख का कारण उत्पन्न कर रहा हूँ, परन्तु उपजाते दु:ख का कारण ही हैं। इस तरह ये भाव नीचे – नीचे अशुभ से अशुभतर होते है।

आगे पूछते हैं – इन नारकी जीवों के दु:ख शीत और उष्णता जनित ही है कि अन्य प्रकार के भी है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। परस्परोदीरितदु:खा: ।। ३–४ ।।

अर्थ : नारकी जीव परस्पर आपस में दु:ख उपजाने वाले होते हैं।

यहाँ **कोई पूछता है** –परस्पर दु:ख कैसे उपजाते हैं ?

वहाँ कहते हैं – नारकियों के भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान होता है, उसे मिथ्यात्व के उदय के कारण विभंगज्ञान भी कहते हैं। इससे वे दु:खों के कारणों को दूर से ही जानते हैं और निकट आने पर परस्पर देखते ही कोप से प्रज्वलित हो जाते हैं। पूर्वभव का जातिस्मरण होने से तीव्र वैर याद आता है। जैसे स्वान और स्याल के परस्पर बैर का संबंध है वैसे अपने पर के परस्पर घात में प्रवर्तते है तथा स्वयं ही विक्रिया करके तलवार, कुल्हाड़ी, करसी, भिंड माल, शक्ति, तोमर, सेल, लोहे के घन आदि शस्त्रों से तथा अपने हाथ – पांव – दांतों से छेदना, भेदना, छीलना, काटना आदि क्रियायें करके परस्पर अतितीव्र दु:ख उपजाते हैं।

आगे पूछते हैं – (नारकियों के) दु:खों की उत्पत्ति के ये ही कारण और प्रकार हैं अथवा कुछ अन्य भी है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। संक्लिष्टासुरोदीरितदु:खाश्च प्राक्चतुर्थ्या: ।। ३–५ ।।

अर्थ : क्लेश परिणाम वाले असुरकुमार देव तीसरे नरक तक के नारकियों को दु:ख देवें, उन्हें असुर कहते हैं। पूर्वजन्म में इन देवों ने ऐसे ही अतितीव्र संक्लेश परिणाम कर करके पापकर्म कमाया है। उसके उदय में निरन्तर असुर संक्लेश सहित होते हैं। इनमें से कुछ अंब, अंबरीष आदि जाति के असुर हैं, वे नारकियों को दु:ख उपजाते हैं। सब ही असुर दु:ख उपजाते हो ऐसा नहीं है। इन असुरों के गमन की मर्यादा दिखाने के लिये प्राक् चतुर्थ्या शब्द कहा है। ऊपर की तीन पृथ्वियों में असुर बाधा करते हैं। चौथे, पांचवें, छठे, सातवें नरकों में इनका गमन नहीं है।

यहाँ **कोई पूछता है :** ये देव इन नारकियों को दु:ख देते हैं, वहाँ इनका क्या प्रयोजन है ?

वहाँ कहते हैं : ये देव ऐसे ही पापकर्म में लीन रहते हैं, जैसे यहाँ कई (मनुष्य) भैडें, भैंसे, कुत्ते, तीतर, मल्ल (पहलवान) आदि को लड़ाकर कलह देखकर हर्ष मानते हैं, वैसे ही नारकियों के कलह दु:ख देखकर ये (असुरकुमार देव) अतिहर्ष मानते हैं। ये यद्यपि देव हो गये हैं तथापि निदान आदि से अज्ञान तप के फल से इनको पर का दु:ख आदि अशुभ (वस्तुयें) ही हर्ष का कारण होती हैं। तथा च शब्द पहले जो दु:ख के कारण कहे गये हैं, उनके समुच्चय के लिये है। तीव्र गर्म पिघले लोहे तांबे को पिघलाकर, तपाये हुये लोहे के स्तंभ से चिपटाकर तथा कूटशाल्मली अर्थात् सूली पर चढा उतार

तथा लोहे के घन से पीटकर कुल्हाड़ी, छुरे, सोला आदि से काटना, छीलना तथा खारे पानी, गर्म तेल डालकर, लोह के कड़ाहे में पकाकर, भाड़ में भूनकर, भोभली में झुलसाकर, वैतरणी नदी में डुबाकर, घाणी में पेलकर इत्यादि प्रकार से नारकियों को दु:ख उपजाते हैं। इस तरह के छेदन-भेदन आदि से शरीर खंड-खंड हो जाता है, तो भी आयु पूर्ण हुये बिना मृत्यु नहीं होती, क्योंकि नारकियों की आयु अनपवर्त्य कही है, वह छिदती नहीं है।

आगे पूछते हैं - इन नारकियों की आयु छिदती नहीं है, तब इनका आयु का परिमाण कितना है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परास्थिति: ।। ३-६ ।।

अर्थ : नरक के जीवों की उत्कृष्ट आयु पहली पृथ्वी में एक सागर, दूसरी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दश सागर, पांचवीं में सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर एवं सातवीं में तेतीस सागर है। यहाँ यथाक्रम शब्द की तो ऊपर से अनुवृत्ति करनी है तथा भूमियों में अनुक्रम से कही गयी संख्याओं के अनुसार स्थिति समझना। तब रत्नप्रभा में तो उत्कृष्ट स्थिति एक सागर है। शर्कराप्रभा में तीन सागर है। बालुका प्रभा में सात सागर है। पंकप्रभा में दश सागर है। धूमप्रभा में सत्रह सागर है। तम: प्रभा में बाईस सागर है। महातम:प्रभा में तेतीस सागर है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति है। यह इन भूमियों में नारकी जीवों की आयु है, भूमि की स्थिति यह नहीं है।

आगे कहते हैं सात भूमिरूप विस्तार वाले अधोलोक का कथन तो किया। अब तिर्यक् लोक का कथन करना चाहिये। वहाँ इसका नाम तिर्यक लोक कैसे है ? इसमें स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त असंख्यात तिर्यकप्रचयरूप द्वीप समुद्र अवस्थित हैं, अत: इसका नाम तिर्यक लोक है। यहाँ पूछते हैं - वे तिर्यकरूप से स्थित द्वीप समुद्र कौन-कौन से हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। जम्बूद्वीपलवणोदादय: शुभनामानोद्वीपसमुद्रा: ।। ३-७ ।।

अर्थ : जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से लेकर भले-भले नामों वाले द्वीप समुद्र हैं। जम्बूद्वीप आदि तो द्वीप तथा लवणोदधि आदि समुद्र ऐसे जो लोक मे भले-भले नाम हैं, वे इन द्वीप समुद्रों के नाम हैं। यहाँ जम्बूद्वीप तो द्वीप तथा लवणोदधि समुद्र, धातकीखंडद्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवरद्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवरद्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवरद्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवरद्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीश्वरद्वीप, नंदीश्वर समुद्र, अरुणवरद्वीप, अरुणवर समुद्र - इस तरह असंख्यात द्वीप समुद्र स्वयंभूरमण तक हैं।

यहाँ विशेष : जम्बूद्वीप नाम इसमें जम्बूवृक्ष होने के कारण है। इसका यह नाम अनादि से है। यहाँ जो जम्बूवृक्ष कहा उसका कथन करते हैं। उत्तरकुरु भोगभूमि में पांच सौ योजन चौड़ी एक जगती

अर्थात् पृथ्वी है, जिसे स्थान भी कहते हैं। उसकी तिगुणी से कुछ अधिक परिधि है। वह बाहर से क्रमहानिरूप कुछ प्रदेशों को छोड़कर बीच में बारह योजन ऊँची है। फिर क्रमहानिरूप कुछ प्रदेश छोड़कर अन्त में दो कोस ऊँची है। इसके चारों तरफ स्वर्णमयी पद्मवर वेदिका अर्थात् दीवार है। इसके बीचोंबीच नाना रत्नमय पीठ है, जो आठ योजन लम्बी और चार योजन चौड़ी है तथा चार ही योजन ऊँची है। यह चारों तरफ से बारह वेदियों द्वारा घिरा है। इन वेदियों के चारों तरफ चार तोरण हैं, जो श्वेत हैं तथा स्वर्ण के तूपों सहित हैं। इस पीठ के ऊपर फिर उपपीठ है, जो एक योजन लम्बा चौड़ा और दो कोस ऊँचा है। इसके बीच में जम्बूवृक्ष है। इसका नाम सुदर्शन है, स्कंध दो योजन ऊँचा है। इसके टहने छह दह योजन ऊँचे है। बीच में छह योजन चौड़ा मंडल है, आठ योजन लम्बा है। इसके चारों तरफ इस वृक्ष से आधे प्रमाण वाले एक सौ आठ छोटे जम्बूवृक्ष हैं जिनसे यह घिरा हुआ है। देव देवांगनाओं द्वारा सेवित है। यह वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक से लिखा है और त्रिलोकसार में इसका वर्णन विशेषरूप से है तथा विवक्षा का भी कुछ विशेष है, जिसे वहाँ से जानना। इस वृक्ष के होने से इसका नाम जम्बूद्वीप है। यह वृक्ष पृथ्वीकाय है, वनस्पतिकाय नहीं है तथा लवणरस जैसे जल के होने से लवणोदधि नाम है।

आगे इन द्वीप समुद्रों के विष्कंभ अर्थात् चौड़ाई तथा सन्निवेश अर्थात् अवस्थान विशेष संस्थान अर्थात् आकार के विशेषों की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। द्विर्द्विर्विष्कम्भा: पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतय: ।। ३–८ ।।

अर्थ : जम्बूद्वीप से लेकर सभी द्वीप समुद्र दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं। तथा ये पहले – पहले वाले द्वीप – समुद्र को घेरे हैं। वलय अर्थात् कड़े की तरह गोल आकृति वाले हैं। द्विर्द्वि इस तरह वीप्सा अर्थात् बारंबार वृत्ति के कहने के लिये वचन है, जो चौड़ाई के दोगुनेपन को बताने के अर्थ में है। पहले जो जम्बूद्वीप है, उसके विस्तार से दो गुणा विस्तार लवण समुद्र का है। इससे दो गुणा दूसरे धातकीखंड द्वीप का विस्तार है। इससे दो गुणा दूसरे कालोदधि समुद्र का विस्तार है। इस प्रकार (विस्तार) है। पहले पहले वाले को अगले-अगले वाले ने वेष्ठित कर (घेर) रखा है। इनका अवस्थान ग्राम नगर आदि की तरह मत समझना तथा इनका आकार वलयाकृति अर्थात् कड़े की तरह गोल है, चौकोर आदि आकार नहीं है।

आगे पूछते हैं – पहले जम्बूद्वीप का स्थान, आकार, चौडाई के प्रमाण का कथन करना चाहिये, क्योंकि आगे के द्वीप – समुद्रों के विस्तार आदि का ज्ञान उसके द्वारा ही होता है। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीप: ।। ३–९ ।।

अर्थ : उन द्वीप – समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है, जो गोल है। इसके बीच में नाभि की तरह

मेरुपर्वत है। यह (जम्बूद्वीप) एक लाख योजन चौड़ा है। इन पूर्व में कहे द्वीप समुद्रों के मध्य में जम्बूवृक्ष से लक्षित यह जम्बू नाम का द्वीप है। वह कैसा है ? उसमें नाभि की तरह मेरु है तथा सूर्य के विमान की तरह गोल है तथा शतसहस्र अर्थात् एक लाख योजन उसकी विष्कंभ अर्थात् चौड़ाई है। उत्तरकुरु भोगभूमि में अनादिनिधन पृथ्वीकायरूप अकृत्रिम तथा परिवार वृक्षों सहित जम्बू नामक वृक्ष इसके बीच है, अत: उसके नाम से इस द्वीप का नाम भी जम्बूद्वीप है।

आगे यह जम्बूद्वीप छह कुलाचलों के द्वारा सात क्षेत्रों मे विभाजित किया गया है, वे क्षेत्र कौन से हैं ? यह पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। भरतहैमवतहरिविदेह रम्यक हैरण्यवतैरावत वर्षा: क्षेत्राणि ।। ३-१० ।।

अर्थ : इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावत - ये सात क्षेत्र हैं। इनके भरत आदि नाम अनादि काल से प्रवर्तते हैं। इन्हें किसी का भी निमित्त नहीं है। इस जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में हिमवान कुलाचल और तीन तरफ लवण समुद्र के बीच तो भरत क्षेत्र है, जो चढे हुये धनुष के आकार का है। तथा इसके विजयार्द्ध पर्वत और गंगा - सिन्धु नदियों से भेद होकर छह खण्ड हो जाते हैं तथा छोटे हिमवान कुलाचल की उत्तर दिशा और महाहिमवान कुलाचल की दक्षिण दिशा में पूर्व तथा पश्चिम के लवण समुद्र के बीच हैमवत क्षेत्र है। तथा निषध कुलाचल की दक्षिण दिशा तथा महाहिमवान कुलाचल की उत्तर दिशा में तथा पूर्व एवं पश्चिम के लवण समुद्र के अन्तराल में हरिक्षेत्र है। निषध कुलाचल की उत्तर दिशा और नील कुलाचल की दक्षिण दिशा में पूर्व एवं पश्चिम के लवण समुद्र के बीच में विदेह क्षेत्र है। नील कुलाचल की उत्तर दिशा और रुक्मि कुलाचल की दक्षिण दिशा में पूर्व एवं पश्चिम लवण समुद्र के बीच रम्यक क्षेत्र है। रुक्मि कुलाचल की उत्तर दिशा और शिखरी कुलाचल की दक्षिण दिशा में पूर्व और पश्चिम लवण समुद्र के अन्तराल में हैरण्यवत क्षेत्र है तथा शिखरी कुलाचल की उत्तर दिशा और तीनों तरफ लवण समुद्र के बीच ऐरावत क्षेत्र है। इसके भी विजयार्द्ध पर्वत तथा रक्ता और रक्तोदा नदियों से खण्ड होकर छह खण्ड हो जाते हैं।

आगे पूछते हैं कि छह कुलाचल हैं - ऐसा बताया, वे कौनसे हैं तथा कैसे स्थित हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं-

।। तद्विभाजिन: पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वता: ।।३-११।।

अर्थ : इन क्षेत्रों में (जम्बूद्वीप को) विभाजित करने वाले पूर्व - पश्चिम तक लम्बे हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि, शिखरी - ये छह कुलाचल हैं। इन क्षेत्रों में विभाजित करने वाले को तद्विभाजन कहते हैं तथा पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओं की तरफ लवणसमुद्र को पूर्व पश्चिम

दिशा की कोटी से स्पर्श करने वाले हिमवान आदि पर्वतों के नाम अनादि काल से चले आ रहे हैं तथा क्षेत्रों में विभाजन करने के कारण इन्हें वर्षधर कहते हैं। ऐसे ये कुलाचल पर्वत छह हैं। उनमें से हिमवान तो भरतक्षेत्र और हेमवत क्षेत्र की सीमाओं पर स्थित है। इसे क्षुद्रहिमवान भी कहते हैं। यह एक सौ योजन ऊँचा है तथा हेमवत और हरिक्षेत्र का विभाजन करने वाला महाहिमवान है, वह दौ सौ योजन ऊँचा है तथा महाविदेह की तो दक्षिण दिशा और हरिक्षेत्र की उत्तर दिशा में निषध कुलाचल है, जो चार सौ योजन ऊँचा है तथा उत्तर दिशा में भी अपने अपने क्षेत्र का विभाग करने वाले नील, रुक्मि, शिखरी - ये तीन पर्वत हैं। वे पूर्वोक्त की तरह चार सौ, दौ सौ और एक सौ योजन ऊँचे हैं तथा इनका मूल अवगाह (जड़) पृथ्वी से इनकी ऊँचाई के चौथे भाग है।

आगे इन कुलाचलों के विशेष वर्णन के लिये सूत्र कहते हैं -

।। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममया: ।। ३-१२ ।।

अर्थ : ये कुलाचल हेम अर्थात् पीतवर्ण, अर्जुन अर्थात् श्वेतवर्ण, तपनीय अर्थात् पिघले सोने जैसा रक्तवर्ण, वैडूर्य अर्थात् नीलवर्ण, रजत अर्थात् श्वेत, हेम अर्थात् पीतवर्णमय हैं। ये हिमवान आदि कुलाचल अनुक्रम से हेम आदि वर्णमय हैं। हिमवान तो हेममय जो पीले पाट जैसे वर्ण का है। महाहिमवान अर्जुनमय है, जो शुक्ल है। निषध तपनीयमय है जो दोपहर के सूर्य के समान (वर्ण का) है। नील वैडूर्यमय है, जो मोर के कंठ के समान वर्ण का है। रुक्मि रजतमय है, जो शुक्ल है। शिखरी हेममय है, जो पीले पाट जैसे वर्ण का है।

आगे पुन: इनके विशेष के कथन के लिये सूत्र कहते हैं -

।। मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्तारा: ।। ३-१३ ।।

अर्थ : इन कुलाचलों के पार्श्व तो मणियों से चित्रित हैं और ये मूल से लेकर ऊपर तक समान चौड़े है। अनेक वर्णों और प्रभाव अर्थात् महिमा इत्यादि गुणों से सहित मणियों से इनके पार्श्व पसवाडे चित्रित-विचित्रित हैं। तथा ये आकार मूल से लेकर ऊपर तक समान है, चौरस दीवार की तरह बराबर है।

आगे इन कुलाचलों पर ह्रद (तालाब) हैं उनका कथन करते हैं -

।। पद्ममहापद्मतिगिच्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।। ३-१४ ।।

अर्थ : इन हिमवान आदि कुलाचलों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक - ये ह्रद हैं।

आगे पहला जो पद्म नामक ह्रद है, उसका आकार विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ।। ३-१५ ।।

अर्थ : पद्म ह्रद पूर्व-पश्चिम दिशा में एक हजार योजन लम्बा है और उत्तर-दक्षिण दिशा में पांच सौ योजन विस्तार का है। इसका तल वज्रमय है। अनेक प्रकार के मणि तथा स्वर्ण तथा रजत से इसका तट चित्र-विचित्र है।

आगे इसकी ऊँचाई बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। दश योजनावगाहः ।। ३-१६ ।।

अर्थ : पद्मह्रद की गहराई दश योजन है।

आगे इस ह्रद में कमल है, उसका सूत्र कहते हैं -

।। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।। ३-१७ ।।

अर्थ : इस ह्रद में एक योजन का कमल है। जिसके पत्र एक-एक कोश लम्बे हैं और इसकी कर्णिका दो कोश चौड़ी है तथा इसका नाल जल के तल से दो कोश ऊँचा है तथा इतनी ही इसके पत्तों की मोटाई है।

आगे अन्य ह्रदों की लम्बाई-चौड़ाई तथा कमल की लम्बाई-चौड़ाई बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।। ३-१८ ।।

अर्थ : पहले ह्रद से दोगुणे लम्बे-चौड़े ह्रद और कमल से दो गुणे लम्बे-चौड़े अगले-अगले कमल हैं। इस प्रकार पद्म ह्रद से दो गुणा दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा, बीस योजन गहरा तो महामद्म ह्रद है तथा इससे दो गुणा अर्थात् चार हजार योजन लम्बा, दो हजार योजन चौड़ा, चालीस योजन गहरा तिगिंछ ह्रद है। इस ही प्रकार कमल भी दुगुने लम्बे चौड़े जानना।

आगे इन कमलों मे निवास करने वाली देवियों के नाम आयु परिवार के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं -

।। तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससमानिकपरिषत्काः ।। ३-१९ ।।

अर्थ : उन कमलों की कर्णिका के बीच में शरद के निर्मल पूर्णचन्द्र की द्युति को जीतने वाले एक कोश लम्बे, आधे कोस चौड़े, कुछ कम कोश ऊँचाई वाले महल हैं। उनमें निवास करने वाली देवियों के नाम क्रमशः श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी हैं। उनकी एक-एक पल्य की आयु है तथा सामानिक जाति के देव तथा पारिषद जाति के देवों सहित वर्तती है। इन कमलों के परिवार कमलों पर भी महल हैं। उनमें भी सामानिक एवं पारिषद देव बसते हैं।

आगे जिन नदियों द्वारा इन क्षेत्रों के भेद (खण्ड) किये जाते हैं, उन नदियों के नाम बताते हैं –

।। गंगासिन्धूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगा: ।। ३–२० ।।

अर्थ : इन क्षेत्रों में गमन करने वाली चौदह नदियां हैं। उनके नाम गंगा, सिन्धु, राहित, राहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, स्वर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा है। सरित कहने से ये (नदियां है) तालाब नहीं है और तन्मध्य कहने से (ये इन क्षेत्रों के मध्य में हैं) इधर–उधर नहीं हैं।

आगे सभी नदियों के एक स्थान पर होने के प्रसंग के निषेध के लिये तथा दिशा विशेष की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। द्वयोर्द्वयो: पूर्वा: पूर्वगा: ।। ३ – २१ ।।

अर्थ : एक–एक क्षेत्र में दो दो नदियां हैं। ऐसे वाक्य के कथन से सबके एक स्थान पर होने के प्रसंग का निषेध हुआ। तथा पूर्वा: पूर्वगा: कहकर दिशा विशेष का ज्ञान कराया है। सूत्र पाठ में दो–दो में से पहली नदी तो पूर्व दिशा के समुद्र में जाती है। ऐसा मत समझना कि पहली सात नदियां पूर्व दिशा में गयी है। दो–दो में से पहली–पहली गिनना।

आगे पहली–पहली नदियां तो पूर्व दिशा में गयीं तो अन्य किस दिशा में गयीं ? उनकी दिशा बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। शेषास्त्वपरगा: ।। ३–२२ ।।

अर्थ : दो–दो में से शेष रही (अर्थात् दूसरी–दूसरी) नदियां पश्चिम दिशा में जाती है – ऐसा समझना। पद्म ह्रद के पूर्व द्वार में निकलने वाली गंगा नदी तो भरतक्षेत्र में होती हुई पूर्व समुद्र को गयी है। तथा (पद्म ह्रद के) पश्चिम द्वार से निकली सिंधु नदी भी भरतक्षेत्र में होती हुई पश्चिम दिशा के समुद्र में जाती है। उत्तर द्वार से निकली रोहितास्या नदी तो हैमवत क्षेत्र में होती हुई पश्चिम दिशा के समुद्र में जाती है। तथा महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से निकली रोहित नदी हैमवत क्षेत्र में होती हुई पूर्व दिशा में समुद्र में जाती है। महापद्म ह्रद के उत्तर द्वार से निकली हरिकांता नदी हरिक्षेत्र में होती हुई पश्चिम समुद्र में जाती है। और तिगिंछ ह्रद के दक्षिण द्वार से निकली हरित नदी हरिक्षेत्र में होकर पूर्व दिशा के समुद्र में जाती है। तिगिंछ ह्रद के उत्तर द्वार से निकली सीतोदा नदी विदेह क्षेत्र में होती हुई पश्चिम समुद्र को जाती है तथा केसरी ह्रद के दक्षिण द्वार से निकली सीता नदी विदेह क्षेत्र में होती हुई पूर्व समुद्र को जाती है। केसरी ह्रद के उत्तर द्वार से निकली नरकांता नदी रम्यक क्षेत्र में होकर पश्चिम के समुद्र को जाती है। महापुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से निकली नारी नामक नदी रम्यक क्षेत्र में

होकर पूर्व समुद्र को जाती है। महापुण्डरीक ह्रद के उत्तर द्वार से निकली रूप्यकूला नदी हैरण्यवत क्षेत्र में होती हुई पश्चिम के क्षेत्र को जाती है। पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से निकली सुवर्णकूला नदी हैरण्यवत क्षेत्र में होती हुई पूर्व के समुद्र को जाती है। पुण्डरीक ह्रद के पूर्व तोरण द्वार से निकली रक्ता नदी ऐरावत क्षेत्र में होती हुई पूर्व समुद्र में गयी है तथा महापुण्डरीक ह्रद के पश्चिम तोरण द्वार से निकली रक्तोदा नदी ऐरावत क्षेत्र में होती हुई पश्चिम समुद्र को गयी है।

आगे इन नदियों की परिवार नदियों के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं –

।। चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्य: ।। ३–२३ ।।

अर्थ : यहाँ गंगा सिंधू आदि का ग्रहण किस प्रयोजन से किया है ?

समाधान : नदियों का ग्रहण करने के लिये किया है। यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि अनंतर सूत्र में नदियों के नाम हैं ही अत: फिर नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसी व्याकरण में परिभाषा है कि अनंतर में विधि होती है या प्रतिषेध। अनंतर सूत्र में पश्चिम में गयी नदियों का ग्रहण होने से यहाँ केवल उन्हीं का ग्रहण होता जो इष्ट नहीं है। अत: गंगा–सिंधू आदि का ग्रहण करना युक्त है।

यहाँ **कोई पूछता है –** गंगादि का ही ग्रहण करना चाहिये था ? (गंगा सिंधू आदि का ग्रहण क्यों किया)।

उससे कहते हैं – ऐसा कहने से केवल पूर्व में गयी नदियों के ही ग्रहण का प्रसंग आता। अत: सभी नदियों के ग्रहण के लिये गंगा सिंध्वादि का ग्रहण किया है तथा नदी पद का ग्रहण दोगुणे–दोगुणे संबंध के लिये है। गंगा की परिवार नदियां चौदह हजार हैं। उसी प्रकार सिंधु की परिवार नदियां भी चौदह हजार हैं। इस तरह विदेह क्षेत्र तक अगली–अगली नदियों की परिवार नदियां दोगुणी–दोगुणी है। इसके आगे आधी–आधी होती गयी हैं।

आगे जो (सात) क्षेत्र कहे हैं, उनकी चौडाई बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। भरत: षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तार: षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ।। ३–२४ ।।

अर्थ : भरतक्षेत्र का विस्तार पांच सौ छब्बीस योजन और छह कला है। यहाँ (छह) कला कही, वे एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भागों को ग्रहण करना इस अर्थ में है (अर्थात् ५२६ सहित ६/१९ योजन)

आगे अगले क्षेत्रों और कुलाचलों का विस्तार बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ता: ।। ३–२५ ।।

अर्थ : इस भरतक्षेत्र से कुलाचल और क्षेत्र दुगने–दुगने विस्तार वाले हैं, जो विदेह क्षेत्र तक (ऐसे दोगुने–दोगुने) है। हिमवान कुलाचल एक हजार बावन योजन बारह कला विस्तार का है।

हेमवत क्षेत्र दो हजार पांच योजन पांच कला का है। महाहिमवान कुलाचल चार हजार दो सौ दश योजन दश कला विस्तार का है। हरिक्षेत्र आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन एक कला का है। निषध कुलाचल सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन दो कला का और विदेह क्षेत्र तेतीस हजार छह सौ चौरासी योजन चार कला विस्तार का है – ऐसा जानना।

आगे वालों का (कुलाचलों और क्षेत्रों) का विस्तार कैसा है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। उत्तरा दक्षिण तुल्या: ।। ३– २६ ।।

अर्थ : उत्तरा अर्थात् ऐरावत क्षेत्र से लेकर नीलकुलाचल तक के (क्षेत्र और कुलाचल) हैं वे भरत आदि जो दक्षिण की तरफ के हैं, उनके तुल्य अर्थात् समान हैं। यह विशेष है कि ह्रद और कमलों को भी सबको दक्षिण दिशा वालों के समान ही उत्तर दिशा वालों को भी जान लेना।

आगे पूछते हैं कि जो भरत आदि क्षेत्र कहे उनके मनुष्यों की आयु, अनुभव, काय, भोगोपभोग सदा समान ही है कि कुछ विशेष है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।। ३–२७ ।।

अर्थ : भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में निवास करते मनुष्यों के भोगोपभोग, आयु, काय, प्रमाण आदि में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप छह–छह कालों में वृद्धि–ह्रास अर्थात् बढना–घटना पाया जाता है। अवसर्पिणी काल के छह भाग है। सुखमासुखमा, सुखमा, सुखमादुखमा, दु:खमासुखमा, दु:खमा, अतिदु:खमा तथा उत्सर्पिणी के भी छह भाग हैं, उन्हें पूर्वोक्त से उल्टे क्रम में समझना – अतिदु:खमा, दु:खमा, दु:खमासुखमा, सुखमादु:खमा, सुखमा, सुखमासुखमा। इन (अवसर्पिणी उत्सर्पिणी) कालों का प्रमाण दश–दश कोडाकोडी सागर है एवं इन दोनों से मिलकर एक कल्पकाल होता है। सुखमासुखमा काल चार कोडाकोडी सागर का होता है, जिसके आदि में मनुष्य उत्तरकुरु भोगभूमि के मनुष्यों के समान होते हैं। वहाँ से अनुक्रम से घटते–घटते सुखमा काल तीन कोडाकोडी सागर का होता है, जिसके आदि में मनुष्य हरिक्षेत्र के मनुष्यों के समान होते हैं। तथा पुन: अनुक्रम से घटते–घटते सुखमा दु:खमा काल दो कोडाकोडी सागर का होता है, जिसके आदि में मनुष्य हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान होते हैं। वहाँ से घटते–घटते दु:खमासुखमा काल एक कोडाकोडी सागर से बयालीस हजार वर्ष कम का होता है, जिसकी आदि में मनुष्य विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के तुल्य होते हैं। पुन: अनुक्रम से घटते–घटते दु:खमा काल इक्कीस हजार वर्ष का होता हैं और पुन: अनुक्रम से घटते घटते अतिदु:खमा काल भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। उत्सर्पिणी में अनुक्रम ठीक इससे उल्टा होता है – ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं – अन्य भूमियों की व्यवस्था क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता: ।। ३-२८ ।।

अर्थ : भरत और ऐरावत क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र अवस्थिता: अर्थात् जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। वहाँ काल उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की तरह पलटते नहीं हैं।

वहाँ के मनुष्यों की आयु समान ही है या कुछ विशेष है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवका: ।। ३-२९ ।।

अर्थ : हैमवतक अर्थात् हैमवतक्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य है। इस क्षेत्र को जघन्य भोगभूमि भी कहते हैं। हरिवर्ष के मनुष्यों की आयु दो पल्य है, इस क्षेत्र को मध्यम भोगभूमि कहते हैं। तथा देवकुरु भोगभूमि के मनुष्यों की आयु तीन पल्य है, इसे उत्तमभोगभूमि कहते हैं। पांच मेरुओं संबंधी पांच हैमवत क्षेत्रों में सदा सुखमादु:खमा काल ही अवस्थित (रहता) है। वहाँ मनुष्यों की आयु एक पल्य और काय दो हजार धनुष की है। ये एक दिन के अंतर से आहार करते हैं। इनका शरीर नीलकमल जैसे वर्ण का होता है तथा पांच हरिक्षेत्रों में सदा सुषमा काल अवस्थित है। वहाँ मनुष्यों की आयु दो पल्य है, काय चार हजार धनुष की है। ये दो दिन के अंतर से आहार करते हैं और शरीर शंखवर्ण धवल होता है। पांचों देवकुरु क्षेत्रों में सदा सुखमासुखमा काल अवस्थित है। वहाँ मनुष्यों की आयु तीन पल्य है, काय छह हजार धनुष की है। ये तीन दिन के अंतर से आहार करते हैं और शरीर सुवर्णवर्ण है।

आगे पूछते है - उत्तर दिशा के क्षेत्रों की क्या व्यवस्था है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। तथोत्तरा: ।। ३-३० ।।

अर्थ : उत्तर दिशा के (क्षेत्रों की व्यवस्था) दक्षिण दिशा के समान ही जानना। हैरण्यवत की तो हेमवत के तुल्य है। रम्यक के हरिवर्ष के तुल्य है। उत्तरकुरु और देव कुरु में समान है। ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं -विदेह क्षेत्रों की क्या स्थिति है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। विदेहेषु संख्येयकाला: ।। ३-३१ ।।

अर्थ : पंचमेरु संबंधी पांच विदेहों में मनुष्य की आयु संख्यातवर्ष की है। वहाँ सदा ही काल सुखमादु:खमा काल के अंत जैसा अवस्थित रहता है। काय पांच सौ धनुष की है और नित्य आहार करते हैं। उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व की है। जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की है। यहाँ कहे पूर्व का परिमाण सत्तरलाख करोड वर्ष तथा छप्पन हजार करोड वर्ष (७०५६,०००,०००००००) होता है।

आगे पहले कहे भरत क्षेत्र के विस्तार का कथन अन्य प्रकार से करते हैं -

।। भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभाग: ।। ३-३२ ।।

अर्थ : जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। उसके एक सौ नब्बे भाग करने पर एक भाग

मात्र भरत क्षेत्र का विस्तार है, जो पहले कहे पांच सौ छब्बीस योजन छह कला परिमाण होता है।

पहले यह कहा था कि जम्बूद्वीप के चारों ओर वेदी है जिसके परे (दूसरी तरफ) दो लाख योजन विस्तार वाला वलयाकार लवण समुद्र है। उससे आगे चार लाख योजन वलय (गोलाकार) विस्तार वाला धातकीखंड है। वहाँ क्षेत्र आदि की संख्या की विधि का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। द्विर्धातकीखण्डे ।। ३–३३ ।।

अर्थ : धातकीखंड में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी आदि की संख्या जम्बूद्वीप से दोगुनी है।

यहाँ पूछते हैं – द्वि शब्द से सुप्रत्यय कैसे किया है ?

उत्तर : यहाँ क्रिया का अध्याहार करना है, उसका ज्ञान कराने के लिये सु प्रत्यय किया है। जैसे किसी मकान का किसी दूसरे मकान अपेक्षा परिमाण कहना हो वहाँ ऐसा कहा जाता है, यह मकान उससे दो गुणा है। यहाँ मापना (नापना) क्रिया है। उसी प्रकार यहाँ जम्बूद्वीप में एक–एक भरत आदि क्षेत्र है, उससे दो गुणा दो–दो समझना इस प्रकार द्विशब्द से सुप्रत्यय है उसका ज्ञान कराता है। धातकीखण्ड लवण समुद्र को घेरे कडे के आकार का है। इसके दक्षिण और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत है, जो लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रों की वेदियों का स्पर्श करते हैं। इनके कारण धातकीखण्ड के दो भाग हो जाते हैं – एक पूर्व दिशा का भाग, दूसरा पश्चिम दिशा का भाग। उन दोनों पूर्व पश्चिमी भागों के बीचों बीच दो (प्रत्येक में एक एक) मेरु पर्वत हैं। उन दोनों के दोनों तरफ (जम्बूद्वीप की तरह ही) भरत आदि क्षेत्र हैं, हिमवान आदि कुलाचल है। इस तरह दो दो भरत आदि क्षेत्र और दो दो हैमवत आदि कुलाचल है तथा जम्बूद्वीप में जो कुलाचल हिमवान आदि का विस्तार है उनसे दो गुणा कुलाचलों का विस्तार जानना। ये कुलाचल पहिये के आरों की तरह स्थित हैं तथा जैसे जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है उसी प्रकार धातकीखण्ड में धातकीवृक्ष है तथा वह भी परिवार वृक्षों सहित है। उस वृक्ष के होने के कारण ही धातकीखण्ड नाम है तथा उसे घेरे हुये कालोदधि समुद्र है। वह जैसे टांकी (छैनी) से काट दिये गये तीर्थ अर्थात् जल के निवास (समुद्र) हो तैसे है। इस (कालोदधि) का विस्तार आठ लाख योजन है और वह वलयाकार है। तथा इस (कालोदधि) को भी घेरे पुष्करद्वीप है जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है और यह भी वलयाकार है।

आगे इन पुष्करद्वीप के पहले द्वीप समुद्रों का विस्तार दुगना–दुगना बताया है। इस प्रकार यहाँ धातकीखण्ड द्वीप के क्षेत्र आदि के दो गुने होने का प्रसंग आता है। उसके निषेध के लिये विशेष नियम का सूत्र कहते हैं –

।। पुष्करार्द्धे च ।। ३–३४ ।।

अर्थ : जम्बूद्वीप के भरत, हैमवत आदि की अपेक्षा ही पुष्करार्द्ध में भी दो गुणे क्षेत्र, कुलाचल

हैं। दो भरत, दो हिमवान कुलाचल इत्यादि हैं और उनके नाम भी ये ही हैं तथा धातकीखण्ड की तरह ही यहाँ भी दो इष्वाकार पर्वत है। कुलाचलों का विस्तार धातकीखण्ड के कुलाचलों से दो गुणा जानना। यह बात व्याख्यान (आगम) से जानी जाती है तथा जहाँ जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, वहाँ पुष्करद्वीप में पुष्करवृक्ष अपने परिवार सहित है जिसके नाम से द्वीप का नाम प्रसिद्ध है। यहाँ पुष्करार्द्ध कहा वह इस द्वीप के बीच मानुषोत्तर पर्वत है उसके द्वारा विभाजित किये जाने के हुआ है, क्योंकि इस पर्वत के इस ओर आधा द्वीप (ही यहाँ कथन में) है अत: पुष्करार्द्ध नाम जानना।

आगे पूछते हैं कि जम्बूद्वीप हिमवान आदि की संख्या दोगुनी करके आधे पुष्करद्वीप में बताई इसका क्या प्रयोजन है ? पूरे पुष्करद्वीप में क्यों नहीं कही ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या: ।। ३–३५ ।।

अर्थ : पुष्करद्वीप के बीचों बीच वलयवृति रूप (गोलाकार) मानुषोत्तर नाम का पर्वत है। उसके पहले पहले ही मनुष्य है बाहर नहीं है। अत: बाहरी पुष्कर द्वीप के क्षेत्र का विभाग नहीं है। उस पर्वत के उस (दूसरी) तरफ ऋद्धिधारी तथा विद्याधर मनुष्य भी गमन नहीं कर सकते तथा जलचर जीव तथा विकलत्रय त्रस भी नहीं जाते हैं। वहाँ उत्पन्न भी नहीं होते हैं। उपपाद और समुद्घात से तो (जीव के आत्म) प्रदेश बाहर जाते हैं। उपपाद समुद्घात के अतिरिक्त (अन्य अवस्था में बाहर) नहीं जाते हैं। अत: इस (पर्वत) की संज्ञा सार्थक है। इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि अढाई द्वीप तथा लवणोदधि और कालोदधि इन दो समुद्रों में ही मनुष्य जानना।

आगे मनुष्य दो प्रकार के हैं, यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आर्या म्लेच्छाश्च ।। ३–३६ ।।

अर्थ : जो गुणों के कारण अथवा गुणवान पुरुषों द्वारा मान्य हैं, वे आर्य कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं – ऋद्धिप्राप्त, अनृद्धिप्राप्त। इनमें भी अनृद्धिप्राप्त आर्य पांच प्रकार के हैं – क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, दर्शन आर्य। तथा ऋद्धिधारी आर्य सात प्रकार के हैं – बुद्धिऋद्धिधारी, विक्रियाऋद्धिधारी, तपऋद्धिधारी, बलऋद्धिधारी, औषधऋद्धिधारी, रसऋद्धिधारी, अक्षीणऋद्धिधारी।

अनृद्धिप्राप्त आर्यों में जो काशी, कौशल आदि आर्य देशों में उत्पन्न हुये हैं, वे क्षेत्र आर्य हैं। जो इक्ष्वाकु जाति भोजकुल आदि में उत्पन्न हुये हैं वे जातिआर्य है। कर्म आर्य तीन प्रकार के है – सावद्यकर्म आर्य, अल्पसावद्य कर्म आर्य, असावद्यकर्म आर्य। उनमें भी सावद्यकर्म आर्य छह प्रकार के हैं। जो असि, धनुष आदि शस्त्रों के प्रयोग में प्रवीण हो वे असिकर्म आर्य है तथा द्रव्य आदि का आय व्यय लिखने में प्रवीण हों वे मषिकर्म आर्य हैं। हल, कुलि, दतिया आदि खेती के उपकरणों के

विधान को जाने वे कृषिकर्म आर्य हैं। जो चित्र बनाने, गणित आदि बहत्तर कला जानें वे विद्याकर्म आर्य है तथा धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, स्वर्णकार आदि शिल्प आर्य हैं तथा चन्दन आदि सुगंध घृत आदि रस शाल (चावल) आदि धान्य कपास आदि वस्त्र मोती आदि जवाहरात इस प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों का संग्रह कर अनेक प्रकार (खरीद बेच करें) वे वाणिज्य कर्म आर्य हैं। तथा अल्प सावद्य कर्म आर्य देशविरत श्रावक होते हैं। सकलव्रती मुनि असावद्यकर्म आर्य हैं।

चारित्र आर्य दो प्रकार के हैं – चारित्र मोह के उपशम अथवा क्षय से बाहर के उपदेश के बिना ही अपनी शुद्धता से ही चारित्र परिणाम को प्राप्त हुये हैं, वे अभिगत चारित्र आर्य है तथा चारित्र मोह के क्षयोपशम के होने पर बाहर के उपदेश से चारित्र परिणाम को प्राप्त हुये हो वे अनभिगत चारित्र आर्य हैं।

दर्शन आर्य दश प्रकार के हैं। वे सम्यक्त्व ग्रहण के (निमित्त) कारण की अपेक्षा से होते हैं। जो सर्वज्ञ अर्हत प्रणीत आगम की आज्ञा मात्र कारण से श्रद्धावान हुये हों वे आज्ञासम्यक्त्ववान कहे जाते हैं। तथा निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग के दर्शन श्रवण मात्र से श्रद्धावान हुये हो वे मार्ग श्रद्धावान है। तीर्थंकर आदि के पुराण आदि के उपदेश के निमित्त से श्रद्धावान हुये हो, वे उपदेश रूचिमान आर्य है। मुनियों के आचरण श्रुत के श्रवण मात्र से श्रद्धावान हुये हों वे सूत्र सम्यक्त्ववान है तथा बीजपद रूप जो सूक्ष्म अर्थ के निमित्त से श्रद्धावान हो वे बीजरूचिवान हैं। जीव आदि पदार्थों के संक्षेप उपदेश से श्रद्धावान हुये हों वे संक्षेपरुचि है। अंग पूर्व में जिस प्रकार कहा है उस प्रकार विस्ताररूप प्रमाण नय आदि के द्वारा निरूपित तत्त्वार्थ के श्रवण से श्रद्धावान हो वे विस्तार रुचि है तथा वचन के विस्तार के बिना सुने हुये अर्थ के ग्रहण से श्रद्धवान हो वे अर्थदर्शनवान है। द्वादशांग के जानने से श्रद्धवान हो वे अवगाढ रुचि है और परमावधि केवलज्ञानदर्शन से जीवादि पदार्थों को जानने से आत्मा उज्ज्वल श्रद्धान रूप हुआ हो वहाँ परमावगाढ रुचि कहा जाता है। इस प्रकार ये दश दर्शन आर्य हैं।

तथा ऋद्धिधारी आर्य सात प्रकार के कहे वे यहाँ आठ प्रकार के भी कहे हैं। **बुद्धिऋद्धि** के अठारह भेद है। उनमें से केवलज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान इन तीन का कथन तो पहले कर आये हैं तथा व्यवस्थित किये हुये क्षेत्र (खेत) में जैसे काल आदि की सहायता से बोया गया बीज अनेक फल देता है वैसे ही नोइन्द्रिय ज्ञानावरण वीर्यान्तराय के क्षयोपशम का प्रकर्ष होने पर एक बीज के ग्रहण से अनेक पदार्थों का ज्ञान हो वह बीजबुद्धि है। तथा जैसे कोठरी में रखे प्रचुर अलग-अलग धान्य बीज रूप से विनष्ट हुये बिना कोठरी में ही रखे रहें वैसे ही स्वयं द्वारा ही जाने गये अर्थ के बीज प्रचुर अलग-अलग बुद्धि में बने रहे जिस काल आवश्यकता हो उस काल निकाल लिये जावे उसे कोष्ठबुद्धि कहते हैं तथा पदानुसारी तीन प्रकार के हैं – अनुश्रोत, प्रतिश्रोत, दोनोंरूप । उनमें एक पद

का अर्थ सुनकर आरंभ तथा अंत तथा मध्यपूर्वक सर्वग्रंथ का अवधारण करना पदानुसारी है तथा चक्रवर्ती की सेना बारह योजन लम्बे और नव योजन विस्तार में होती है। उसमें हाथी, बीजी (घोडे), ऊँट, मनुष्य आदि के अक्षर अनक्षर रूप शब्द जो एक ही काल में प्राप्त हुये (सुने) उनको तप के बल से जो श्रोत्र इन्द्रिय का बल प्राप्त हुआ उन समस्त का एक काल में (अलग अलग) श्रवण हो उसे संभिन्नश्रोत्र कहते हैं तथा तप के विशेष से प्रकट हुआ असाधारण रसना इन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण वीर्यान्तराय का क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नामकर्म का उदय जिसको है ऐसे मुनि के रसना का विषय (क्षेत्र) जो नव योजन है उसके बाहर से बहुयोजन से आये रस के स्वाद को जानने की सामर्थ्य वह रसना इन्द्रिय ज्ञानलब्धि है। इस ही प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, श्रोत्र इन्द्रिय के विषय क्षेत्र के बाहर से आये स्पर्श, गंध, वर्ण, शब्द इनको भी जानने की सामर्थ्य होती है। ये पांच हुये। तथा रोहिणी आदि महाविद्यायें आकर तीन बार कहें कि हमें अंगीकार करो। वे विद्यायें कैसी हैं? अपने अपने रूप की सामर्थ्य प्रकट करने के कथन में प्रवीण हैं अर्थात् ऐसा कहती है जो चाहो सो करो – ऐसी विद्यादेवताओं से भी जिनका चरित्र चलायमान न हो ऐसे दशपूर्व के धारियों को दशपूर्वित्वऋद्धि होती है तथा संपूर्ण श्रुतकेवली के हो वह (ऋद्धि) चतुर्दशपूर्वित्व है तथा अंतरिक्ष, भोम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, स्वप्न – ये आठ निमित्तज्ञान हैं। ये जिनके हो उनको अष्टांगमहानिमित्त कहते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, ज्योतिषियों के उदय अस्त आदि से अतीत तथा अनागत फल को बता सकना **अंतरिक्ष** है। पृथ्वी की कठिनता, छिद्रमयता, सचिक्कणता (चिकनाई), रूक्षता (रूखापन) आदि देश से दिशा में सूत आदि की स्थापना करके हानिवृद्धि जय पराजय आदि को जान लेना तथा भूमि में गडे स्वर्ण रजत आदि को बता देना **भोमनिमित्तज्ञान** है तथा पुरुष के अंगोपांग देखकर तथा स्पर्शन आदि से त्रिकाल के सुख दु:ख आदि को जान लेना **अंगनिमित्तज्ञान** है तथा अक्षररूप तथा अनक्षररूप शुभ अशुभ शब्द के सुनने से इष्ट अनिष्ट फल जान लेना **स्वर निमित्त ज्ञान** है तथा मस्तक पर, मुख पर, गले पर तिल मुश आदि चिह्न देखकर तीन काल का हित अहित जान लेना **व्यंजननिमित्तज्ञान** है तथा शरीर में श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, भृंगार, कलश आदि चिह्न देखकर तीन काल के बारे में पुरुष के स्थान मान ऐश्वर्य आदि के विशेष जान लेना **लक्षणनिमित्तज्ञान** है तथा वस्त्र शस्त्र छत्र उपनात अर्थात् जूते की जोडी तथा आसन शयन आदि में देव मनुष्य राक्षस आदि द्वारा किये गये विभाग (टुकडे) तथा शस्त्र से कटे कांटे से फटे चूहे आदि के काटे आदि को देखकर तीन काल के लाभ अलाभ सुख दु:ख का ज्ञान कर लेना **छिन्न निमित्त ज्ञान** है तथा वात पित्त श्लेष्मा के दोष रहित पुरुष को स्वप्न आवे एवं रात्रि के पिछले भाग में चन्द्रमा सूर्य तथा पृथ्वी समुद्र का मुख में प्रवेश देखकर तथा समस्त पृथ्वीमंडल का आच्छादन देखे ऐसे तो शुभ स्वप्न अथवा घृत तैल से अपने देह

को भीगा देखना, गधे ऊँट पर अपने को चढा देखना तथा दिशा का गमन देखे ऐसे ये अशुभ स्वप्न इत्यादि देखने से आगामी जीवन-मरण, सुख-दु:ख आदि को जान लेना **स्वप्न निमित्त ज्ञान** है। ये आठ निमित्तज्ञान जिसके हो वह अष्टांगनिमित्तज्ञान ऋद्धि है तथा द्वादशांग चौदहपूर्व तो नहीं पढा हो तथा प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से ऐसी असाधारण प्रज्ञा प्रकट हुई हो कि चौदह पूर्व के पढने वाले ने सूक्ष्म तत्त्व के विचारने में एक पद कहा हो उससे नि:संदेह निरूपण कर दे उसके प्रज्ञा श्रवणत्व ऋद्धि है तथा अन्य के उपदेश के बिना ही अपनी शक्ति विशेष से ज्ञान संयम के विधान में प्रवृत्ति होना प्रत्येकबुद्धि ऋद्धि है तथा इन्द्र भी आकर वाद करे तो उसे निरुत्तर करे तथा वादी के (कथन में) दोष जिसे प्रतिभासित हो उसे वादित्व ऋद्धि होती है।

दूसरी क्रिया ऋद्धि के दो भेद हैं - चारण ऋद्धि, आकाश गामिनी ऋद्धि। उनमें चारण ऋद्धि के अनेक प्रकार हैं। जल के स्थान में जलकाय जीवों की विराधना न करते हुये भूमि की तरह पांव धरते गमन कर सकना जल चारण है तथा भूमि से चार अंगुल ऊँचे आकाश में जंघा उठाये शीघ्रता से सैकडों कोस गमन कर सकना जंघाचारण ऋद्धि है । इसी प्रकार तंतु पर गमन करना, पुष्प पर गमन करना, सीधा गमन करे, अग्नि शिखा पर गमन करे इत्यादि प्रकार गमन करने पर जीवों को बाधा न हो वे चारण ऋद्धि के भेद है तथा पद्मासनपूर्वक अथवा कायोत्सर्ग आसनपूर्वक पांवों के निक्षेप के बिना निराधार आकाश में कर जावे वहाँ आकाश गामिनी ऋद्धि है।

तीसरी विक्रिया ऋद्धि के भी अनेक भेद हैं। शरीर को अणुमात्र बना ले वह अणिमा ऋद्धि है। इसमें कमल के तंतु मात्र छिद्र में प्रवेश कर वहाँ बैठे ही चक्रवर्ती की विभूति (अपने पास) बना लेने की सामर्थ्य है तथा मेरुपर्वत से भी बडा शरीर बना लेना महिमा ऋद्धि है। भूमि पर बैठे बैठे ही अंगुल से मेरु के शिखर सूर्य आदि को स्पर्श कर सकना प्राप्तिऋद्धि है तथा भूमि में तो जल की तरह और जल में भूमि की तरह उन्मज्जन निमज्ज करे वह प्राकाम्य ऋद्धि है। तीन लोक का प्रभुत्वपना बना ले वह ईशत्व ऋद्धि है। सर्व जीवों को वश कर लेने की सामर्थ्य वशित्व ऋद्धि है। पर्वत के बीच में होकर आकाश की तरह गमनागमन करना अप्रतिघात ऋद्धि है। अदृष्ट हो जावे किसी को भी न दिखे वह अन्तर्धान ऋद्धि है। एक ही काल में अनेकरूप बना सकने की शक्ति कामरूपित्व ऋद्धि है। इनसे लेकर अनेक प्रकार की विक्रिया ऋद्धियां है।

चौथी तपोतिशय ऋद्धि सात प्रकार की है। उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला (एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पांच दिन के उपवास) तथा पक्ष मास आदि अनशन तप आरंभ करके मरणपर्यन्त करता रहे ऐसी सामर्थ्य होना उग्रतप ऋद्धि है तथा महाउपवास करते भी काय-वचन-मन का बल बढता ही रहे, शरीर में दुर्गन्ध आदि न आवे सुगंधित स्वासोच्छवास हो शरीर की दीप्ति घटे

नहीं वह दीप्ततप ऋद्धि है। जैसे कडाहे में पडा जल शीघ्र सूख जाता है वैसे ही आहार करे पर वह मल रुधिररूप न परिणमें वह तप्ततप है। सिहनिष्क्रीडित आदि महोपवास के आचरण में तत्पर हो वह महातप ऋद्धि है तथा वात पित्त श्लेष्मा सन्निपात से उत्पन्न ज्वर कास श्वास अक्षिसूल कोट प्रमेह आदि अनेक प्रकार के रोगों से जिनका शरीर संताप रूप हुआ है तब भी अनशन कायक्लेश आदि तप से छूटे नहीं (तप करते ही रहें) भयानक मसाण पर्वत के शिखर गुफा दरी कंदरा शून्य ग्राम आदि में दुष्ट यक्ष राक्षस पिशाच बेताल आदि का विकार होने पर भी तथा कठोर जैसे स्यालिनी का रुदन निरंतर सिंह व्याघ्र आदि तथा दुष्ट हाथियों के भयानक शब्द सुनने से भी तथा जहाँ चोर आदि का विचरण हो ऐसे भयानक स्थानों में बैठकर तप करें वह तप ऋद्धि है तथा वे ही मुनि तप का योग बढाने में तत्पर हो वे घोर पराक्रम ऋद्धिधारी है। तब बहुत काल से ब्रह्मचर्य के धारक तथा अतिशयरूप चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जिनके विकार रूप खोटे स्वप्न नष्ट हो गये है वे घोर ब्रह्मचर्यवान है। इस तरह सात तपोऋद्धियां है।

पांचवीं बलऋद्धि तीन प्रकार की है। मन: श्रुतज्ञानावरण वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का प्रकर्ष होने पर अन्तर्मुहूर्त में समस्त श्रुत के अर्थ का चिंतवन करने की सामर्थ्य जिनको हो वे मनोबल ऋद्धि वाले हैं तथा मनोजिव्हा श्रुतज्ञानावरण वीर्यान्तराय का अतिशयरूप क्षयोपशम होते अन्तर्मुहूर्त में सकलश्रुत के उच्चारण की सामर्थ्य हो और निरंतर उच्चस्वर से उच्चारण करते भी खेदरहित हो और कंठस्वर भंग न हो वे वचनबल ऋद्धि के धारी है तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से असाधारण कायबल के प्रकट होते मासिक चातुर्मासिक वार्षिक प्रतिमा योग धारण करते भी खेदरहित रहें वे कायबली हैं।

छठी औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है। असाध्यरोग भी हो तो वह भी उनके स्पर्शन मात्र से नष्ट हो जावे, वहाँ उनके पांव का स्पर्शन ही औषध तथा थूक ही औषध तथा पसीने सहित रज अर्थात् जल्ल ही औषध तथा कान, दांत, नासिका, नेत्र का मल ही औषध तथा विट्मल तथा मूत्र ही औषध तथा अंग, उपांग, नख, दंत, केश आदि का स्पर्श की हुई पवन आदि सर्व ही औषध तथा तीव्र जहर मिला आहार भी जिनके मुख में जाने पर विषरहित हो जावे वे अस्याविष है तथा जिनको देखने मात्र से ही तीव्र जहर दूर हो जावे वह दृष्ट्यविष है। इस तरह आठ औषधीऋद्धि है।

सातवीं रस ऋद्धि छह प्रकार की है। महातपस्वी मुनि को कदाचित् क्रोध उत्पन्न हो जावे वे किसी से कह दें तू मर जा तो उनके वचन से वह तत्क्षण मर जावे, यह आस्यविष है तथा कदाचित् क्रोध करके क्रूरदृष्टि से जिसे देख ले वह मर जावे यह दृष्टिविष है तथा नीरस भोजन भी जिनके हाथ में आ जाने पर क्षीररस वाला हो जावे तथा जिनके वचन ही दुर्बल को क्षीर की तरह तृप्ति प्रदान करे

वह क्षीरस्रावी है। जिनके हाथ में पडा आहार नीरस भी हो वह मिष्टरसवीर्य परिणामवाला हो जावे तथा जिनका वचन सुनने वालों को मिष्टरस के गुण की तरह पुष्ट करे वह मधुस्रावी है। जिनके हाथ में पडा अन्न रूखा भी हो तो घृतरस के वीर्य के पाक को प्राप्त हो तथा जिनके वचन घृत की तरह प्राणियों को तृप्त करे वह सर्पि:स्रावी है। जिनके हाथों में पडा भोजन अमृत हो जावे तथा जिनके वचन प्राणियों को अमृत की तरह उपकार करे वह अमृतस्रावी है। इस तरह रस ऋद्धि छह प्रकार की है।

तथा **आठवीं क्षेत्र ऋद्धि** दो प्रकार की है। लाभान्तराय के क्षयोपशम के अतिशयवान मुनि को जिस भोजन में से भोजन दिया हो उस भोजन में चक्रवर्ती की सेना भोजन करे तो उस दिन वह भोजन खत्म न हो वह अक्षीणमहानस ऋद्धि है तथा जहाँ मुनि बैठे हो वहाँ देव मनुष्य तिर्यंच सब ही आ बसें तो परस्पर बाधा न हो (स्थान की) तंगी न हो वह अक्षीणमहालय ऋद्धि है। इस तरह की ऋद्धियां जिनको प्राप्त हो वे ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं।

तथा म्लेच्छ दो प्रकार के हैं – अंतर्द्वीपज, कर्मभूमिज। इनमें से अन्तर्द्वीपज तो लवण समुद्र की आठ दिशा विदिशा में तथा आठ ही उनके अन्तरालों में तथा हिमवान शिखरी कुलाचल तथा दोनों विजयार्द्धों के पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओं के अन्त में आठ इस तरह चौबीस द्वीप है वहाँ बसते हैं। ये दिशाओं के द्वीप तो जम्बूद्वीप की वेदी से पांच सौ योजन दूर समुद्र में हैं और इनका विस्तार एक एक सौ योजन है। विदिशाओं के द्वीप वेदी से पांच सौ योजन दूर हैं और उनका विस्तार पचपन पचपन योजन है तथा दिशा विदिशा के अन्तराल के द्वीप वेदी से पांच सौ पचास योजन दूर है और उनका विस्तार पचास पचास योजन है। पर्वतों के अन्त के द्वीप वेदी से छह सौ योजन दूर है और उनका विस्तार पचीस पचीस योजन का है।

वहाँ मनुष्य कैसे हैं ?

पूर्व दिशा के द्वीप के वासी तो एक जांघ वाले हैं। पश्चिम के पूंछ वाले हैं। उत्तर दिशा के गूंगे है। दक्षिण दिशा के सींगवाले हैं। तथा चारों विदिशा के द्वीपों के वासी क्रमश: खरगोश के से कान वाले सांकली के से कान वाले कानों से अपने को ढक ले इतने बडे कान वाले तथा लम्बे कान वाले है। तथा अन्तराल (के द्वीपों के वासी) के क्रमश: घोडामुख, सिंहमुख, भैंसामुख, शूकरमुख, वघेरामुख, उल्लूमुख, काकमुख, बंदरमुख है। शिखरी कुलाचल के दोनों अन्त (के द्वीपों के वासी) के मुख मेघमुख तथा विद्युतमुख है। हिमवान कुलाचल के दोनों अन्त के द्वीपों के (वासी) मच्छमुख काल मुख है तथा उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त के द्वीपों के वासी हस्तिमुख आदर्शमुख है। दक्षिणी विजयार्ध के दोनों अन्तों के द्वीपों के वासी गोमुख मेषमुख है तथा एकजांघ वाले तो मिट्टी का आहार करते हैं गुफाओं में बसते हैं तथा शेष सभी ही पुष्पफलों का आहार करते हैं और वृक्षों के बीच निवास

करते हें । इन सभी की आयु एक पल्य है । ये चौबीसों द्वीप जल से एक एक योजन ऊँचे है । इस ही प्रकार कालोदधि समुद्र में जानना । इस तरह अंतरद्वीप के म्लेच्छों का कथन किया ।

तथा कर्मभूमियों के म्लेच्छ शक यवन शबर पुलिंद इन से लेकर अनेक जातियों के हैं ।

आगे पूछते हैं – कर्मभूमि कहां है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। भरतैरावतविदेहा: कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्य: ।। ३–३७ ।।

अर्थ : पांच मेरुओं संबंधी पांच भरतक्षेत्र, पांच ऐरावतक्षेत्र और पांच विदेह इस तरह पन्द्रह कर्मभूमियां है । तथा विदेह कहने से देवकुरु उत्तरकुरु भी उसी में होने से उनके प्रसंग के निषेध के लिये उनको छोडकर ऐसा कथन किया है; क्योंकि ये दोनों तो उत्तम भोगभूमियाँ हैं । हैमवत जघन्य भोगभूमि है । हरिक्षेत्र मध्यम भोगभूमि है । रम्यक मध्यम भोगभूमि है । हैरण्यवत जघन्य भोगभूमि है । तथा अन्तर द्वीपों को भी भोगभूमि ही कहा जाता है ।

यहाँ **पूछते हैं** – किस कारण से कर्म भूमित्व कहा जाता है ?

समाधान : कर्मभूमियां शुभ अशुभ कर्म के आधार क्षेत्र हैं ।

पुन: **प्रश्न :** कर्म का आश्रय तो तीनों ही लोक के क्षेत्र है ।

समाधान : इसी से उनका अतिशयपूर्वक कर्म का आश्रय जाना जाता है । सातवें नरक में जावे उसके लिये कारणरूप अशुभ कर्म इन भरत आदि क्षेत्रों में ही उपजता है तथा सर्वार्थसिद्धि आदि के गमन के लिये कारणरूप शुभ कर्म भी इन्हीं क्षेत्रों में उपजाया जा सकता है एवं खेती आदि छह प्रकार के कर्म भी इन्हीं क्षेत्रों में किये जाते हैं, अत: इन्हें कर्मभूमि कहा जाता है । अन्य अर्थात् भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्पवृक्षों से कल्पित भोगों का अनुभव है, अत: इन्हें भोगभूमियां कहते हैं ।

आगे ऊपर जो भूमियां कही हैं उनमें मनुष्यों की स्थिति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नृस्थिति परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।। ३–३८ ।।

अर्थ : मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तो तीन पल्य है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । मध्य के अनेक भेद है । दो घडी को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । इससे कम हो वह अन्तर्मुहूर्त है ।

यहाँ **कोई पूछता है** – पल्य किसे कहते हैं ?

तब प्रसंग पाकर पल्य को जानने के लिये प्रमाण की विधि का कथन करते हैं । प्रमाण (परिमाण) दो प्रकार का है– लौकिक, अलौकिक । उनमें से लौकिक प्रमाण छह प्रकार का है – मान, उन्मान, अवमान, गणमान, प्रतिमान, तत्प्रतिमान । पायी, माणी इत्यादि से (द्रव तथा धान्य आदि को) नापना मान है । तराजू से तौलना उन्मान है । हाथ की अंजुली आदि से नापना अवमान है । एक दो तीन आदि गिनती गणमान है । चिरम तोला मासा (आजकल ग्राम किलोग्राम क्विंटल आदि)

प्रतिमान है। घोडे आदि (सभी वस्तुओं) के मूल्य इत्यादि तत्प्रतिमान है।

अलौकिक मान के चार भेद हैं– द्रव्यमान, क्षेत्रमान, कालमान, भावमान। उनमें से द्रव्यमान में जघन्य एक परमाणु है और उत्कृष्ट सर्व पदार्थों का परिमाण है। क्षेत्रमान में एक जघन्य एक प्रदेश है और उत्कृष्ट सर्व आकाश है। कालमान में जघन्य एक समय है और उत्कृष्ट तीन काल के समयों का समूह है। भावमान में जघन्य सूक्ष्मनिगोदिया लब्धिअपर्याप्तक के लब्ध्य अक्षर ज्ञान का अविभागप्रतिच्छेद है और उत्कृष्ट केवलज्ञान है। द्रव्य मान के दो भेद है –संख्यामान, उपमामान। उनमें से संख्यामान के तीन भेद है संख्यात, असंख्यात, अनंत। उनमें से संख्यात भी जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। तथा असंख्यात है, वह परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात इन तीनों के जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के भेद से नव प्रकार का है तथा अनंत भी परितानंत, युक्तानंत, अनंतानंत – इन तीनों के जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के भेद से नव प्रकार का है। इस तरह संख्यामान के इक्कीस (३ + ९ + ९ = २१) भेद है। इनमें से जघन्य संख्यात दो है तथा तीन से लेकर उत्कृष्ट संख्यात से एक कम तक सब मध्यम संख्यात है तथा जघन्य परितासंख्यात से एक कम प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात है। अत: जघन्य परितासंख्यात को जानने के लिये उपाय बताते है–

अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका नामक चार कुण्ड कल्पना करना।

इनमें से प्रत्येक का परिमाण जम्बूद्वीप के समान चौडा और हजार योजन गहरा (कुण्ड की लम्बाई – चौडाई जम्बूद्वीप = १,००,००० योजन और गहराई १००० योजन) है। इनमें से अनवस्था कुण्ड को गोल सरसों के दानों से सिंघाऊ भरना। इसमें छियालीस अंक प्रमाण (१९९७११२९३८४५१३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३) सरसों भरेंगे। तब अन्य एक सरसों शलाका कुंड में डालना अथवा मनुष्य तो केवल बुद्धिपूर्वक अथवा देव अपने हाथ आदि से एक को द्वीप में दूसरे को समुद्र में (इस तरह अनवस्था कुण्ड के सरसों के दानों को) गिराता जावे। तब वे सरसों जहाँ पूर्ण हो उस द्वीप अथवा समुद्र के व्यास प्रमाण चौडा और एक ही हजार योजन गहरा अनवस्था कुण्ड (कल्पना में) बनाकर उसको सरसों के दानों से भरना। तब पुन: एक अन्य सरसों शलाका कुण्ड में डालना। फिर इस (दूसरे) अनवस्था कुण्ड के दानें वहाँ से अगले अगले द्वीप समुद्रों में एक एक डालना। तब जिस द्वीप अथवा समुद्र में वे सरसों के दाने पूरे हों वहाँ तीसरा अनवस्था कुण्ड उस द्वीप अथवा समुद्र के व्यास के बराबर व्यास का बनाकर उसे सरसों के दानों से भरना तथा एक अन्य सरसों शलाका कुण्ड में डालना। इसप्रकार बनते जाने वाले अनवस्था कुण्डों के सरसों एक एक द्वीप समुद्र में गिराते जाने से अनवस्था कुण्ड (का आकार) तो बढता जावेगा और एक एक सरसों शलाका कुण्ड गिरते गिरते शलाका कुण्ड भर जावे तब छयालीस अंक

प्रमाण अनवस्था कुण्ड बन जाने पर शलाका कुण्ड बनेगा। तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्ड में डालना और शलाका कुण्ड को खाली करके आगे-आगे अनवस्था कुण्डों को ऊपर कही रीति से ही बढाते बढाते और एक एक सरसों शलाका कुण्ड में डालते डालते जब पुन: शलाका कुण्ड को खालीकर इस ही विधि से तीसरी बार शलाका कुण्ड भरना। इस तरह करते करते जब छयालीस अंक प्रमाण शलाका कुण्ड भर चुके तक एक प्रतिशलाका कुण्ड भरेगा। तब एक अन्य सरसों का दाना महाशलाका कुण्ड में डालना। इस तरह द्वीपों में सरसों गिराते गिराते जावें अनवस्था कुण्ड बडे बडे होते जावे शलाका कुण्ड भर भर के खाली करते जाना प्रतिशलाका कुण्ड में एक-एक सरसों गिराते जाना और प्रतिशलाका कुण्ड भी भरते जावे तब इस ही विधि से एक एक सरसों महाशलाका कुण्ड में गिराते-गिराते जब छयालीस अंक प्रमाण प्रतिशलाका कुण्ड भर जावेंगे तब एक महाशलाका कुण्ड भरेगा।

तब अनवस्था कुण्ड कितने हुये।

छयालीस अंकों की संख्या का घन करें उतने अनवस्था कुण्ड हुये। उनमें जो सबसे अंत का अनवस्था कुण्ड जिस द्वीप अथवा समुद्र के व्यास प्रमाण हुआ उसमें जितने सरसों के दाने भरे जा सकेंगे उतना परिमाण जघन्य परितासंख्यात का है। इस जघन्य परीतासंख्यात से एक-एक बढते मध्यमपरितासंख्यात के भेद है और जघन्य युक्तासंख्यात से एक कम है वह उत्कृष्ट परितासंख्यात है। अब जघन्य युक्तासंख्यात का परिमाण बताते हैं – जघन्य परितासंख्यात का विरलन करो और प्रत्येक पर एक-एक परीतासंख्यात लिखकर परस्पर गुणा करों अर्थात् पहले (परीतासंख्यात) को दूसरे परीतासंख्यात से गुणा करो गुणनफल को तीसरे से गुणा करो जो परिमाण आवे उसे चौथे से गुणा करो। इस तरह गुणा करते करते अन्त में जो राशि हो वह जघन्य युक्तासंख्यात है। इतने समय एक आवली में होते हैं। इससे ऊपर एक-एक बढते उत्कृष्ट युक्तासंख्यात से एक कम तक मध्यम युक्तासंख्यात के भेद है तथा जघन्य असंख्यातासंख्यात से एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात है। अब जघन्य असंख्यातासंख्यात का कथन करते हैं – जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्य युक्तासंख्यात से एक बार गुणा करने पर जो परिमाण आता है, वह जघन्य असंख्यातासंख्यात है तथा इसके ऊपर एक एक बढते उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से एक कम तक मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद है तथा परीतानंत से एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात है। अब जघन्य परीतानंत का कथन करते हैं – जघन्य असंख्यातासंख्यात जितनी-जितनी तीन राशियां करना १. शलाका राशि २. विरलन राशि ३.देय राशि। विरलन राशि के एक-एक अलग-अलग बखेरना। प्रत्येक पर एक एक देय राशि लिखना। उन सबको परस्पर गुणा करना (यह गुणनफल जघन्य असंख्यातासंख्यात हुआ) ऐसा

करके शलाका राशि में से एक घटाना। तब जो परिमाण (गुणनफल) प्राप्त हो उसे देय राशि बना लेना। तब पुनः एक (विरलन) राशि का विरलन करके प्रत्येक पर (नई) देश राशि लिखना और परस्पर गुणा करना। इस तरह करके शलाका राशि में से पुनः एक कम कर देना और जो परिमाण प्राप्त हुआ उतनी को देय राशि बना लेना। पुनः विरलन राशि का विरलनकर प्रत्येक पर (तीसरी) देय राशि लिखकर परस्पर गुणा करना, तब जो परिमाण प्राप्त हो उसे पुनः देय राशि बना लेना और शलाका राशि में से पुनः एक-एक कम कर देना। इस तरह शलाका राशि को एक-एक कम करते जब सारी शलाका राशि पूर्ण हो जावे तब वहाँ जो कुछ परिमाण हुआ, वह असंख्यातासंख्यात का मध्य भेद है। तब इतने इतने प्रमाण में पुनः तीन राशि - शलाका, विरलन, देय करना। तब विरलन राशि को एक-एक बखेरकर प्रत्येक पर देय राशि लिखकर परस्पर सबको गुणा करना और शलाका राशि में से एक कम कर देना (तथा पूर्वोक्त प्रकार इस गुणनफल को देय राशि बना लेना) इसतरह पूर्वोक्त प्रकार करते जब पुनः शलाका राशि पूर्ण हो जावे तब भी जो परिमाण प्राप्त होगा वह मध्यम असंख्यातासंख्यात का ही भेद होगा। तब पुनः इस प्रकार प्राप्त राशि जितनी जितनी शलाका आदि तीन राशियां लेना तथा विरलन राशि को एक एक बखेर कर प्रत्येक पर देय राशि लिखना और उन्हें परस्पर गुणा करना और तीसरी शलाका (तीसरी बार की शलाका) राशि में से एक कम करना। तब जो परिमाण आवे उतने परिमाण देय राशि करके विरलन राशि को बखेरकर उन पर देय राशि लिखकर परस्पर गुणा करना और शलाका राशि में से पुनः एक कम कर देना। ऐसा करते करते तीसरी बार की शलाका राशि जब पूर्ण हो जावे तब शलाकात्रय निष्ठापन हुआ कहा जाता है। आगे भी जहाँ शलाकात्रय निष्ठापन कहा हो वहाँ यही अर्थ समझना (ऐसा ही करना) ऐसा करने पर जो मध्यम असंख्यातासंख्यात का भेद हुआ उसमें छह राशियां जोडना १. धर्म द्रव्य २. अधर्म द्रव्य ३. लोकाकाश ४. एक जीव - इन चारों के प्रत्येक के लोक प्रमाण प्रदेश और ५. लोक के प्रदेशों से असंख्यात लोक गुणे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण तथा ६. उससे भी असंख्यात लोक गुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण - ये छह राशियां पूर्वोक्त प्रमाण में मिलाकर इतनी इतनी शलाका विरलन देय राशियां लेना। इनका भी पूर्वोक्त प्रकार शलाका त्रय निष्ठापन करना। ऐसा करने पर प्राप्त महाराशि भी मध्यम असंख्यातासंख्यात का ही भेद हुआ। इसमें पुनः चार राशियां जोडना (१) बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण कल्पकाल के समयों का प्रमाण (२) असंख्यात लोकप्रमाण स्थिति बंध के लिये कारणरूप कषायों के स्थान (३) इनसे असंख्यात लोक गुणे अनुभाग बंध के लिये कारणरूप कषाय स्थान तथा (४) इनसे भी असंख्यात लोक गुणे मनवचनकाय योगों के अविभागी प्रतिच्छेद- इन चार राशियों को पूर्व परिमाण में मिलाने पर जो परिमाण हो इतनी इतनी शलाका विरलन देय राशियां

– ये तीन राशियां बनाना। तथा पूर्वोक्त प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करना। ऐसा करने पर जो परिमाण हो वह जघन्य परीतानंत है तथा इसके ऊपर एक एक बढते उत्कृष्ट परीतानंत से एक कम तक मध्यम परीतानंत के भेद होते हैं तथा जघन्य युक्तानंत से एक कम उत्कृष्ट परीतानंत होता है। अब जघन्य युक्तानंत का कथन करते हैं – जघन्य परीतानंत राशि का विरलन करके प्रत्येक स्थान पर जघन्य परीतानंत लिखकर परस्पर गुणा करने पर जो परिमाण होता है वह जघन्य युक्तानंत है। यह राशि अभव्य राशि के समान है तथा इससे ऊपर एक एक बढते उत्कृष्ट युक्तानंत से एक कम तक सब मध्यम युक्तानंत के भेद हैं। तथा जघन्य अनंतानंत से एक कम उत्कृष्ट युक्तानंत है। अब जघन्य अनंतानंत का कथन करते हैं – जघन्य युक्तानंत को जघन्य युक्तानंत से एक बार गुणा करने पर जो परिमाण होता है वह जघन्य अनंतानंत है। इसके ऊपर एक एक बढते केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों परिमाण उत्कृष्ट अनंतानंत से एक कम तक मध्यम अनंतानंत जानना। अब उत्कृष्ट अनंतानंत का कथन करते हैं – जघन्य अनंतानंत जितनी जितनी शलाका, विरलन, देय – ये तीन राशियां करके क्रम से उपरोक्त प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करना। ऐसा करते मध्यम अनंतानंत के भेद होता है। उसमें छह राशियां जीव राशि के अनंतवें भाग (१) सिद्ध राशि (२) उससे अनंतगुणी पृथ्वी, अप, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, त्रसराशि रहित संसारी जीव राशि मात्र निगोद राशि (३) प्रत्येक वनस्पति सहित निगोद राशि प्रमाण वनस्पति राशि (४) जीव राशि से अनंत गुणी पुदगलराशि (५) इससे अनंतानंत गुणी व्यवहार काल के समयों की राशि (६) इससे भी अनंतानंत गुणी अलोकाकाश के प्रदेशों की राशि मिलाना। इन छह राशियों को जोडने पर जो परिमाण प्राप्त हो उतनी उतनी शलाका, विरलन, देय राशियां लेकर अनुक्रम से उपरोक्त प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करने पर जो मध्यम अनंतानंत के भेदरूप परिमाण प्राप्त हो उसमें धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य के अगुरुलघु के अविभाग प्रतिच्छेदों का परिमाण जो अनंतानंत है वह जोडना। ऐसा करने पर जो महापरिमाण हो उस परिमाण जितनी जितनी शलाका, विरलन, देय राशियां लेकर अनुक्रम से उपरोक्त प्रकार शलकात्रय निष्ठापन करना। अब जो कोई मध्यम अनंतानंत के भेदरूप महापरिमाण को केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह में से घटाइये और जो शेष रहे उतना ही उस महाराशि में जोडिये, तब केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद के प्रमाण जितना उत्कृष्ट अनंतानंत होता है। यहां केवलज्ञान के (अविभाग प्रतिच्छेदों के) परिमाण में से घटाने और पुन: जोड देने का प्रयोजन यह है कि केवलज्ञान के (अविभाग प्रतिच्छेदों) का परिमाण उपरोक्त गणना से जाना नहीं जा सकता अत: इसप्रकार ज्ञान कराया है। इस तरह संख्यामान के इक्कीस भेदों का कथन किया। तथा इनका विशेष कथन करने के लिये सम–विषम आदि चौदह धारायें है, उनका वर्णन त्रिलोकसार ग्रंथ से जानना।

तथा **उपमाप्रमाण आठ प्रकार का है** – पल्य, सागर, सूच्यांगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगतश्रेणी, जगतप्रतर, जगतघन। यहाँ पहले तो योजन नामक प्रमाण की उत्पत्ति बताते हैं। यहाँ आदि मध्य अंत से रहित ऐसा पुदगल का परमाणु जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सके ऐसा अविभागी हो तथा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता हो तथा जिसमें रसों में से एक, वर्ण में से एक, गंध में से एक तथा स्पर्शन के भेदों में से दो, ये पांच गुण हों ऐसे अनंतानंत परमाणुओं के समूह को उत्संज्ञा कहते हैं। ऐसे आठ उत्संज्ञासंज्ञ मिलकर एक संज्ञासंज्ञ होते हैं। ऐसे आठ संज्ञासंज्ञ मिलकर एक तुटिरेणु होता है। आठ तुटिरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का एक उत्तम भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग होता है। आठ उत्तम भोगभूमि के मनुष्य के बाल के अग्रभाग मिलकर एक मध्यम भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग और आठ ये (मध्यम भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग) मिलकर जघन्य भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग होता है। जघन्य भोगभूमि के मनुष्य के बाल के आठ अग्रभाग मिलकर कर्मभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग होता है। कर्मभूमि के मनुष्य के बाल के आठ अग्रभाग मिलकर एक लीख होता है। आठ लीख मिलकर एक युका होता है। आठ युका मिलकर एक यवमध्य होता है। आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है। इस (उत्सेध) अंगुल से नारकी तिर्यंच मनुष्य देवों के शरीर तथा अकृत्रिम जिनप्रतिमा का देह नापा जाता है। पांच सौ उत्सेधांगुल का एक प्रमाण अंगुल होता है। यह प्रमाण अंगुल अवसर्पिणी काल के पहले चक्रवर्ती (के अंगुल के बराबर) होता है। उस समय इस अंगुल से गांव नगर आदि का प्रमाण होता है। अन्य काल में मनुष्यों के अपने अपने अंगुल से प्रमाण होता है जिससे ग्राम नगर आदि को नापा जाता है तथा जो प्रमाणांगुल है उससे द्वीप–समुद्र तथा उनकी वेदियां, पर्वत, विमान, नरक के प्रस्तार आदि अकृत्रिम वस्तुओं का विस्तार आयाम आदि नापे जाते हैं। आगे छह अंगुल का एक पाद होता है तथा बारह अंगुल का एक विलस्ति होती है। दो विलस्ति का एक हाथ, दो हाथ का एक किकु, दो किकु का एक धनुष तथा दो हजार धनुष का एक कोश होता है और चार कोश का एक योजन होता है, ऐसा जानना।

आगे **पल्य का प्रमाण कहते हैं।** पल्य तीन प्रकार के होते हैं – व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, अद्धापल्य। पल्य खड्डे को कहते हैं। यहाँ शुरु के व्यवहारपल्य तो आगे के दो पल्यों की उत्पत्ति जानने के लिये है। इससे किसी भी अन्य वस्तु का प्रमाण नहीं किया जाता। दूसरे **उद्धारपल्य से द्वीप समुद्र गिने जाते हैं तथा अद्धापल्य से आयुकर्म आदि की स्थिति नापी जाती है।** तब प्रमाणांगुल के प्रमाण से एक योजन लम्बा चौड़ा और गहरा – ऐसे तीन गड्डे बनाइये। उसमें एक से लेकर सात दिन तक की आयु वाले उत्तमभोगभूमि के मैंडे के बालों को काट काटकर ऐसे खण्ड करो

जिसका कैंची से फिर दूसरा खंड नहीं हो सकता हो, ऐसे रोमखण्डों से व्यवहारपल्य नामक गड्ढे को खूब दबा दबाकर पूरा भरो। इसमें पैंतालीस अंक प्रमाण रोम भरे जावेंगे। इन रोमों में से एक-एक रोम प्रत्येक सौ वर्षों में निकालें तब जितने काल में वह गड्ढा खाली होगा उतने काल को व्यवहारपल्य कहते हैं। इन रोमों के एक-एक के असंख्यात कोड वर्षों में जितने समय होते हैं, उतने उतने खण्ड करो (कल्पना में, क्योंकि किये तो जा नहीं सकते, पहले ही जिन रोमों से भरा गया था, उसका दूसरा खण्ड नहीं किया जा सकता है ऐसा कहा जा चुका है) और एक-एक समय में एक एक रोम (खण्ड) निकालो। इसमें जितना काल बीते उतने काल को एक उद्धार पल्य कहते हैं तथा दशकोडाकोडी उद्धार पल्यों का एक उद्धारसागरोपम होता है। ऐसे अढाई सागर के जितने समय होते हैं, उतने द्वीप समुद्र है तथा उद्धार पल्य के लिये जो रोम खण्ड हैं, उसने प्रत्येक के (कल्पना में) एक सौ वर्षों में जितने समय होते हैं, उतने-उतने खण्ड करो और एक-एक समय में एक-एक निकालने में जितना समय लगे (काल लगे) वह एक अर्द्धापल्य है। त्रिलोकसार में ऐसा कहा है कि उद्धार पल्य के रोमों के एक-एक के असंख्यात वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने-उतने खण्ड करना। ऐसे दश कोडाकोडी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है तथा दशकोडाकोडी अद्धासागरों का एक अवसर्पिणी काल होता है। उतना ही उत्सर्पिणी काल होता है। इन अद्धापल्यों से नारक, तिर्यंच, देव, मनुष्य की कर्म स्थिति तथा भव की स्थिति तथा काय की स्थिति बताई जाती है तथा अद्धापल्य के जितने अर्द्धच्छेद हों (यदि $२^{प}$ = अद्धापल्य तो **प** को अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद कहा जाता है) उनको एक-एक बिखराकर एक-एक पर अद्धापल्य लिखकर परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उन्हें आकाश के प्रदेशों की पंक्ति में रखिये वह (लम्बाई) **सूच्यांगुल** है तथा सूच्यांगुल को सूच्यांगुल से गुणा करने पर प्रतरांगुल होता है और प्रतरांगुल को सूच्यांगुल से गुणा करने पर **घनांगुल** होता है तथा असंख्यात वर्षों में जितने समय होते हैं उतने अद्धापल्य के खण्ड करो। उनमें से एक-एक खण्ड लेकर उन्हें बखेरकर एक-एक पर एक-एक घनांगुल लिखकर उन्हें परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उसको जगतश्रेणी कहते हैं अर्थात् सात राजू के डोरेरूप प्रदेशों की पंक्ति को **जगतश्रेणी** कहते हैं तथा जगत श्रेणी को जगत श्रेणी से गुणा करने पर **जगत प्रतर** होता है और जगत प्रतर को जगत श्रेणी से गुणा करने पर **जगतघन** होता है, जिसे लोक भी कहा जाता है। सात राजू लम्बे सात राजू चौड़े और सात राजू ऊँचे प्रदेश को लोक कहते हैं।

तथा क्षेत्रमान दो प्रकार का है - अवगाह क्षेत्र, विभागक्षेत्र। उनमें से अवगाह क्षेत्र तो एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात पुदगल परमाणुओं के स्कंधों द्वारा अवगाहने योग्य (रोके जाने वाले स्थान) जो एक से लेकर असंख्यात आकाश प्रदेशों तक का हो सकता है, वह अनेक प्रकार का है।

तथा विभागक्षेत्र भी अनेक प्रकार का है – असंख्यातश्रेणीरूप, घनांगुलक्षेत्ररूप। उसके असंख्यातवें भागों में से एक तथा उसके बहुभाग इत्यादि तथा विलस्ति, हाथ, धनुष इत्यादि है।

तथा **कालमान** में सर्वजघन्य तो एक समय होता है, वह पुदगल का एक परमाणु एक आकाश के प्रदेश से मंद गति से चलता आकाश के (अनंतर) दूसरे प्रदेश पर पहुंचे उतने काल को एक समय कहते हैं। यह काल का निर्विभाग एक अंश होता है तथा असंख्यात समयों की एक आवली होती है। तथा संख्यात आवली का एक उच्छवास होता है, इतना ही नि:श्वास होता है। ये दोनों मिलकर निरुपद्रव निरोगी पुरुष का एक प्राण होता है। ऐसे सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, सतहत्तर लव का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक दिन रात होता है। पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर है। चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व है। इसी तरह बढते बढते पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, त्रुट्यांग, त्रुट्य, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हूहूंग, हूहू, लतांग, लता, महालता इत्यादि नाम जानना। काल में वर्षों की गणना संख्यात है, संख्यात से आगे असंख्यात है, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि है। इससे अनंतकाल है। अतीत अनागत (काल) है, वह सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष है।

भावमान पांच प्रकार का ज्ञान है, उसे पहले कहा जैसे ही जानना।

यहाँ पल्य के कथन के संबंध में अन्य ग्रंथ में गाथा है, उसका अर्थ (इस प्रकार है) –व्यवहार, उद्धार, अद्धा –इस तरह तीन (प्रकार के) पल्य हैं, ऐसा जानना। व्यवहार (पल्य) तो संख्या की उत्पत्ति मात्र जानने के लिये है। उद्धारपल्य से द्वीप–समुद्र आदि गिने जाते हैं और अद्धापल्य से कर्मों की स्थिति बतायी जाती है।

आगे कहते हैं कि मनुष्यों की उत्कृष्ट–जघन्य स्थिति को बताया। इसी प्रकार तिर्यंचों की (स्थिति) के लिये उसका सूत्र कहते हैं –

।। तिर्यग्योनिजानां च ।। ३–३९ ।।

अर्थ : तिर्यंचों की योनि तिर्यंचगति नामकर्म के उदय से जन्म हो, वह है। उस योनि में उपजे वे तिर्यंच जीव हैं। उनकी आयु की उत्कृष्ट स्थिति तो तीन पल्य है, जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। मध्य के नाना भेद हैं।

यहाँ विशेष : तिर्यंच तीन प्रकार के होते हैं – एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। उनमें एकेन्द्रियों में शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है तथा कठोर पृथ्वीकायिक की बाईस हजार वर्ष है। वनस्पतिकायिक की दश हजार वर्ष है। अपकायिक की सात हजार वर्ष है।

वायुकायिक की तीन हजार वर्ष है। तेजकायिक की तीन दिन-रात है। तथा विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है। तीन इन्द्रिय जीवों की उनचास दिन है। चार इन्द्रिय जीवों की छह महीने है। पंच इन्द्रियों में मत्स्य आदि जलचरों की कोडिपूर्व की है तथा परिसर्प अर्थात् गोह, नेवला आदि की उत्कृष्ट आयु नवपूर्वांग है तथा उरगों (सांपों) की बयालीस हजार वर्ष है। पक्षियों में बहत्तर हजार वर्ष है। चौपद (चार पांवों वाले जीवों) की तीन पल्य है। इसतरह तो उत्कृष्ट स्थिति है। तथा (आयु की) जघन्य स्थिति सभी की अन्तर्मुहूर्त है।

यहाँ **कोई पूछता है** – भवस्थिति और कायस्थिति बताई उनका क्या अर्थ है ?

समाधान : एक भव की स्थिति को तो भवस्थिति कहते हैं। तथा एक ही काय में अनेक भव धारण करे, उसे कायस्थिति कहते हैं। जैसे पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायिक जीवों की कायस्थिति असंख्यातलोक प्रमाण है। उन्हीं में उत्पन्न होता रहे तो इतने काल तक उत्पन्न होता रह सकता है तथा वनस्पतिकाय का अंतकाल असंख्यात पुदगलपरिवर्तन है। विकलत्रय का असंख्यात हजार वर्ष है। पंचेन्द्रियों की तिर्यंच मनुष्यों की पृथक्त्वकोटि पूर्व जितनी अधिक तीन पल्य है। तथा सभी की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। देव, नारकियों की जो भवस्थिति है, वही काय स्थिति है। देव पुनः देव नहीं होता और नारकी से नारकी नहीं होता।

यहाँ **कोई पूछता है** – जीवतत्त्व के निरूपण के प्रकरण में द्वीप-समुद्रों का निरूपण किस प्रयोजन से किया ?

समाधान : मनुष्य लोक इन द्वीप समुद्रों के आधार है। क्षेत्र विपाकी विशेष कर्मप्रकृतियों के उदयवश मनुष्य अढाईद्वीप में ही उत्पन्न होते हैं। उनके निरूपण के लिये द्वीप समुद्रों का निरूपण भी प्रयोजनवान है। यदि इनका निरूपण न किया जावे तो मनुष्य और तिर्यंच जीव इनके आधार है, तब जीवतत्त्व का विशेष निरूपण कैसे हो सकेगा और विशेष निरूपण के बिना जीवतत्त्व का श्रद्धान कैसे होगा ? तथा श्रद्धान के बिना सम्यग्चारित्र कैसे होगा ? ऐसा होने पर त्रयात्मक मोक्षमार्ग की कथनी कैसे संभव होगी ? अतः स्याद्वादियों के समस्त निरूपणयुक्त है।

यहाँ **ईश्वरवादी कहता है** – अधोलोक का जैसा निरूपण किया, वैसी रचना तो कोई बुद्धिमान ही कर सकता है। अतः इस रचना का कर्त्ता ईश्वर (का अस्तित्व अवश्य) है।

तब पहले तो जो शरीर सहित ईश्वर (ईश्वर शरीर वाला है ऐसा) मानते हैं, उससे कहते हैं –यदि ईश्वर ने जगत को बनाया है तो ईश्वर के शरीर को किसने बनाया ? यदि अन्य शरीर के संबंध से ईश्वर का शरीर बना है तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा तथा यदि अदृष्ट गुण अर्थात् पूर्वकर्म के संबंध से (उदय के कारण) शरीर हुआ है तो ईश्वर कर्म के आधीन ठहरेगा।

पुनः वह कहता है – ईश्वर की मूर्ति पृथ्वी आदि रूप है, उनकी उत्पत्ति में ईश्वर ही कारण है। **उससे कहते हैं** – ऐसा होने पर तो सभी आत्मायें अपनी-अपनी मूर्ति से अपने-अपने शरीर की उत्पत्ति के कारण कहे जावें तो क्या दोष है ? यदि ईश्वर ने पृथ्वी आदि रूप मूर्ति (संभवतः यहाँ मूर्तिक वस्तुओं का ग्रहण है) बनाई, उन्हें अन्य मूर्ति के संबंध से बनाया कहोगे तो यहाँ भी अनवस्था दोष आवेगा। तथा यदि अनादि मूर्ति का संबंध कहोगे तो लोक की रचना को ही अनादि क्यों न कहा जावे ? बुद्धिवान का कर्तव्य होना कहने की कल्पना क्यों की ?

तथा कई निर्देह ईश्वरवादी (ईश्वर को निर्देह मानने वाले) हैं, वे कहते हैं – जगत की रचना में ईश्वर निमित्तकारण है। ऐसा कथन भी कल्पना ही है, क्योंकि यदि मुक्त आत्मा को देहरहित माना जाता है, तो वह जगत (की रचना) का निमित्त कारण नहीं हो सकता, वैसे ही देहरहित ईश्वर भी निमित्त कारण नहीं हो सकता। **यदि कहा जावे** कि मुक्त आत्मा तो ज्ञान रहित है और ईश्वर को नित्यज्ञान है, अतः कर्तापना संभव है। **उससे कहते हैं** – नित्यज्ञान के कर्तापना संभव नहीं है। अनेक नित्यानित्य व्यवस्था वाले जगत को (ईश्वर) बनाता है तो ज्ञान भी नित्यानित्यरूप ही ठहरेगा। तथा किसी क्षेत्र में किसी काल में कार्य उत्पन्न होता है, किसी में कार्य उत्पन्न नहीं होता तथा ईश्वर है, वह सर्वक्षेत्र काल में व्यापक है, तब जहाँ कार्य नहीं उत्पन्न होता, वहाँ रोकने वाला कौन है ? यदि कहोगे कि ईश्वर की इच्छा हो वैसे होता है। तब पूछते हैं – ईश्वर की इच्छा कैसे होती है ? यदि ऐसा कहोगे कि प्राणियों के अनुसार इच्छा होती है तो ऐसा होने पर तो सभी प्राणियों के कर्मों के निमित्त से कार्य होना क्यों न मान लिया जावे ? ईश्वर की कल्पना करने से क्या अर्थ है ?

अतः स्याद्वाद से (कथन करने पर) अनादि निधन नित्यानित्यात्मक, स्वयंसिद्ध, अकृत्रिम जगत षटद्रव्यात्मक लोक है, जो सर्वज्ञ कथित आगम से प्रमाण सिद्ध है – ऐसा जानना। अन्यवादी जो अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं, वे प्रमाणिक नहीं है, यह निश्चय है।

इस तरह तृतीय अधिकार का कथन हुआ।

छप्पय

सात नरक की भूमि में बिल बहुतेरे। पापजीव परिणाम दुष्टलेश्या दूर करै।
आयुकाय दुःख भूरि भजै दुःकृत फल पूरे। कहे सकल भगवान पापहरने कूं दूरे।।
पुनि द्वीप उदधि गिरि खेत सर नदी मान नरभेद थिति।
तिरियंच आयु ये विधि कथन भाषै तीजे संधि इति।।

इसप्रकार जिसमें ऐसे तत्त्वार्थ का अधिगम है, उस मोक्षशास्त्र में तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अध्याय

दोहा

वंदन करि जिनराज कूं आगम श्रवण सुपाय।
सुर वर्णन घरनूं सुनूं ज्यौ सरदा दिढ थाय।।

आगे टीकाकार सूचना करते है कि (पहले) जो **भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां** इत्यादि सूत्रों में देव शब्द बार-बार कहा गया है। वहाँ यह नहीं जानने में आया कि ये देव कौन हैं और कितने प्रकार के हैं ? उनके निर्णय के लिये आचार्य सूत्र कहते हैं -

।। देवाश्चतुर्णिकायाः ।। ४-१ ।।

अर्थ : देव है उनके चार निकाय अर्थात समूह है। देवगति नामकर्म के उदयरूप अंतरंग कारण के होने पर बाह्य निमित्त के विशेष से द्वीप समुद्र आदि में जैसी इच्छा हो वैसी ही क्रीडा करे, उन्हें देव कहा जाता है।

यहाँ **कोई कहता है** - सूत्र में विभक्ति बहुवचन में है, वहाँ एकवचन ही कहना चाहिये था, क्योंकि समान जाति के कहने से बहु (वचन) की प्रतिपत्ति हो जाती है।

समाधान : इन चारों ही निकायों में इन्द्र सामानिक आदि अन्तर्भेद एवं आयु आदि के भेदों से बहुत भेद है, उसका ज्ञान कराने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया है। देवगति नामकर्म के उदय की सामर्थ्य से समूह भेद हो उसको निकाय कहते हैं। ऐसे चार निकाय देवों में है - जो भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक (नाम वाले) है।

आगे उनकी लेश्या का नियम बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। आदितस्त्रिषुपीतान्तलेश्याः ।। ४-२ ।।

अर्थ : आदि के तीन निकाय अर्थात भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क देवों के पीतान्त अर्थात् (जिनके अन्त में पीत है ऐसे) कृष्ण, नील, कापोत, पीत - ये चार लेश्यायें है। यहाँ आदित कहने से अन्त और मध्य को ग्रहण मत करना। तथा दो और एक के निषेध के लिये त्रि शब्द है। छह लेश्याओं में से चार ही का ग्रहण करने लिये पीतान्त शब्द कहा है। पीत है अन्त में जिनके ऐसा कहने से चार ही का ग्रहण हुआ। तब अर्थ ये हुआ कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क - इन तीनों निकाय के असुर देवों के कृष्ण, नील, कापोत, पीत-ये चार प्रकार की लेश्यायें है।

आगे इन निकायों के अन्तर्भेद का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। दशाष्टपंचद्वादश विकल्पा: कल्पोपपन्नपर्यन्ता: ।। ४–३ ।।

अर्थ : देवों के निकायों के भेदों की संख्याओं को यथाक्रम मानना। ऐसा होने पर भवनवासियों के दश भेद व्यंतरों के आठ भेद, ज्योतिषियों के पांच भेद और वैमानिकों के बारह भेद हैं। यहाँ ये बारह भेद कल्पवासियों के ही हैं, आगे के ग्रैवेयक आदि में भेद नहीं है।

यहाँ **कोई पूछता है** – इनका कल्प नाम क्यों है ?

समाधान : इनमें इन्द्र आदि दश प्रकार माने गये है; अत: कल्प नाम से कहा जाता है।

पुन: **प्रश्न :** यह कल्पना तो भवनवासी आदि (देवों) में भी है।

उत्तर : रूढि के वश वैमानिक देवों में ही कल्प शब्द प्रवर्तता है; अत: जो कल्पों में उत्पन्न हुये हों, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं।

आगे इनका विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषादात्मरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकश: ।। ४–४ ।।

अर्थ : अन्य देवों से असाधारण अणिमा आदिं ऋद्धियों सहित तथा गुणोंपूर्वक इन्दन्ति अर्थात् परमऐश्वर्यपूर्वक वर्तते हैं, वे **इन्द्र** हैं तथा आज्ञा ऐश्वर्य से रहित हो, किन्तु स्थान, आयु, वीर्य, परिवार, भोग–उपभोग आदि में इन्द्र के समान हो, उन्हें **सामानिक** कहते हैं। ये सभी इन्द्र के लिये पिता गुरु उपाध्याय आदि की तरह बड़े होते हैं। तब जो मंत्री पुरोहित के स्थानीय हो ऐसे तेंतीस देव **त्रायस्त्रिंश** होते हैं (ये मंत्रियों की तरह होते हैं) तथा इन्द्र के वयस्क अर्थात् मित्र पीठमर्द अर्थात सभा में पीछे बैठें (अर्थात् सांसदों की तरह हो), वे **परिषद** है तथा इन्द्र के सुभट शस्त्रधारी रक्षक हो, वे **आत्मरक्षक** हैं तथा जो कोटपाल अधिकारी फौज (सेना) के अधिकारी हो, वे **लोकपाल** हैं। प्यादा आदि सात प्रकार की सेना के (सदस्य) देव है, वे **अनीक** हैं। जो नगर मे व्यापारियों (नगरवासियों आदि के समान) बसे हो, वे **प्रकीर्णक** है तथा दास के समान वाहन आदि कार्यों मे प्रवर्तते हैं, वे **आभियोग्य** है तथा नगर के अंत मे बसने वाले तथा चांडालों के समान कार्य करने वाले हैं, वे **किल्विषिक** हैं। किल्विष मलीनता पाप को कहते हैं। इन (किल्विषिक देवों) के ऐसा ही कर्म का उदय होता है कि ये देवगति में होते हुये भी नीच होते हैं। यहाँ एकश शब्द कहने से अर्थ ये है कि ऐसे भेद निकायों में होते हैं।

आगे ये दसों भेद चारों ही निकायों में समान रूप से होते हैं, ऐसा प्रसंग होने पर उसके अपवाद को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्का: ।। ४-५ ।।

अर्थ : व्यंतर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। केवल शेष आठ ही भेद होते हैं।

आगे इन निकायों में कितने-कितने इन्द्र है, इनका नियम बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। पूर्वयोर्द्वीन्द्रा: ।। ४ -६ ।।

अर्थ : प्रथम दो निकायों अर्थात् भवनवासी और व्यंतर देवों में (प्रत्येक अन्तर्भेद के) दो-दो इन्द्र होते हैं। पूर्वयो: अर्थात् शुरु के दो निकायों भवनवासी और व्यंतरों में दो-दो इन्द्र हैं।

यहाँ **प्रश्न :** दूसरे के पूर्ववाला कैसे कहा ?

उत्तर : समीप होने से उपचार से पूर्वत्व कहा है।

प्रश्न : द्वीन्द्रा: शब्द से दो-दो ऐसा अर्थ कैसे हुआ ?

उत्तर : यहाँ अंतर्नीत वीप्सा अर्थ है; अत: दो-दो इन्द्र हो, उसे द्वीन्द्रा कहा है, जैसे सात-सात पत्ते हों, उसे सप्तपर्ण कहते हैं तथा आठ-आठ पांव हो, उसे अष्टापद कहते हैं, उसी प्रकार जानना। वही बताते हैं -

भवनवासी देवों में असुरकुमारों के चमर और वैरोचन - ये दो इन्द्र हैं। नाग कुमार के धरण, भूतानन्द - ये दो इन्द्र हैं। विद्युतकुमारों के हरिसिंह, हरिकान्त - ये दो इन्द्र हैं। सुपर्ण कुमारों के वेणुदेव, वेणुताली - ये दो इन्द्र हैं। अग्निकुमारों के अग्निशिखा, अग्निमाणव - ये दो इन्द्र हैं। वातकुमारों के वैलंब, प्रभंजन - ये दो इन्द्र हैं। स्तनितकुमारों के सुघोष, महाघोष - ये दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारों के जलकान्त, जलप्रभ - ये दो इन्द्र हैं। द्वीपकुमारों के पूर्ण और वशिष्ट - ये दो इन्द्र हैं। दिक्कुमारों के अमितगति, अमितवाहन - ये दो इन्द्र हैं। इस तरह बीस इन्द्र हैं।

तथा व्यंतर देवों में किन्नर के किन्नर, किंपुरुष - ये दो इन्द्र हैं। किंपुरुषों के सतपुरुष, महापुरुष - ये दो इन्द्र हैं। महोरगों के अतिकाय, महाकाय - ये दो इन्द्र हैं। गंधर्वों के गीतरति, गीतयश - ये दो इन्द्र हैं। यक्षों के पूर्णभद्र, मणिभद्र - ये दो इन्द्र हैं। राक्षसों के भीम, महाभीम - ये दो इन्द्र हैं। पिशाचों के काल, महाकाल - ये दो इन्द्र हैं। भूतों के प्रतिरूप, अप्रतिरूप - ये दो इन्द्र हैं।

अब इन देवों के सुख कैसा है ? ऐसा पूछने पर उनके सुख का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं-

।। कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।। ४-७ ।।

अर्थ : प्रवीचार अर्थात् कामसेवन। भवनवासियों से लेकर ऐशान स्वर्ग तक के देवों के काया से काम सेवन है। इनके संक्लेश कर्म का उदय है, इसलिये मनुष्यों की तरह ही स्त्री के सुख को भोगते हैं। यहाँ आ ऐशानात इस शब्द में आङ् उपसर्ग अभिनिजि अर्थ में है; अत: यह अर्थ हुआ कि

भवनवासी देवों से लेकर ऐशान स्वर्गपर्यन्त काय से मैथुन है तथा यहाँ संधि नहीं की है, वह संदेह के निवारण के लिये नहीं की है। यदि संधि की जावे तो ऐशान ऐसा ही सिद्ध होगा, तब संदेह रहेगा कि यहां उपसर्ग है या नहीं है ? अत: संदेह के निवारण के लिये उपसर्ग को अलग रखा है।

यहाँ ऐशान स्वर्ग तक की मर्यादा कही; अत: आगे के स्वर्गों में सुख का विभाग ज्ञात नहीं हुआ; अत: प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं –

।। शेषा: स्पर्शरूप शब्दमन: प्रवीचारा: ।।४–८ ।।

अर्थ : उपरोक्त कहने के बाद शेष रहे देवों के स्पर्श, रूप, शब्द और मन से मैथुन है। ऊपर कहे उनके अतिरिक्त शेष रहे कल्पवासियों के लिये ऐसा अर्थ (इस सूत्र का) करना चाहिये, जिससे आगम से अविरोध अर्थ हो। पिछले सूत्र में प्रवीचार का ग्रहण तो था ही। यहाँ पुन: प्रवीचार शब्द इसी अर्थ के लिये ग्रहण किया गया है; अत: स्पर्श आदि से मैथुन को आगम से अविरुद्ध ग्रहण करना है। अत: सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देव देवांगनाओं को स्पर्श मात्र से ही परमप्रीति की प्राप्ति होती है। इसही प्रकार वहाँ की देवांगना भी परमसुख प्राप्त करती है तथा ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ स्वर्ग के देव देवांगना के श्रंगार, आकार, विलास, चतुर मनोज्ञ वेष, रूप के देखने मात्र से परमसुख को प्राप्त होते हैं तथा शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार स्वर्गों में देव देवांगना के मधुर संगीत गाने, कोमल हंसने, ललित बोलने, आभूषणों के शब्द सुनने मात्र से ही परमसुख को प्राप्त होते हैं तथा आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग के देव अपनी देवांगना का मन से संकल्प मात्र ही से परमसुख को प्राप्त होते हैं। (यहाँ परम सुख का अर्थ अतीन्द्रिय परमसुख मत समझना केवल स्पर्शन इन्द्रिय के लौकिक मैथुन सुख को ही ग्रहण करना)

आगे पूछते हैं – आगे के अहमिन्द्रों का सुख किस प्रकार से है ? ऐसा पूछने पर उसके निश्चय के लिये सूत्र कहते हैं –

।। परेऽप्रवीचारा: ।। ४–९ ।।

अर्थ : यहाँ **पर** शब्द का ग्रहण शेष रहे अहमिन्द्रों के ग्रहण के लिये है। अप्रवीचार शब्द परमसुख का ज्ञान कराने के लिये है। प्रवीचार तो मैथुन की वेदना का इलाज है। उसके अभाव के कारण अहमिन्द्रों को सहज ही परमसुख है।

आगे आदि अर्थात् प्रथम निकाय के जो दश भेद कहे हैं, उनके सामान्य विशेष नामों का नियम बताने के लिये सूत्र है –

।। भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा: ।। ४–१० ।।

अर्थ : भवनों में बसने के कारण भवनवासी इनकी सामान्य संज्ञा है। तथा असुरकुमार, नागकुमार,

विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार – ये दश भेदों की दश विशेष संज्ञायें (नाम) हैं। नामकर्म के उदय के विशेष के कारण इनके ऐसे नाम प्रवर्ते हैं तथा इनकी अवस्था (आयु) और स्वभाव एक रूप अवस्थित है, सभी देवों के समान है फिर भी ये भवनवासी देव वेष, आभूषण, आयुध, यान, वाहन, क्रीडा आदि में कुमारों की तरह शोभित होते हैं; अत: इन्हें कुमार कहते हैं। अत: दशों ही जातियों (भेदों) के साथ कुमार शब्द लगाना।

यहाँ **कोई पूछता है**– इनके भवन कहाँ हैं ?

वह बताते हैं – रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकभाग में असुरकुमारों के भवन है तथा पहले खर भाग में ऊपर नीचे के एक एक हजार योजन छोड़कर शेष में नव जातियों के भवनवासी देवों के आवास हैं।

यहाँ **कोई अन्यवादी कहता है** – ये देव उत्तम देवों से शस्त्र आदि के द्वारा युद्ध करते हैं; अत: इनका नाम असुरकुमार है।

उससे कहते हैं – ऐसा कहना तो इनका अवर्णवाद करना है; क्योंकि उत्तम देव जो सौधर्म स्वर्ग आदि के कल्पवासी देव है, वे महाप्रभाव सहित होते हैं, उन पर इन हीन देवों का बल चलता नहीं है। मन से भी उनसे प्रतिकूल नहीं होते तथा कल्पवासी देव उत्तम परिणामों से उत्पन्न होते हैं; अत: उनसे बैर का कोई कारण भी नहीं होता। भगवान की पूजा तथा स्वर्ग के सुखों ही में उन्हें आनंद वर्तता है। उनका असुरों से युद्ध कहना मिथ्यात्व के निमित्त से अवर्णवाद है।

आगे दूसरे निकाय के भेदों की सामान्य विशेष संज्ञा के नियम के लिये सूत्र कहते हैं –

।। व्यंतरा: किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा: ।। ४–११ ।।

अर्थ : विविध देशान्तरों में जिनके वास है, वे व्यंतर है; अत: इनकी ये सामान्य सार्थक संज्ञा है तथा इनके भेदों की विशेष संज्ञायें १. किंन्नर, २. किंपुरुष, ३. महोरग, ४. गंधर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत, ८. पिशाच हैं। ये विशेष संज्ञायें (नाम) उनके नाम कर्म विशेष के उदय से हुई है। इनके आवास कहाँ है, यह बताते हैं – रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले खर भाग में और जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्र आगे जाकर सात प्रकार के व्यंतरों के आवास हैं तथा राक्षस जाति के निकाय के आवास दूसरे पंकबहुल भाग में है।

यहाँ **कोई अन्यवादी कहता है** – किन्नर-किंपुरुष मनुष्यों को खाते है। पिशाच मांस का आहार करते हैं। राक्षस भी मांसाहारी है। यह सब कथन अयुक्त है। मिथ्याज्ञान के कारण वे (अन्यवादी) इनका अवर्णवाद करते हैं; क्योंकि ये देव पवित्र वैक्रियक देह के धारक हैं। वे मनुष्यों के अपवित्र शरीर की इच्छा कैसे कर सकते हैं तथा मांस कैसे खा सकते हैं ?

वह कहे – लोक में व्यंतर आते हैं, तब वे मांस, शराब की मांग करते है; अत: ऐसा कहा है।

समाधान : प्रथम तो लोक में अज्ञानी जीव वात आदि रोगों में व्यंतर की कल्पना करते हैं। वात विकार के कारण यथा तथा कहे, अवस्थायें कर ले, उसे व्यंतर मान लेते हैं तथा कदाचित् कोई व्यंतर भी आकर चेष्टा करे शराब आदि अशुचि वस्तुओं का नाम भी ले तो ये उनकी क्रिया मात्र चेष्टा है। वे मानसिक आहार करने वाले हैं; अत: उनके किसी भी चीज का भक्षण नहीं है। उनको मांस शराब आदि का भक्षी कहना उनका अवर्णवाद है। इससे मिथ्यात्व के आस्रव में तीव्र अनुभाग होता है। उनके आवास तो खरभाग में कहे ही है तथा पृथ्वी के ऊपर भी उनके असंख्यात निवास द्वीप, समुद्र, पर्वत, देश, ग्राम, नगर, घर के आंगन, गली, जल के स्थान, उद्यान, देवमंदिर आदि में हैं।

आगे तीसरी निकाय की सामान्य विशेष संज्ञा का नियम कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ज्योतिष्का: सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ।। ४–१२ ।।

अर्थ : ज्योति स्वभाव के कारण इन पांचों ही की ज्योतिष्क सामान्य संज्ञा सार्थक है तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे – ये पांच विशेष संज्ञायें हैं।

ये संज्ञायें नामकर्म के उदय के विशेष से हुई है तथा सूर्याचन्द्रमसौ यह दोनों की विभक्ति अलग से की, वह इनकी प्रधानता बताने के लिये है। इनकी प्रधानता इनके प्रभाव आदि के कारण है। तथा इनके आवास कहाँ है ? वह बताते हैं – इस मध्यलोक की समानभूमि के भाग से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर तारों के विमान का विचरण है। इन्हें सभी ज्योतिषियों में नीचे (स्थान प्राप्त) जानना। इनसे दश योजन ऊपर जाकर सूर्य के विमान विचरण करते हैं। इससे भी अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का विमान है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर नक्षत्र के विमान हैं, उससे तीन योजन ऊपर जाकर बुध के विमान हैं, उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र के विमान हैं। इससे भी तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति के विमान हैं। इससे चार योजन ऊपर जाकर मंगल के विमान हैं। इससे भी चार योजन ऊपर जाकर शनिश्चर के विमान हैं।

इस ज्योतिषमंडल को आकाश में एक सौ दश योजन के भीतर ही जानना। तथा तिर्यक विस्तार असंख्यात द्वीप समुद्रों में घनोदधिवातवलय तक है। यहाँ अन्य ग्रंथ में गाथा है, उसका अर्थ – सात सौ नब्बे, दश, अस्सी, चार बार तीन तीन, दो चतुष्क (दो बार चार चार) अनुक्रम से इतने इतने योजन पर तारे ७९०, सूर्य १०, चन्द्रमा ८०, नक्षत्र ३, बुध ३, शुक्र ३, बृहस्पति ३, मंगल ४, शनिश्चर ४ (योजन ऊपर ऊपर) इनका विचरण है।

आगे ज्योतिषियों के गमन का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।। ४–१३ ।।

अर्थ : मेरुप्रदक्षिणा शब्द विशेष प्रकार के गमन का ज्ञान कराने के लिये है। अन्य प्रकार की

गति मत मानना। नित्य गतय: शब्द निरंतर गमन का ज्ञान कराने के लिये है तथा नृलोके का ग्रहण अढाई द्वीप और दो समुद्रों में ही नित्यगमन है, अन्य द्वीप समुद्रों में गमन नहीं है।

यहाँ कोई **तर्क** करे – ज्योतिषी विमानों के गमन का कोई कारण नहीं है; अत: गमन भी नहीं है। **उससे कहते हैं**, यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि उनके गमन में कार्यरत (लगे हुये) अभियोग्य जाति के देवों द्वारा उनका गतिपरिणाम किया जाता है। इन देवों के ऐसा ही विचित्र कर्म का उदय है कि वह गति प्रधान रूप क्रिया में ही फलता है। ये मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन की दूरी पर ही ऊपर गमन करते हैं तथा उनका गमन प्रदक्षिणा रूप ही होता है।

अन्यमति कहते हैं कि इन ज्योतिषी (देवों के विमानों का गमन) गोल पृथ्वी में अल्प से क्षेत्र में है, उस ही में ऊपर नीचे होकर गमन करते हैं तथा कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि ज्योतिषी तो स्थिर हैं और गोल पृथ्वी घूमती है। इस ही कारण लोक में इनका उदय अस्त देखा जाता है तथा कहते हैं कि हमारा कथन ग्रहण आदि से सिद्ध होता है; पर यह सर्वकथन प्रमाण से बाधित है। जैनशास्त्रों में जो इनके गमन आदि निरूपण हैं, वह बाधारहित है। उदय अस्त का विधान भी सब उनमें मिलता है। इसके विधि-निषेध की चर्चा श्लोकवार्तिक में है तथा इनके गमन आदि निर्णय (विधान) त्रैलोक्यसार आदि ग्रंथों में है, वहाँ से जानना।

इन ज्योतिषियों के संबंध से व्यवहार काल का जानना होता है, उसके लिये सूत्र कहते हैं –

।। तत्कृत:कालविभाग: ।। ४–१४ ।।

अर्थ : ज्योतिषी देवों के द्वारा काल का विभाग किया जाता है। यहाँ तत् का ग्रहण गति सहित ज्योतिष्क देवों के कथन के लिये है। यह व्यवहार काल केवल गति ही से अथवा केवल ज्योतिषियों से नहीं जाना जाता। गतिसहित ज्योतिषी देवों के संबंध से जाना जाता है; क्योंकि इनका गमन तो किसी को दिखता नहीं; पर यदि गमन न हो तो स्थिर ही रहे, अत: दोनों के संबंध से (काल का विभाग किया जाता है ऐसा) समझना।

काल दो प्रकार का है – व्यवहार काल, निश्चय काल। इनमें व्यवहार काल का विभाग इन ज्योतिषी देवों द्वारा किया हुआ समझना चाहिये। समय, आवली आदि क्रिया विशेष से जो जाना जाता है, वह व्यवहार काल है। जो जानने में नहीं आता, ऐसे निश्चय काल को जानने में तो कारणरूप है। उस निश्चय काल का लक्षण आगे कहेंगे, वहां से जानना।

आगे मनुष्य लोक के बाहरवाले ज्योतिष देवों के विमान अवस्थित कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। बहिरावस्थिता: ।। ४–१५ ।।

अर्थ : बहि: अर्थात् मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिषी देव अवस्थित अर्थात् गमन रहित है।

यहाँ **कोई कहता है** – पिछले सूत्र में कहा है कि मनुष्य लोक के ज्योतिषी देवों का नित्य गमन है। ऐसा कहने से ही यह ज्ञान हो जाता है कि इसके बाहर के (ज्योतिषी देवों के) गमन नहीं है; अत: इस सूत्र का कथन निष्प्रयोजन है।

समाधान : इस सूत्र से मनुष्य लोक के बाहर (ज्योतिषी देवों का) अस्तित्व है, यह भी ज्ञान होता है और उनके अवस्थान (स्थिर रहने) का भी ज्ञान होता है; अत: दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के लिये यह सूत्र कहा है तथा अन्य प्रकार की गति के निराकरण और कदाचित् किसी काल में गमन के अभाव को बताने के लिये भी यह सूत्र है, ऐसा जानना।

आगे चौथे निकाय की सामान्य संज्ञा बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। वैमानिका: ।। ४–१६ ।।

अर्थ : यह अधिकार वैमानिकों का है, इसके लिये वैमानिक शब्द कहा है। आगे जिनका कथन करेंगे उन्हें वैमानिक जानना, ऐसा समझने के लिये यह अधिकार वचन है। जो विशेष रूप से पुण्यवानों के लिये है, वे विमान है इनमें जो उत्पन्न होते हैं, वे वैमानिक है। ये विमान तीन प्रकार के हैं। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक। इन्द्रक विमान तो इन्द्र की तरह बीच में स्थित हैं। उनके चारों दिशाओं में आकाश के प्रदेशों की श्रेणी (पंक्ति) में जो स्थित है, वे श्रेणीबद्ध हैं तथा विदिशाओं में बिखरे हुये फूलों की तरह जो स्थित है, उन्हें पुष्प प्रकीर्णक कहते हैं –

आगे उन वैमानिक देवों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च ।। ४–१७ ।।

अर्थ : वे वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। जो कल्प अर्थात् स्वर्गों में उत्पन्न हुए हों, वे कल्पोपपन्न है और ग्रैवेयक आदि में उत्पन्न हुये हों वे कल्पातीत कहे जाते हैं।

आगे उनके अवस्थान विशेष का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। उपर्य्युपरि ।। ४–१८ ।।

अर्थ : ये सूत्र उन वैमानिक देवों के तिर्यगवस्थान (तिरछेरूप में होने) के निषेध के लिये है। वे ज्योतिषियों (के विमानों) की तरह तिर्यक अवस्थित नहीं है तथा व्यंतरों की तरह विषम अर्थात् जहां–तहां भी अवस्थित नहीं है। उन कल्पों को ऊपर ऊपर जानना।

आगे ये ऊपर ऊपर कितने कल्प विमानों में देव है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषुविजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।।४–१९।।

अर्थ : इन सौधर्म आदि शब्दों को कल्प क्यों कहा जाता है, यह बताते हैं। व्याकरण में अण

प्रत्यय चार अर्थों में प्रयुक्त होता है, उसके कारण कल्प नाम है तथा स्वभाव ही से यह नाम है तथा इन्द्र का भी यही नाम है जो भी स्वभाव से है अथवा कल्प के साहचर्य से यह नाम होता है। सो कैसे? पहले स्वर्ग में सुधर्मा नामक सभा है। यह सभा जिसमें हो, उसका नाम सौधर्म कल्प कहा गया है। यहाँ अस्ति अर्थ में अण प्रत्यय जानना तथा इस कल्प के साहचर्य से इन्द्र का नाम भी सौधर्म है। तथा इन्द्र का ईशान नाम स्वभाव ही से है। अत: ईशान इन्द्र का जो निवास हो वह ऐशान कल्प है। यहाँ अण प्रत्यय निवास के अर्थ में है। इसके साहचर्य से इन्द्र का नाम भी ऐशान है तथा इन्द्र का सनतकुमार नाम स्वभाव ही से है उसका निवास अर्थात् कल्प का नाम सानत्कुमार है। यहाँ भी अण प्रत्यय निवास के ही अर्थ में है। इसके साहचर्य से इन्द्र का नाम भी सानत्कुमार होता है तथा आगे इन्द्र का नाम महेन्द्र भी स्वभाव ही से है। उसके निवास अर्थात कल्प का नाम माहेन्द्र है। यहाँ भी अण प्रत्यय निवास के ही अर्थ में है। उसके साहचर्य से भी इन्द्र का नाम माहेन्द्र है। इसी प्रकार ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर आदि कल्पों के तथा इन्द्र के नाम हैं तथा आगम के अनुसार दो दो कल्पों का उपरि उपरि से संबंध कर लेना है इस प्रकार पहले तो सौधर्म और ऐशान ये दो कल्प हैं। इनके ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र ये दो कल्प, इनके ऊपर ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर ये दो कल्प है। इनके ऊपर लांतव कापिष्ट ये दो है। इनके ऊपर शुक्र महाशुक्र ये दो है। इनके ऊपर शतार सहस्रार ये दो हैं। इनके ऊपर आणत प्राणत ये दो है। इनके ऊपर आरण अच्युत ये दो है। इन दो दो कल्पों को ऊपर ऊपर कहना ऐसा अन्त के दो युगलों की विभक्ति अलग करि समास नहीं किया इससे जाना जाता है।

तथा नीचे के चार कल्पों और ऊपर के चार कल्पों में चार चार (प्रत्येक में एक एक) इन्द्र और मध्य के आठ कल्पों में चार ही इन्द्र है। इस तरह सौधर्म ऐशान सानतकुमार माहेन्द्र - इन चार कल्पों में चार इन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पों में एक ब्रह्म नामक इन्द्र, लांतव कापिष्ट इन दो कल्पों में एक लांतव नामक इन्द्र , शुक्र- महाशुक्र इन दो कल्पों में एक शुक्र नाम का इन्द्र, शतार - सहस्रार इन दो कल्पों में एक शतार नामक इन्द्र तथा आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार कल्पों में चार इन्द्र हैं। इस तरह कल्पवासियों के बारह इन्द्र हैं।

तथा लोकनियोग के उपदेश से तत्वार्थ वार्तिक में चौदह इन्द्र भी लिखे हैं। वहाँ बारह स्वर्गों में तो बारह इन्द्र और ऊपर के चार स्वर्गो में दो इन्द्र इस तरह (चौदह इन्द्र बताये हैं)।

अब यहाँ ऊपर ऊपर कहा है, वह कहाँ से (ऊपर ऊपर) समझना है, वह बताते हैं। जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत है, जो एक हजार योजन तो पृथ्वी में है और निन्यानवे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक कहा जाने वाला स्थान है। इस मेरु के समान व्यास वाला तिर्यक् फैला हुआ तिर्यग्लोक है तथा मेरु के ऊपर ऊर्ध्वलोक है। मेरु की चूलिका (शिखा) चालीस योजन ऊँची है। उसके ऊपर

केवल एक बाल के अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का ऋजु नामक इन्द्रक विमान स्थित है। इसका अन्य सब वर्णन लोकनियोग ग्रंथ से जानना।

तथा नवसु ग्रैवेयकेषु शब्द कहा है, वह नव शब्द की विभक्ति अलग करने का प्रयोजन यह है कि नव ग्रैवेयकों से अलग नव विमान अनुदिश नाम के धारक है; अत: अनुदिशों का भी ग्रहण करना है। सौधर्म कल्प से लेकर अनुत्तरों तक इनके ऊपर ऊपर तरेसठ पटल हैं। वहाँ प्रथम युगल में इकतीस पटल हैं। दूसरे युगल में सात पटल हैं। तीसरे युगल में चार पटल हैं। चौथे युगल में दो पटल हैं। पांचवें युगल और छठे युगल के एक एक ही पटल है। सातवें आठवें युगल के छह पटल हैं – इस तरह स्वर्गों के बावन पटल हैं तथा नव ग्रैवेयकों के नव पटल हैं तथा एक पटल अनुदिश का एक पटल पांच अनुत्तरों का – इस तरह कुल तरेसठ पटल हैं।

आगे इन वैमानिक देवों में परस्पर के विशेष का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धिन्द्रियावधिविषयतोऽधिका: ।। ४–२० ।।

अर्थ : प्रत्येक स्वर्ग और प्रत्येक पटल के वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या, विशुद्धि, इन्द्रियों के विषय और अवधिज्ञान के विषय में अधिक अधिक हैं। अपनी आयु के उदय के कारण उस भव में शरीर सहित रहने को स्थिति कहते हैं। अन्य के उपकार तथा अपकार करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों के भोगने को सुख कहते हैं। शरीर और वस्त्र आभरण आदि की दीप्ति को द्युति कहते हैं तथा कषाय के कारण योगों की प्रवृतिरूप लेश्या है और उसकी उज्ज्वलता विशुद्धि है। तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण जानना तथा अवधिज्ञान से द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप विषय को जानना इनमें (ऊपर–ऊपर के देव) अधिक–अधिक है।

आगे जिस प्रकार स्थिति आदि में (ऊपर–ऊपर के देव) अधिक–अधिक है वैसे ही गति आदि में हीन–हीन हैं ऐसा कहते हैं –

।। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना: ।। ४–२१ ।।

अर्थ : ये वैमानिक देव गति, शरीर, परिग्रह, अभिमान इनमें ऊपर ऊपर के देव हीन अर्थात् घटते घटते हैं। एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में जाना गति है। उनके वैक्रियक शरीर कहा वह ही है। तथा लोभ कषाय के उदय से विषयों में संगति करना (की तृष्णा) परिग्रह है। तथा मान कषाय के उदय में उत्पन्न हुआ गर्व अभिमान है। इनमें ऊपर ऊपर के देव हीन हीन है। क्योंकि अन्य देशों में क्रीडा, रति की अभिलाषा तीव्र नहीं है अपने योग्य क्षेत्र में ही तृप्ति मिल जाती है, इसलिये गमन कम करते हैं। तथा शरीर सौधर्म –ऐशान के देवों का तो सात हाथ का है। सानत्कुमार माहेन्द्र के देवों का शरीर छह हाथ का है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ स्वर्गों में पांच हाथ का है। शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार में

शरीर चार हाथ का है। आनत प्राणत में साढे तीन हाथ का शरीर है। आरण अच्युत में तीन हाथ का है। अधोग्रैवेयकों में अढाई हाथ का, मध्य ग्रैवेयकों में दो हाथ का, ऊपर के ग्रैवेयकों और अनुदिशों में डेढ हाथ का शरीर है। अनुत्तरों में एक हाथ का शरीर है तथा ऊपर ऊपर के विमानों में परिग्रह अर्थात् देवांगना आदि परिवार इत्यादि ऊपर ऊपर घटते घटते है तथा कषाय भी ऊपर थोडी है; अत: अभिमान भी घटता-घटता है। यहाँ (इस मध्य लोक) से जो स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं उनके जैसे जैसे कषायों की मंदता बढती जाती है (कषाय कम होती जाती है) वैसे वैसे ऊपर ऊपर उत्पन्न होते हैं, अत: वे ही संस्कार वहाँ है; अत: ऊपर ऊपर कषाय अल्प-अल्प है।

आगे तीन निकाय के देवों की लेश्या तो पहले बता ही चुके हैं। अब वैमानिक देवों की लेश्याओं की विधि की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं -

।। पीतपद्मशुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु ।। ४-२२ ।।

अर्थ : (पहले) दो युगलों में पीत लेश्या (फिर) तीन युगलों में पद्मलेश्या तथा शेष तीन युगलों और अहमिन्द्रों के शुक्ल लेश्या है। यहाँ पहले पीत पद्म शुक्ल का द्वंद्वसमास करके पीछे ये लेश्यायें जिनके हो वे पीत पद्म शुक्ल लेश्या वाले देव हैं इस प्रकार बहुव्रीहि समास है।

यहाँ **प्रश्न :** यहाँ समास में पीत पद्म शुक्ल - इनके ह्रस्व अ कैसे हुआ ? शब्द तो पीता पद्मा शुक्ला होने चाहिये थे।

वहाँ **कहते हैं** - व्याकरण में उत्तरपद में ह्रस्व होना भी कहा है। जैसे दुती शब्द तपरकरण में है वहाँ मध्याविलंबित का उपसंख्यान है, इस ही प्रकार यहाँ भी जानना अथवा पीत, पद्म, शुक्ल-ये शब्द वर्ण सहित वस्तु के वाचक भी हैं; अत: पुरुषलिंगी है। इनकी उपमा भी इन लेश्याओं को है; अत: उपमितिसमास में ह्रस्व है ही।

इस प्रकार किस -किस को कैसी लेश्या है, यह बताते हैं - सौधर्म ऐशान स्वर्गों के देवों के पीत लेश्या का मध्यम अंश है। सानत्कुमार माहेन्द्र के देवों के पीतलेश्या है तथा वहाँ पद्म लेश्या भी है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र इन तीन युगलों में पद्म लेश्या का मध्यम अंश है। शतार और सहस्रार में पद्मलेश्या तथा शुक्ल लेश्या है। आनत आदि अनुत्तर तक के तेरह स्थानों में शुक्ल लेश्या है। वहाँ भी अनुदिश अनुत्तरों में परमशुक्ल लेश्या है।

यहाँ **प्रश्न :** सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गों में पीत पद्म दोनों लेश्यायें कहीं तथा शतार सहस्रार स्वर्गों में पद्म शुक्ल दोनों लेश्या कही; पर इस सूत्र में तो एक-एक लेश्या ही कही गयी है, तब आप दो-दो कैसे कहते हैं ?

समाधान : यहाँ साहचर्य से मुख्य है, उसको सूत्र में कहा है। उसके साथ गौण का भी ग्रहण

करना। जैसे लोक में राजा आदि छत्रधारी गमन करे, उनके साथ अन्य भी जाते हें। तब यदि कोई पूछे कौन जा रहा है ? वहाँ उत्तर दिया जाता है – छत्रधारी जा रहा है। वहाँ जो बिना छत्रवाले साथी है, वे भी समझ लिये जाते हैं। उसी प्रकार मुख्य का कथन करने पर भी गौण को भी ग्रहण किया है; अत: इस सूत्र से ऐसा जानना कि दो युगलों में पीत लेश्या कही है, वहाँ दूसरे युगल में पद्मलेश्या है तथापि गौण है; अत: उसकी विवक्षा नहीं की गयी है तथा तीन युगलों में पद्मलेश्या कही, शुक्र-महाशुक्र में शुक्ल लेश्या है तथापि गौण है, अत: उसकी विवक्षा नहीं की है तथा शेष शतार आदि में सभी के शुक्ल लेश्या कही है, वहाँ शतार सहस्रार में पद्मलेश्या है; पर गौण है अत: उसकी विवक्षा नहीं की है। इस प्रकार (उपरोक्त कथन में) दोष नहीं है।

यहाँ **कोई पूछता है** – अवसर के बिना ही लेश्या का कथन कैसे किया ?

समाधान : सूत्र को छोटा करने के लिये है। अन्य स्थल पर कथन करने पर ऐसा क्रम नहीं कहा जा सकता था; अत: यहाँ कथन किया है। लेश्याओं का निर्देश वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामित्व, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प बहुत्व – इन सोलह अनुयोगों द्वारा किया जाता है। उनका कथन तत्वार्थवार्तिक और गोम्मटसार से जानना।

आगे पूछते हैं – कल्पोपपन्ना यह पहले सूत्र में कहा था, वहाँ यह नहीं बताया कि कल्प क्या है? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा: ।। ४–२३ ।।

अर्थ : नव ग्रैवेयकों से पहले पहले के (स्वर्ग) कल्प कहे जाते है। पर इससे यह नहीं जाना गया कि कल्प कहाँ से प्रारंभ होते हैं। इसके ज्ञान के लिये सौधर्म आदि का पिछले (कुछ पहले कहे गये) सूत्र से अनुवर्तन करना है। तब ऐसा अर्थ हुआ – सौधर्म स्वर्ग से लेकर ग्रैवेयकों से पहले अर्थात् अच्युत स्वर्ग तक के स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं। इस ही से यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रैवेयक से लेकर अनुत्तर तक सब कल्पातीत है।

आगे पूछते हैं कि लौकान्तिक देव भी वैमानिक हैं, यह कैसे जाना ? तथा वे कल्पवासियों में है? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका: ।। ४–२४ ।।

अर्थ : ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवें स्वर्ग में जिनके आलय अर्थात् आवास हैं, वे लौकान्तिक हैं। जिनमें आकर रहा जाता है, उनको आलय कहा जाता है, इस प्रकार आवास संज्ञा हुई; अत: जिनका निवास ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवें स्वर्ग में है, वे लौकान्तिक है।

यहाँ **ऐसा प्रश्न** हो सकता है कि इस प्रकार तो पांचवें स्वर्ग में जितने भी देव रहते हैं, वे सभी

लौकान्तिक माने जावेंगे।

उत्तर : ऐसा नहीं है। इनका नाम सार्थक है। ब्रह्मलोक तो लोक है, उसके अंत अर्थात् किनारे पर उत्पन्न हुये हो, उन्हें लौकान्तिक कहा जाता है तथा जन्म-जरा-मरण से व्याप्त इस लोक अर्थात् संसार के अन्त को लोकान्त कहा जाता है। वह जिनके हो, उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। इस प्रकार इनका यह नाम है। इस कारण से पांचवें स्वर्ग के अन्य देवों से ये अलग है और इनका विमान ब्रह्मलोक स्वर्ग के अन्त में हैं तथा ये सभी केवल एक भव मनुष्य का प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।

आगे सामान्यरूप से कहे लौकान्तिक देवों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। सारस्वतादित्यवन्ह्यारुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।। ४-२५ ।।

अर्थ : लौकान्तिक देव आठ प्रकार के हैं। तथा च शब्द से इनके विमानों के अन्तराल में दो दो प्रकार के देव और हैं (यह ज्ञान कराया है)। ये देव कहां रहते हैं, वह बताते हैं। अरुण समुद्र में उत्पन्न मूल में संख्यात योजन विस्तार वाला तीव्र अंधकार का स्कंध है जो समुद्र की गोलाई की तरह गोल है और इसका परिणमन अंधकाररूप है, वह अनुक्रम से बढता चलता संख्यात योजन की मोटाई वाला होता हुआ पंचम स्वर्ग के पहले पटल के अरिष्ठा नामक विमान के नीचे कूकड़ा की कुटी (?) की तरह मिल गया है। ऐसे अंधकार से ऊपर अंधकार की आठ पंक्तियाँ उठी है, जो अरिष्ठा विमान से समान दूरी पर चारों दिशाओं में दो दो - ऐसे आठ तिर्यग रूप से चलती लोक के अन्त तक चली गयी है। उन अंधकार की पंक्तियों के बीच के अंतराल में सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों के विमान हैं, वहाँ ये निवास करते हैं, वह बताते हैं -

पूर्व उत्तर कोण में सारस्वतों का विमान है। देवों की संख्या सात सौ है। पूर्व दिशा में आदित्यों का विमान है, ये भी संख्या में सात सौ है। पूर्व दक्षिण कोण में वह्निदेवों का विमान है। देवों की संख्या सात हजार सात है। दक्षिण दिशा में अरुण का विमान है, इन देवों की संख्या भी सात हजार सात है। दक्षिण पश्चिम के कोण में गर्दतोयों का विमान है ये देव नव हजार नव है। पश्चिम दिशा में तुषितों का विमान है, ये देव भी नव हजार नव हैं। उत्तर पश्चिम कोण में अव्याबाधों का विमान है, जो ग्यारह हजार ग्यारह है तथा उत्तर दिशा में अरिष्ठों का विमान है, ये देव भी ग्यारह हजार ग्यारह है तथा च शब्द से सम्मिलित किये इनके अंतराल में दो दो प्रकार के देवों के समूह और है, उनका भी कथन करते हैं - सारस्वत आदित्य के अंतराल में अग्न्याभ-सूर्याभ हैं। उनमें अग्न्याभ देव तो सात हजार सात हैं, सूर्याभ देव नव हजार नव हैं तथा आदित्य वह्नि के अंतराल में चंद्राभ-सत्याभ है। उनमें से चन्द्राभ के देव ग्यारह हजार ग्यारह है और सत्याभ के देव तेरह हजार तेरह हैं तथा वह्नि अरुण के अंतराल में श्रेयस्कर क्षेमंकर हैं। श्रेयस्कर के देव पन्द्रह हजार पन्द्रह हैं और क्षेमंकर के देव सत्रह

हजार सत्रह हैं। अरुण गर्दतोय के अन्तराल में वृषभेष्ट कामचर हैं। उनमें वृषभेष्ट के देव उन्नीस हजार उन्नीस हैं और कामचर के देव इक्कीस हजार इक्कीस हैं तथा गर्दतोय तुषित के अंतराल में निर्माणरज दिगंतरक्षित हैं। उनमें निर्माणरज के देव तेबीस हजार तेबीस हैं और दिगंतरक्षित पच्चीस हजार पच्चीस हैं तथा तुषित अव्याबाध के अन्तराल में आत्मरक्षित सर्वरक्षित है। आत्मरक्षित के देव सताईस हजार सत्ताईस है और सर्वरक्षित उनतीस हजार उनतीस हैं और अव्याबाध अरिष्ट के अंतराल में मरुत वसु है। इनमें मरुत के देव इकतीस हजार इकतीस हैं और वसु के देव तेतीस हजार तेतीस हैं तथा अरिष्ट सारस्वत के अन्तराल में अश्व विश्व है। उनमें अश्वदेव पैंतीस हजार पैंतीस हैं और विश्व के देव सैंतीस हजार सैंतीस हैं। इन सब चालीस[1] प्रकार के लौकांतिक देवों की कुल संख्या चार लाख सात हजार आठ सौ छह है। सब ही स्वाधीन है, इनमें कोई हीनाधिक नहीं है तथा ये विषयों के राग से रहित है; अत: इन्हें देवर्षि भी कहते है और इस ही लिये ये अन्य देवों द्वारा पूज्य है और चौदह पूर्व के धारी हैं। तीर्थकरों के तपकल्याणकों में प्रतिबोध करने में तत्पर हैं। इनका मन निरंतर ज्ञान भावना में मन रहता है और सदा ही संसार से विरक्त है, इनका मन बारह अनुप्रेक्षाओं में प्रवर्तता है। ये सब इनके नामकर्म की प्रकृति के विशेष के उदय से उत्पन्न हैं।

आगे पूछते हैं - लौकान्तिक देव तो एक भव लेकर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं, तब क्या अन्य भी देवों के निर्वाण प्राप्ति के काल का नियम है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। विजयादिषु द्विचरमा: ।। ४-२६ ।।

अर्थ : विजय आदि चार विमान वाले तथा अनुदिश वाले देव मनुष्य के दो-दो भव लेकर मोक्ष को चले जाते हैं। यहाँ आदि शब्द प्रकार के अर्थ में है; अत: विजय वैजयंत जयंत अपराजित (ये चार अनुत्तर) और (नव) अनुदिश में स्थित देवों का ग्रहण है; क्योंकि इनमें सम्यग्दृष्टि रहित हो वे उत्पन्न नहीं होते, ऐसा अर्थ प्रकार का है।

यहाँ **कोई पूछता है** - इस प्रकार तो सर्वार्थसिद्धि (विमान) का भी ग्रहण हो जाता है।

उससे कहते हैं - नहीं होता; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव परम उत्कृष्ट है; क्योंकि इनकी संज्ञा ही सार्थक (अर्थ सहित वाली) है। ये एक ही भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा इस सूत्र में मनुष्य भव की अपेक्षा चरमत्व कहा है जो मनुष्य के दो भव ले उसे द्विचरम कहते हैं; अत: ऐसा अर्थ हुआ कि विजय आदि विमानों से चय होकर मनुष्य होकर संयम आराधकर पुन: विजय आदि में उत्पन्न हो तथा पुन: वहाँ से चय होकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करें, उन्हें द्विचरमदेहत्व है। इस तरह ग्यारह सूत्रों में वैमानिक देवों का निरूपण किया।

---

१. यहाँ ढूढारी प्रति में चालीस शब्द ही छपा है, जो चौबीस होना उचित प्रतीत होता है।

आगे पूछते हैं – जीव के औदयिक भाव बताते समय तिर्यग्योनि को औदयिकी कहा है तथा स्थिति के निरूपण में तिर्यंचों की स्थिति बताई; पर यह नहीं जाना जा सका कि ये तिर्यंच कौन है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। औपपादिकमनुष्येभ्य: शेषास्तिर्यग्योनय: ।। ४–२७ ।।

अर्थ : उपपाद जन्म वाले देव और नारकी तथा मनुष्यों के अतिरिक्त जो भी शेष रहे, वे सब तिर्यग्योनि अर्थात् तिर्यंच हैं। देव और नारकी औपपादिक (जन्म वाले) है, यह तो पहले कह ही चुके है तथा मनुष्यों का भी प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या इस सूत्र में कथन किया ही है। इनमें अन्य बाकी रहे संसारी जीव हैं, उन्हें तिर्यंच जानना। देव नारकियों की तरह इन तिर्यंचों के क्षेत्रविभाग का कथन करना चाहिये; परन्तु ये तिर्यंच जीव तो सर्व लोक व्यापी है; अत: इनके क्षेत्रविभाग का कथन नहीं किया।

यहाँ **प्रश्न :** तिर्यंचों का कथन यहाँ किया; पर इनका प्रकरण तो दूसरे अध्याय में था, वहाँ क्यों नहीं किया ?

इसका **उत्तर :** तिर्यंच लोकव्यापी है; अत: इनके प्रकरण में कथन करते तो तिर्यंचों के बहुत भेद होने से उन सबको कहना पड़ता, तब सूत्र बहुत अधिक हो जाते; अत: आधार सहित देव नारकी मनुष्य का कथन कर चुके होने पर शेष रहे वे सर्व तिर्यंच है और लोक व्यापी हैं, तब सूत्र बहुत नहीं बढे। ये तिर्यंच सूक्ष्म बादर के भेद से दो प्रकार के हैं। सूक्ष्म तो मात्र एकेन्द्रिय हैं वे सर्व लोकव्यापी है तथा बादर एकेन्द्रिय भी विकलेन्द्रिय भी और पंचेन्द्रिय भी हैं, ये सर्वत्र नहीं है, कहीं–कहीं ही है।

आगे नारकी मनुष्यों और तिर्यंचों की स्थिति का तो कथन हो चुका देवों की स्थिति नहीं बताई, उसका कथन करना चाहिये। यहाँ प्रारंभ में (देवों में) भवनवासी देव बताये, उनकी स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता: ।। ४–२८ ।।

अर्थ : असुरों से लेकर सागरोपम आदि का संबंध यथाक्रम करना। यहाँ बताई जा रही स्थिति उत्कृष्ट है, जघन्य स्थिति आगे बतावेंगे। इस प्रकार असुरकुमारों की स्थिति अर्थात् आयु एक सागर की है। नागकुमारों की आयु तीन पल्य है। शेष जो (भवनवासी) देव में सुपर्णकुमार द्वीपकुमार तथा इनके बाद भी शेष रहे, सभी की आयु आधा पल्य घटती हुई है। अर्थात् सुपर्णकुमारों की अढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य और शेष रहे हुये सभी की (अर्थात् छह कुमारों की) आयु डेढ पल्य है।

आगे क्रम के अनुसार तो व्यंतर और ज्योतिष्क देवों की स्थिति बतानी चाहिये; पर क्रम का उल्लंघन करके वैमानिक देवों की स्थिति बताते हैं; क्योंकि आगे व्यंतरों और ज्योतिष्कों की स्थिति संक्षेप में कही जा सकेगी। अत: वैमानिक देवों में पहले दो स्वर्गों की (उत्कृष्ट) स्थिति बताते हैं –

।। सौधर्मैशानयो: सागरोपमेऽधिके ।। ४-२९ ।।

अर्थ : सौधर्म और ऐशान स्वर्गों में स्थिति दो सागर से कुछ अधिक है। इस सूत्र में सागरोपमे- ऐसा द्विवचन कहा है; अत: दो सागर समझना तथा अधिक शब्द अधिकार स्वरूप है; अत: इसे सहस्रार स्वर्ग तक लगा समझना; क्योंकि आगे के सूत्र में तु शब्द है, जिससे ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार यहाँ ऐसा अर्थ हुआ कि सौधर्म ऐशान इन दो स्वर्गों में देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

आगे अगले स्वर्गों में स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। सानत्कुमार माहेन्द्रयो: सप्त ।। ४-३० ।।

अर्थ : सानत्कुमार और माहेन्द्र - इन दो स्वर्गों में सात सागर से कुछ अधिक स्थिति है।

आगे ब्रह्मलोक से लेकर अच्युत स्वर्ग तक के देवों की स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानितु ।। ४-३१ ।।

अर्थ : यहाँ पिछले सूत्र में सात सागर कहा है। इस सूत्र में तीन सप्त आदि कहे हैं, उतने सागर में जोडना है तथा पूर्व सूत्र से अधिक शब्द की अनुवृत्ति है; अत: इस सूत्र में तु शब्द से यहाँ चार युगलों तक तो कुछ अधिक लगाना और अन्त के दो युगलों में कुछ अधिक मत लगाना - ऐसा अर्थ तु शब्द से है। इस प्रकार यहाँ ऐसा अर्थ हुआ - ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर में तो सात में तीन जोड़ने पर दशसागर से कुछ अधिक स्थिति हुई। लांतव कापिष्ट में सात में सात जोड़ने पर चौदह सागर से कुछ अधिक स्थिति हुई। शुक्र महाशुक्र में सात में नव जोड़ने पर सोलह सागर से कुछ अधिक स्थिति हुई। शतार सहस्रार में सात में ग्यारह जोड़ने पर अठारह सागर से कुछ अधिक स्थिति है। आनत प्राणत में सात में तेरह जोड़ने पर बीस सागर से अधिक रहित (अर्थात बीस सागर ही) उत्कृष्ट स्थिति है। और आरण अच्युत में सात में पन्द्रह जोड़ने पर बाईस सागर स्थिति है, जो अधिकता रहित है।

आगे इनके ऊपर के देवों की स्थिति का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। आरणाच्युतादूर्ध्वमैकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। ४-३२ ।।

अर्थ : यहाँ अधिक का ग्रहण करने की अनुवृत्ति है; अत: एक-एक बढाना है। ग्रैवेयक के नव शब्द का ग्रहण एक-एक कर अलग-अलग बढना जानना। यदि नव शब्द न हो, तो ग्रैवेयकों में एक का ही बढना निश्चित होगा तथा विजयादि के आदि शब्द लगा है, जो प्रकारवाची है; अत: विजय आदि की तरह ही अनुदिश है, उनको भी शामिल करना तथा सर्वार्थसिद्धि को अलग से कहना वहाँ जघन्य स्थिति का अभाव बताने के लिये है; अत: ऐसा अर्थ हुआ - निचले (तीन) ग्रैवेयकों में पहले ग्रैवेयक में स्थिति तेबीस सागर है, दूसरे मे चौबीस सागर है, तीसरे में पच्चीस सागर है। मध्य के ग्रैवेयकों में पहले में स्थिति छब्बीस सागर, दूसरे में सताईस सागर, तीसरे में अठाईस सागर है।

ऊपर के ग्रैवेयकों में पहले में उनतीस सागर, दूसरे मे तीस सागर, तीसरे में इकतीस सागर है। (सभी) अनुदिश विमानों में स्थिति बत्तीस सागर है। विजय आदि (अनुत्तर) विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। सर्वार्थसिद्धि में स्थिति तेतीस सागर ही है, जघन्य नहीं है।

आगे जिन देवों की उत्कृष्ट स्थिति ऊपर बताई, उनकी जघन्य स्थिति (आयु) कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। अपरा पल्योपममधिकम ।। ४–३३ ।।

अर्थ : अपरा अर्थात् जघन्य स्थिति। सौधर्म ऐशान स्वर्गों के देवों की जघन्य स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है।

प्रश्न : सूत्र से यह कैसे जाना ?

उत्तर : अगले सूत्र में परत: परत: कहा है; अत: यहाँ सौधर्म ऐशान का कथन है, यह जाना जाता है।

आगे इसके ऊपर के स्वर्गों में जघन्य स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। परत: परत: पूर्वापूर्वानन्तरा: ।। ४–३४ ।।

अर्थ : यहाँ परत: परत: सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है (अर्थात् इसका अर्थ पर स्थान है) तथा इसे बार–बार कहना इसके लिये इसे दो बार कहा है तथा पूर्व शब्द का भी द्वित्व किया (दो बार कहा) है और अधिक की यहाँ अनुवृति है; अत: ऐसा अर्थ हुआ – सौधर्म ऐशान स्वर्गों में स्थिति दो सागर से कुछ अधिक कही है; अत: इनसे आगे सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गों में जघन्य स्थिति दो सागर से कुछ अधिक है तथा सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गों में उत्कृष्ट स्थिति सात सागर से कुछ अधिक है; अत: यही ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गों में जघन्य स्थिति है। इसी तरह विजय आदि अनुत्तरों तक जानना। अनन्तर शब्द उससे लगती पहले पहले का ज्ञान कराता है।

आगे नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति तो पहले बतायी थी; पर जघन्य स्थिति नहीं बताई थी, पर यहाँ उसका प्रकरण भी नहीं है, फिर भी पिछले सूत्र से क्रम से कम अक्षरों में कहा जा सकने के कारण उसे कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नारकाणां च द्वितीयादिषु ।। ४–३५ ।।

अर्थ : यहाँ च शब्द है, वह इससे पहले कहे गये सूत्र का समुच्चय करने के अर्थ में है; अत: अर्थ इस प्रकार होता है – रत्नप्रभा नरक में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर कही थी, वह बालुकाप्रभा की जघन्य स्थिति है। इसी तरह सातवीं पृथ्वी महातमप्रभा तक समझना।

आगे पूछते हैं – दूसरी आदि पृथ्वियों की जघन्य स्थिति बताई, तब पहली पृथ्वी की जघन्य

स्थिति कितनी है ? ऐसा पूछने पर उसे बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।। ४–३६ ।।

अर्थ : यहाँ अपरा शब्द की अनुवृत्ति है; अत: जघन्य स्थिति समझना। इस प्रकार पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकियों की जघन्य स्थिति दशहजार वर्ष की है।

आगे भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। भवनेषु च ।। ४–३७ ।।

अर्थ : यहाँ च शब्द पिछले सूत्र में बताई स्थिति का समुच्चय करता है; अत: ऐसा अर्थ है – भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति भी दशहजार वर्ष की है ऐसा जानना।

आगे व्यंतर देवों की जघन्य स्थिति क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। व्यंतराणां च ।। ४–३८ ।।

अर्थ : यहाँ भी च शब्द से पूर्व सूत्र में बताई स्थिति का समुच्चय होता है; अत: व्यंतर देवों की भी जघन्य स्थिति दशहजार वर्ष की जानना।

आगे व्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। अपरा पल्योपममधिकम् ।। ४–३९ ।।

अर्थ : व्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है।

आगे ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट स्थिति कहने योग्य (क्या) है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। ज्योतिष्काणां च ।। ४–४० ।।

अर्थ : यहाँ भी च शब्द पिछले सूत्र में बताई गयी स्थिति का समुच्चय करता है; अत: ज्योतिषी देवों की आयु भी एक पल्य से कुछ अधिक है।

आगे ज्योतिष देवों की जघन्य स्थिति क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तदष्टभागोऽपरा ।। ४–४१ ।।

अर्थ : ज्योतिषी देवों की जघन्य स्थिति उस पल्य के आठवें भाग है।

यहाँ अधिक बताई थी, उसका विशेष कथन करते हैं। उत्कृष्ट स्थिति में जो कुछ अधिक कहा है तो उत्कृष्ट स्थिति से कितनी अधिक है, वह बताते है। चन्द्रमा की तो एक लाख वर्ष अधिक है। सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक है। शुक्र की एक सौ वर्ष अधिक है। बृहस्पति की एक पल्य ही है, अधिक नहीं है। अन्य ग्रहों की उत्कृष्ट आयु आधा पल्य ही है। नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु भी आधा पल्य ही है। तारों की उत्कृष्ट आयु पल्य का चौथा भाग है तथा चन्द्रमा, सूर्य आदि की जघन्य स्थिति तो पल्य का चौथा भाग है। तारों और नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्य का आठवां भाग है।

- कोई पूछता है – लौकान्तिक देवों की स्थिति नहीं बताई, वह कितनी है ? तब कहते हैं –

।। लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।। ४–४२ ।।

अर्थ : सर्व ही लौकान्तिक देवों की स्थिति आठ सागर है। वे सब ही बराबर के हैं, सभी को शुक्ल लेश्या है और सब ही का शरीर पांच हाथ का है।

यहाँ कोई **तर्क** करता है – प्राणियों की स्थिति कर्म की विचित्रता से हीनाधिक होती है, ऐसा कहा जाता है, तब जैसे घट आदि वस्तुओं की स्थिति कर्म की अपेक्षा के बिना है, वैसे ही इनकी भी है, ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान : घट आदि वस्तु तो पुद्गल द्रव्य है, उनके कर्म का बंध और उदय नहीं है। उनकी भी स्थिति प्राणियों के कर्म के उदय के अनुसार है, यदि ऐसा नहीं माना जावेगा तो समान कारण से उत्पन्न, समान काल में उत्पन्न, समान क्षेत्र में उत्पन्न जिनका आधार भी समान है, ऐसे घटों की स्थिति समान होनी चाहिये। पर होती नहीं है; अत: उनकी भी स्थिति घट आदि को भोगने वाले प्राणी के कर्म के उदय के अनुसार है। वस्तु का स्वभाव निमित्त नैमित्तिकरूप है।

इस प्रकार जीव पदार्थ के स्वरूप में संसारी जीवों के स्वरूप का कथन किया। पहले अध्याय में प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुयोगों का स्वरूप कहकर द्वितीय अध्याय में जीव पदार्थ का स्वरूप पांच भाव आदि रूप कहा। तीसरे, चौथे अध्याय में जीवों के आधार आदि विशेष का निरूपण किया; क्योंकि जीव पदार्थ एक ही अनेक स्वरूप है; अत: द्रव्य पर्यायों रूप सर्व ही अवस्थायें इसमें निर्बाध संभव है। कुछ अन्यवादी जीव को एक रूप ही मानते हैं तथा कुछ अनेकरूप ही मानते हैं, वहाँ जीव पदार्थ का ऐसा (एकान्त) स्वरूप प्रमाण से बाधित है।

अब एक ही जीव नानास्वरूप किस प्रकार है, वह बताते है – भावरूप (अस्तित्व रखने वाला) पदार्थ अनेक रूप है; क्योंकि भाव है वह अभाव से विलक्षण (भिन्न लक्षण वाला) है। अभाव तो सदा एकरूप है; अत: भाव को अनेक रूप नहीं माना जावे तो भाव अभाव में विशेष (भेद) नहीं कहा जा सकेगा। ऐसा भाव छह प्रकार का है – जन्म, अस्तित्व, निवृत्ति, वृद्धि, अपक्षय, विनाश। उनमें बाह्यान्तर कारणों के वश वस्तु का उत्पन्न होना जन्म है, जैसे स्वर्ण कड़े रूप उत्पन्न हुआ तथा मनुष्य गति नामकर्म के उदय से जीव मनुष्य हुआ और अपने निमित्त के वश से वस्तु का अवस्थान रहना (बने रहना) अस्तित्व है। ऐसा अस्तित्व है सो शब्द के तथा ज्ञान के गोचर है। इस तरह मनुष्य आदि आयुकर्म के उदय से जीव मनुष्य आदि पर्यायों में अस्तित्व स्वरूप (बना) रहता है तथा सत् के अवस्थान्तर की प्राप्ति (एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप होने) को निवृत्ति कहते है, इसे परिणाम भी

कहते हैं तथा पिछले स्वभाव से अनुक्रम से बढने को वृद्धि कहते हैं और पिछले स्वभाव से अनुक्रम से घटने को अपक्षय कहते हैं तथा पर्याय सामान्य का अभाव होने को विनाश कहते हैं। इस प्रकार भाव है, वह ही क्षण-क्षण में अनेकरूप होता है। यदि सर्वथा ही अभाव को ऐसा न माना जावे तो सिद्धि होती नहीं। यदि सर्वथा रूप से सत् को नित्य माना जावे, तो जन्म आदि जो प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं उसमें विरोध आवेगा। इत्यादि युक्तियों से सर्वथा एकान्त पक्ष सब ही बाधित है।

इस ही तरह अनेक वचन तथा अनेक ज्ञान के विषयपणे से भी भावरूप जीव नामक पदार्थ एक ही है, वह अनेक रूप है, वचन से अनेक रूप कहा जाता है, ज्ञान से अनेक रूप जाना जाता है, अनेक शक्तियों सहित है; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से जो अनेक अवस्थायें होती हैं, वे बहुशक्तिरूप है, तभी हो सकती है। इस प्रकार भी एक है, वह अनेकरूप है तथा अन्य वस्तु के संबंध से भी अनेक रूप होता है। जैसे कर्म के संबंध से जीव जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान रूप है, उसी प्रकार अन्य की अपेक्षा से व्यक्त हुये भावों के घटने बढने से अनेक रूप है तथा अतीत अनागत वर्तमानकाल के संबंध से अनेक प्रकार है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से भी अनेकरूप है।

तथा अन्वय व्यतिरेकपणे से अनेक प्रकार है। अन्वय तो गुण के आश्रित है और व्यतिरेक पर्याय के आश्रित है। इस प्रकार एक-अनेक स्वरूप जीव नामक पदार्थ है, वह शब्द से कहा जावे तब सकलादेश विकलादेश से दो प्रकार से कथन किया जाता है। इनमें सकलादेश को तो प्रमाण कहते हैं और विकलादेश को नय कहते हैं। उनमें पहले अध्याय में पहले कहे जा चुके काल आदि आठ भावों से अभेद वृत्ति अभेद उपचार तथा भेद वृत्ति भेदोपचार से द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों को प्रधान और गौण करके कथन किया जाता है। उसके सात भंग - अस्ति नास्ति आदि हैं, उन्हें पहले अध्याय में उदाहरण सहित कहा है, वहां से जान लेना।

यहाँ कोई वादी **तर्क** करता है - वस्तु एक भी है, अनेक भी है, इस प्रकार तो विरोध नामक दूषण आता है।

समाधान : विरोध तीन प्रकार का है - वध्यघातक स्वभावरूप, सहानवस्थानरूप, प्रतिबंध्यप्रतिबंधक स्वरूप। उनमें से नेवले और सर्प के, जल और अग्नि के तो **वध्यघातक स्वभाव** रूप विरोध है। ये तो एक काल में विद्यमान हो और उनका संयोग हो तब होता है। इनमें से जो बलवान होता है, वह निर्बल को बांध लेता है। पर यहाँ अस्ति नास्ति एक ही वस्तु में होते है और समान बल वाले हैं। समान बल वालों में वध्यघातक विरोध संभव होता नहीं तथा **सहानवस्थान लक्षण** विरोध आम के फल के हरेपन और पीतपन में है। दोनों वर्ण एक साथ हो सकते नहीं। एक वस्तु में एक ही